श्री चन्द्रप्रभ स्तवन

चन्द्रप्रभ चन्द्रमरीचि गौर चन्द्र, द्वितीयम् जगतीव कान्तम्।
बन्देऽभिवन्द्य महता मृषीन्द्र, जिन जितस्वान्त कषाय बन्धम्।।
स चन्द्रमा भव्य कुमुद्वतीना, विपन्न दोषाभ्र कलक लेप·।
व्याकोशवाङ् न्याय मयूख माल., पूयात्पवित्रो भगवान मनो मे।।

प्रकाशक एव प्राप्तिस्थान
श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र
देहरा तिजारा ३०१४११ (अलवर-राजस्थान)

श्रीयतिवृषभाचार्यविरचित

तिलोयपण्णत्ती – प्रथम खण्ड

(प्रथम तीन महाधिकार)

❒

पुरोवाक्

डॉ॰ पन्नालाल जैन साहित्याचार्य

❒

भाषाटीका

आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी

❒

सम्पादन

डॉ० चेतनप्रकाश पाटनी जोधपुर (राज.)

❒

प्रकाशक एवं प्राप्तिस्थान

श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र

देहरा-तिजारा ३०१४११ (अलवर राजस्थान)

❒

मूल्य-१००/-

❒

तृतीय संस्करण

ई. सन् १९९७ | वीर निर्वाण संवत् २५२३ | [illegible]

❒

ऑफ्सैट मुद्रक

शकुन प्रिंटर्स, ३६२५, सुभाष मार्ग, नई दिल्ली ११०००२

श्री १००८ भगवान चन्द्रप्रभ की पावन प्रतिमा दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा

चारित्र चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी

परमपूज्य आचार्य श्री वीरसागर जी

परमपूज्य आचार्य श्री शिवसागर जी

परमपूज्य आचार्य श्री धर्मसागर जी

परमपूज्य आचार्य श्री अजितसागर जी

परमपूज्य आचार्य श्री वर्द्धमानसागर जी

परमपूज्य आचार्य श्री सुमतिसागर जी

परमपूज्य उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी

प्रकाशकीय

जैन धर्म और जैन वाङ्मय के इतिहास का समीचीन ज्ञान प्राप्त करने के लिए लोक विवरण सम्बधी ग्रन्थ भी उतने ही महत्वपूर्ण है जितने अन्य आगम। "तिलोयपण्णत्ती" इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। पूज्य आचार्य यतिवृषभजी महाराज की यह अमर कृति है। पूज्य आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमति माताजी की हिन्दी टीका ने इस ग्रन्थ की उपयोगिता को और बढा दिया है। इस ग्रन्थ के तीनो खण्डो का प्रकाशन क्रमश १९८४, १९८६ व १९८८ मे श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा ने किया था।

ग्रन्थ का सम्पादन डा चेतनप्रकाशजी पाटनी ने कुशलतापूर्वक किया है। गणित के प्रसिद्ध विद्वान् प्रो लक्ष्मीचन्द्रजी ने गणित की विविध धाराओ को स्पष्ट किया है। डा पन्नालालजी साहित्याचार्य ने इसका पुरोवाक लिखा है। माताजी के संघस्थ ब्र कजोडीमलजी कामदार ने प्रथम संस्करण के समय मे सराहनीय सहयोग किया था।

हमारे सौभाग्य से श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र पर उपाध्याय मुनि श्री ज्ञानसागर जी महाराज का [illegible] पदार्पण हुआ और उनके पावन सान्निध्य मे क्षेत्र पर मान स्तम्भ प्रतिष्ठा एव श्री सिद्धचक्र [illegible] सम्पन्न हुआ। इसी अवसर पर उपाध्याय मुनिश्री १०८ ज्ञानसागर जी महाराज की प्रेरणा से प्रस्तुत संस्करण का प्रकाशन करना सम्भव हुआ। यह संस्करण शकुन प्रिन्टर्स नई दिल्ली मे आफसेट विधि से मुद्रित हुआ ताकि पुन कम्पोज की अशुद्धियो से बचा जा सके।

क्षेत्र कमेटी ग्रन्थ प्रकाशन की प्रक्रिया मे संलग्न सभी त्यागीगण व विद्वानो की हृदय से आभारी है-- विशेष रूप से हम पूज्य उपाध्याय श्री ज्ञान सागर जी महाराज के ऋणी है जिनकी प्रेरणा से प्रस्तुत ग्रन्थ प्रकाशित हो सका है। हम भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षणी) महासभा के सम्मानित अध्यक्ष श्री निर्मलकुमार जी सेठी के आभारी है जिन्होने ग्रन्थ का संस्करण करने की अनुमति प्रदान की है। इस महासभा के राष्ट्रीय उपाध्यक्ष श्री नीरजजी जैन के भी आभारी है जिन्होने इस संस्करण की संयोजना से लेकर अनुमति दिलाने तक हमारा सहयोग किया। हमे पूर्ण आशा है कि ग्रन्थ के पुनर्प्रकाशन से जिज्ञासु महानुभाव इसका पूरा-पूरा लाभ उठा सकेगे।

—तुलाराम जैन
अध्यक्ष, श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर
जैन अतिशय क्षेत्र
देहरा-तिजारा (अलवर)

श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा

एक परिचय

चौबीस तीर्थंकरों मे आठवे भगवान चन्द्रप्रभ का नाम चमत्कारो की दुनियॉ मे अग्रणी रहा है। इसलिए सदैव ही विशेष रूप से वे जन-जन की आस्था का केन्द्र रहे है। राजस्थान मे यू तो अनेक जगह जिनबिम्ब भूमि से प्रकट हुए हैं, परन्तु अलवर जिले मे तिजारा नाम अत्यन्त प्राचीन है जहॉ भगवान चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रगट हुई है तब से "देहरा" शब्द तिजारा के साथ लगने लगा है, और अब तो "देहरा" तिजारा का पर्याय ही बन गया है। "देहरा" शब्द का अर्थ सभी दृष्टियो से देव स्थान, देवहरा, देवरा या देवद्वार कोषकारों ने अकित किया है। इनके अनुसार देहरा वह मन्दिर है जहॉ जैनो द्वारा मूर्तियाँ पूजी जाती है। (A Place where idols are worshipped by Jains)

देहरे का उपलब्ध वृतान्त, जुडी हुई अनुश्रुतियॉ साथ ही जैन समुदाय का जिनालय विषयक विश्वास इस स्थान के प्रति निरतर जिज्ञासु बनता जा रहा था। सौभाग्य से सन् १९४४ मे प्रज्ञाचक्षु श्री धर्मपाल जी जैन खेकडा (मेरठ) निवासी तिजारा पधारे। इस स्थान के प्रति उनकी भविष्यवाणी ने भी पूर्व मे स्थापित सभावना को पुष्ट ही किया। इस स्थान पर अवशिष्ट खडहरो में उन्हे जिनालय की सभावना दिखाई दी। किन्तु उनका मत था कि "वर्तमान अग्रेजी शासन परिवर्तन के पश्चात् स्वय ऐसे कारण बनेगे, जिनसे कि इस खण्डहर से जिनेन्द्र भगवान की मूर्तियॉ प्रकट होगी।"

देश की स्वतत्रता के बाद तिजारा मे स्थानीय निकाय के रूप मे नगर पालिका का गठन हुआ। जुलाई १९५६ मे नगर पालिका ने इस नगर की छोटी व सकरी सडको को चौडा कराने का कार्य प्रारम्भ किया। वर्तमान मे, जहा देहरा मदिर स्थित है, यह स्थान भी ऊबड-खाबड था। हा निकट ही एक खण्डहर अवश्य था। उस खण्डहर के निकट टीले से जब मजदूर मिट्टी खोदकर सडक के किनारे डाल रहे थे तो अचानक नीचे कुछ दीवारे नजर आई। धीरे-धीरे खुदाई करने पर एक पुराना तहखाना दृष्टिगोचर हुआ। इसे देखते ही देहरे से जुडी हुई तमाम जनश्रुतिया, प्राचीन इतिहास और उस नेत्रहीन भविष्यवक्ता के शब्द क्रमश स्मरण हो आये। जैन समाज ने इस स्थान की खुदाई कराकर सदा से अनुत्तरित कुतूहल को शान्त करने का निर्णय किया।

जब प्रतिमाए मिलीं

राज्य अधिकारियो की देख-रेख मे यहा खुदाई का कार्य प्रारम्भ किया गया। स्थानीय नगर पालिका ने जन भावना को दृष्टि में रखते हुए आर्थिक व्यवस्था की, किन्तु दो-तीन दिन निरन्तर उत्खनन के बाद भी आशा की कोई किरण दिखाई नही दी। निराशा के अधकार मे सरकार की ओर से खुदाई बन्द होना स्वभाविक था किन्तु जैन समाज की आस्था अन्धकार के पीछे प्रकाश पुज को देख रही थी, अत उसी दिन दिनाक २०-७-१९५५ को स्थानीय जैन समाज ने द्रव्य की व्यवस्था कर खुदाई का कार्य जारी रखा। गर्भगृह को पहले ही खोदा जा चुका था। आस-पास खुदाई की गई, किन्तु निरन्तर असफलता ही हाथ लगी। पर आस्था भी अपनी परीक्षा देने को कटिबद्ध थी। इसी बीच निकट के कस्बा

नगीना जिला गुडगावा से दो श्रावक श्री झब्बूराम जी व मिश्रीलाल जी यहा पधारे। उन्होने यहा जाप करवाये। मत्र की शक्ति ने आस्था को और बल प्रदान किया। परिणामस्वरूप रात्रि को प्रतिमाओ के मिलने के स्थान का संकेत स्वप्न से प्रत्यक्ष हुआ। संकेत से उत्खनन को दिशा प्राप्त हुई। बिखरता हुआ कार्य सिमट कर केन्द्रीभूत हो गया। साकेतिक स्थान पर खुदाई शुरु की गई। निरतर खुदाई के बाद गहरे भूरे रंग का पाषाण उभरता सा प्रतीत हुआ। खुदाई की सावधानी मे प्रस्तर मात्र प्रतीत होने वाला रूप क्रमश आकार लेने लगा। आस्था और घनीभूत हो गई, पर जैसे स्वय प्रभु वहा आस्था को परख रहे थे, प्रतिमा मिली अवश्य किन्तु स्वरूप खंडित था। आराधना की शक्ति एक निष्ठ नहीं हो पाई थी। मिति श्रावण शुक्ला ५ वि स २०१३ तदानुसार दिनांक १२-८-५६ई रविवार को तीन खण्डित मूर्तियां प्राप्त हुई थीं। जिन पर प्राचीन लिपि मे कुछ अकित है। जिन्हे अभी तक पढा नही जा सका है। हा मूर्तियों के सूक्ष्म अध्ययन से इतना प्रतीत अवश्य होता है कि ये मौर्यकाल की है। इन मूर्तियो के केन्द्र मे मुख्य प्रतिमा उत्कीर्ण कर पार्श्व मे यक्ष यक्षणी उत्कीर्ण किये हुए हं। तपस्या की परम्परागत मुद्रा केश राशि और आसन पर उत्कीर्ण वित्र इन्हें जैन मूर्तियॉ सिद्ध करते है। एक मूर्ति समूह के पार्श्व मे दोनो ओर पद्मासन मुद्रा मे मुख्य विम्ब की तुलना मे छोटे बिम्ब है। लाली के श्यामल पत्थर से निर्मित इन मूर्ति समूहो का सूक्ष्म अध्ययन करने से क्षेत्र के ऐतिहासिक वेभव पर प्रकाश पड सकता है।

इन खण्डित मूर्तियो से एक चमत्कारिक घटना भी जुडी हुई है। जिस समय उक्त टीले पर खुदाई चल रही थी, स्थानीय कुम्हार टीले से निकली मिट्टी को दूर ले जाकर डाल रहे थे। कार्य की काल-गत दीर्घता मे असावधानी सम्भव थी और इसी असावधानी मे कुम्हार किसी प्रतिमा का शीर्ष भाग भी मिट्टी के साथ कूड़े मे डाल आया था। असावधानी मे हुई त्रुटि ने उसे रात्रि भर सोने नहीं दिया। उस अदृश्य शक्ति से स्वप्न मे साक्षात्कार कर कुम्हार को बोध हुआ, और वह भी "मुँह अधेरे" मिट्टी खोजने लगा। अन्तत खोजकर वह प्रतिमा का शीर्ष भाग निश्चित हाथो मे सौपकर चैन पा सका।

स्वप्न साकार हुआ

आस्था के अनुरूप खण्डित मूर्तियों की प्राप्ति शीर्ष भाग का चमत्कार, मिट्टी मे दबे भवन के अवशेष जैन समुदाय को और आशान्वित बना रहे थे। उत्साह के साथ खुदाई मे तेजी आई किन्तु तीन दिन के कठिन परिश्रम के पश्चात् भी कुछ हाथ नहीं लगा। आशा की जो भीनी किरण पूर्व मे दिखलाई दी थी वह पुन अन्धकार मे विलीन होने लगी। एक बार समाज की प्रतिष्ठा मानो दाव पर लग गई थी। भक्त मन आस्था के अदृश्य स्वर का आग्रह मानों सर्वत्र निराशा के बादलो को घना करता जा रहा था। समाज की ही एक महिला श्रीमती सरस्वती देवी धर्म पत्नी श्री बिहारी लाल जी वैद्य ने खडित बिम्बो की प्राप्ति के बाद से ही अन्न जल का त्याग किया हुआ था। उनकी साधना ने जैसे असफलताओ को चुनौती दे रखी थी। आस्था खडित से अखडित का सन्धान कर रही थी। साधना और आस्था की परीक्षा थी। तीन दिन बीत चुके थे। श्रावण शुक्ला नवमी की रात्रि गाढी होती जा रही थी। चन्द्र का उत्तरोत्तर

बढता प्रकाश अधकार को लीलने का प्रयास कर रहा था। मध्य रात्रि को उन्हें स्वप्न हुआ और भगवान की मूर्ति दबी होने के निश्चित स्थान व सीमा का सकेत मिला। संकेत पूर्व में अन्यान्य व्यक्तियों को मिले थे, किन्तु तीन दिन की मनसा, वाचा, कर्मणा साधनों ने सकेत की निश्चित्तता को दृढ़ता दी। रात्रि को लगभग एक बजे वह उठी और श्रद्धापूर्वक उसी स्थान को दीपक से प्रकाशित कर आई। अन्त प्रकाशमान उस स्थल को वहिर्दीप्ति मिली। नये दिन यानी १६-८-५६ को निर्दिष्ट स्थान पर खुदाई शुरु की गई।

स्वप्न का संकेत एक बार फिर सजीवनी बन गया। श्री रामदत्ता मजदूर नई आशा व उल्लास से इस सधान में जुट गया। उपस्थित जन समुदाय रात्रि के स्वप्न के प्रति विश्वास पूर्वक वसुधा की गहनता और गम्भीरता के जैसे पल-पल दोलायमान चित्त से देख रहा था। मन इस बात के लिये क्रमश तैयार हो रहा था कि यदि प्रतिमा न मिली तो सभवत खुदाई बन्द करनी पडे, किन्तु आस्था अक्षय कोष से निरतर पाथेय जुटा रही थी जिसका परिणाम भी मिला। उसी दिन अर्थात् श्रावण शुक्ला दशमी गुरुवार स २०१३ दिनाक १६-८-१९५६ को मिट्टी की पवित्रता से श्वेत पाषाण की मूर्ति उभरने लगी। खुदाई मे सावधानी आती गई। हर्षातिरेक में जन समूह भाव विह्वल हो गया। देवगण भी इस अद्भुत प्राप्ति को प्रमुदित मन मानो स्वय दर्शन करने चले आये। मध्यान्ह के ११ बजकर ५५ मिनट हुए थे रिक्त आकश मे मेघ माला उदित हुई। धारासार वर्षा से इन्द्र ने ही सर्वप्रथम प्रभु का अभिषेक किया। प्रतिमा प्राप्ति से जन समुदाय का मन तो पहिले ही भीग चुका था अब तन भी भीग गया। प्रतिमा पर अंकित लेख भी क्रमश स्पष्ट होने लगा। जिसे पढकर स्पष्ट हुआ कि यह प्रतिमा सम्वत् १५५४ की है। जैनागम मे निर्दिष्ट चन्द्र के चिन्ह से ज्ञात हुआ कि यह जिन बिम्ब जैन आम्नाय के अष्टम तीर्थकर चन्द्रप्रभ स्वामी का है। लगभग एक फुट तीन इंच ऊँची श्वेत पाषाण की यह प्रतिमा पद्मासन मुद्रा मे थी। प्रभु की वीतरागी गभीरता मानो जन जन को त्याग और सयम का उपदेश देने के लिये स्वय प्रस्तुत हो गई थी। प्रतिमा पर अंकित लेख इस प्रकार है।

"सं. १५५४ वर्षे बैसाख सुदी ३ श्री काष्ठासंघ, पुष्करमठो भ. श्री मलय कीर्ति देवा, तत्पट्टे भ. श्री गुण भद्र देव तदाम्नाये गोयल गोत्रे सं मंकणसी भार्या होलाही पुत्र तोला भा तरी पुत्र ३ गजाधरू जिनदत्त तिलोक चन्द एतेषां मध्ये स. तोला तेन इदम् चन्द्रप्रभं प्रति वापितम।"

प्रतिमा की प्राप्ति ने नगर में मानो जान फूंक दी। भूगर्भ से जिन बिम्ब की प्राप्ति का उल्लास बिखर पडा। तत्काल टीन का अस्थायी सा मडप बनाकर प्रभु को काष्ठ सिहासन पर विराजमान किया गया। श्वेत उज्जवल रश्मि ने अधकार मे नया आलोक भर दिया।

मंदिर निर्माण की भावना

श्वेत पाषाण प्रतिमा जी के प्रकट होने के पश्चात् उनके पूजा स्थान के क्रम मे विभिन्न विचार धारायें सामने आने लगी। नवीनता के समर्थक युवको का विचार था कि प्रतिमा जी को कस्बे के पुराने जिन मदिर में विराजमान कर दिया जावे; क्योकि वर्तमान दौर मे नवीन पूजा गृहो की निर्मिति कराने की अपेक्षा पारपरित मंदिरो का सरक्षण अधिक आवश्यक है। उनका कहना था कि बदलती हुई परिस्थितियो

में नये सिरे से मंदिर के निर्माण की अपेक्षा शिक्षा, चिकित्सा आदि क्षेत्रों में प्रयास करने की अधिक आवश्यकता है। पूजा गृहो के निर्माण से पूर्व पूजको मे आस्था बनाये रखने के लिऐ जैन शिक्षण सस्थानो की स्थापना ज्यादा उपयोगी व युग सापेक्ष्य होगी। लेकिन कुछ भाइयों का विचार था कि इसी स्थान पर मंदिर बनवाया जावे जहां प्रतिमा प्रकट हुई है। दोनों प्रकार की विचार धारायें किसी भी निर्णय पर नहीं पहुच पा रही थी। असमजस की सी स्थिति थी कि प्रतिमा जी की रक्षक दैवी शक्तियों ने चमत्कार दिखाना आरम्भ कर दिया।

पुणयोदय से चमत्कार

प्रतिमा प्रकट होने के दो तीन दिन पश्चात् ही एक अजैन महिला ने भगवान के दरबार में सिर घुमाना शुरु कर दिया। बाल खोले, सिर घुमाती यह महिला निरतर देहरे वाले बाबा की जय घोष कर रही थी। व्यतर बाधा से पीडित यह महिला इससे पूर्व जिन बिम्ब के प्रति आस्था शील भी न रही थी, किन्तु धर्म की रेखा जाति आदि से न जुडकर मानव मात्र के कल्याण से जुडी हुई है। जिसमे प्राणी मात्र का सकट दूर करने की भावना है। बाबा चन्द्रप्रभ स्वामी के दरबार मे महिला के मानस को आक्रान्त करने वाली उस प्रेत छाया (व्यतर) ने अपना पूरा परिचय दिया और बतलाया कि वह किस प्रकार उसके साथ लगी, और क्या क्या कष्ट दिये। अन्त मे तीन दिन पश्चात् क्षेत्र के महातिशय के प्रभाव से व्यतर ने सदा के लिये रोगी को अपने चगुल से मुक्त किया, और स्वय भी प्रभु के चरणो मे शेष काल व्यतीत करने की प्रतिज्ञा की। भूत प्रेत से सम्बन्धित यह घटना मानसिक विक्षिप्तता कहकर सदेह की दृष्टि से देखी जा सकती थी, किन्तु ऐसे रोगियो का आना धीरे-धीरे बढता गया, तो विक्षिप्तता न मानकर प्रेत शक्ति की स्थिति स्वीकारने को मस्तिष्क प्रस्तुत हो गया। वैसे भी जैनागम व्यतर देवो की अवस्थिति स्वीकार करता है। वर्तमान मे विज्ञान भी मनुष्य मन को आक्रान्त करने वाली परा शक्तियो की स्थिति स्वीकार कर चुका है।

क्षेत्र पर रोगियो की बढती संख्या और उनकी आस्था से निष्पन्न आध्यात्मिक चिकित्सा ने इसी स्थल पर मंदिर बनवाने की भावना को शक्ति दी। क्षेत्र की अतिशयता व्यंतर बाधाओ के निवारण के अतिरिक्त अन्य बाधाओ की फलदायिका भी बनी। श्रृद्धालु एव अटूट विश्वास धारियो की विविध मनोकामनाए पूर्ण होने लगीं। इन चमत्कारो ने जनता की नूतन मंदिर निर्माण की आकांक्षा को पुंजीभूत किया। फलत २६-८-१९५६ को तिजारा दिगम्बर जैन समाज की आम सभा में सर्व सम्मति से यह निर्णय हुआ कि इसी स्थान पर मदिर का नव निर्माण कराया जावे। मंदिर निर्माण हेतु जैन समाज ने द्रव्य सग्रह किया और मंदिर के निर्माण का कार्य प्रारम्भ हुआ।

मंदिर निर्माण

वर्तमान मे जहा दोहरा मदिर स्थित है इस भूमि पर कस्टोडियन विभाग का अधिकार था। बिना भूमि की प्राप्ति के मदिर निर्माण होना असम्भव था। समाज की इच्छा थी कि अन्यत्र नया मदिर बनाने की बजाय प्रतिमा के प्रकट स्थान पर ही मंदिर निर्माण उचित होगा अत· इसकी प्राप्ति के लिये काफी

प्रयत्न किये गये। अन्तत श्री हुकमचन्द जी लुहाडिया अजमेर वालों ने कस्टोडियन विभाग मे अपेक्षित राशि जमा कराकर अपने सद् प्रयत्नो से १२००० वर्ग गज भूमि मंदिर के लिये प्रदान की।

भूमि की प्राप्ति के पश्चात् मदिर भवन के शिलान्यास हेतु शुभ मुहुर्त निकलवाया गया। मदिर शिलान्यास के उपलक्ष्य में त्रिदिवसीय रथयात्रा का विशाल आयोजन २३ से २५ नवम्बर १९६१ को किया गया था। भगवान चन्द्रप्रभ स्वामी की अतिशय चमत्कारी प्रतिमा की प्राप्ति के बाद यह पहला बडा आयोजन किया गया। दिनांक २४ नवम्बर १९६१ मध्यान्ह के समय शिलान्यास का कार्य पूज्य भट्टारक श्री देवेन्द्र कीर्ति जी गढी नागौर के सान्निध्य मे दिल्ली निवासी रायसाहब बाबू उल्फत राय जैन के द्वारा सम्पन्न हुआ।

मंदिर का उभरता स्वरूप

नव मंदिर शिलान्यास के साथ ही मंदिर निर्माण का कार्य शुरु हो गया। दानी महानुभावो के निरतर सहयोग से सपाट जमीन पर मंदिर का स्वरूप उभरने लगा। मूल नायक चन्द्रप्रभ स्वामी की प्रतिमा को विराजित करने के लिए मुख्य वेदी के निर्माण के साथ दोनो पार्श्वो में दो अन्य कक्षों का निर्माण कराया गया। शनै शनै निर्माण पूरा होने लगा। २२ वर्ष के दीर्घ अन्तराल मे अनेक उतार चढावो के बावजूद नव निर्मित मदिर का कार्य पूर्णता पाने लगा। मुख्य वेदी पर ५२ फुट ऊचे शिखर का निर्माण किया गया। मदिर के स्थापत्य को सवारने मे शिल्पी धनजी भाई गुजरात वालो ने कहीं मेहराबदार दरवाजा बनाया तो कहीं प्राचीन स्थापत्य की रक्षा करते हुए वैदिक शैली का उपयोग किया। शिखर मे भी गुम्बद के स्थान पर अष्ट भुजी रूप को महत्ता दी। मदिर की विशालता का अनुमान एसी से लगाया जा सकता है कि इसका निर्माण लगभग दो करोड रुपयो मे सम्पन्न हो सका। मदिर निर्माण में मुख्य रूप से श्वेत सगमरमर प्रयोग मे लाया गया। साथ ही काच की पच्चीकारी एव स्वर्ण चित्रकारी से भी समृद्ध किया गया।

पंच कल्याणक एवं वेदी प्रतिष्ठा

मन्दिर निर्माण का कार्य परिपूर्ण हो जाने के उपरान्त वेदियो मे भगवान को प्रतिष्ठित करने की उत्सुकता जागृत होना स्वाभाविक था। सकल्प ने मूर्तरूप लिया। १६ से २० मार्च १९८३ तक पॉच दिन का पचकल्याणक महोत्सव करा भगवान को वेदियो मे विराजमान करा दिया गया। इस महोत्सव मे भारत के महामहिम राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिह जी भी सम्मिलित हुए। उन्होने क्षेत्र के विविध आयामी कार्यक्रमो का अवलोकन किया और अपने सम्बोधन मे जैन समाज के प्रयासो की सराहना की। आचार्य शान्ति सागर जी महाराज के सान्निध्य में यह उत्सव सानन्द सम्पन्न हुआ।

मान-स्तम्भ में इस अवसर पर मूर्तियो की प्रतिष्ठा टाल दी गई थी, क्योंकि उसका निर्माण क्षेत्र की गरिमा और लोगो की आकाक्षाओं के अनुरुप नहीं हो पाया था। अत उसका पुनर्निर्माण कराया गया। क्षेत्र का सितारा निरन्तर उत्कर्ष पर रहा। अब यह सम्भव ही नहीं था कि मूर्ति प्रतिष्ठा साधारण रूप से कराई जावे। अत १६ से २० फरवरी ९७ को पचकल्याणक प्रतिष्ठा का विशाल आयोजन करने का समाज द्वारा निर्णय किया गया। यह महोत्सव शाकाहार प्रचारक उपाध्याय श्री ज्ञानसागर जी महाराज

के (ससघ) सान्निध्य मे हुआ। अत. सप्ताहान्त तक सभा और सम्मेलनों की रात दिन झडी लगी रही। एक ओर विद्वत् परिषद सम्मेलन चल रहा था तो दूसरी ओर साहू अशोक कुमार जैन की अध्यक्षता में श्रावक और तीर्थ क्षेत्र कमेटी की सभाओं में विचार विमर्श चल रहा था। कभी व्यसन मुक्ति आन्दोलन को हवा दी जा रही है तो कभी शाकाहार सम्मेलन में भारतीय स्तर के बुद्धिजीवी और प्रखर वक्ता उसके महत्व को जनमानस में ठोक कर बिठाने में लगे थे। इस तरह हर्षोल्लास से २०-२-९७ को मान-स्तम्भ मे मूर्तियो की स्थापना के साथ समाज ने अपने एक लक्ष्य को प्राप्त कर लिया। भगवान चन्द्रप्रभ और 'देहरे वाले बाबा' की जयघोष के साथ उत्सव सम्पन्न हुआ। तीर्थ क्षेत्र कमेटी इस क्षेत्र की सर्वांगीण प्रगति के लिए निरन्तर प्रयासरत है।

—तुलाराम जैन
अध्यक्ष, श्री चन्द्रप्रभ दिगम्बर
जैन अतिशय क्षेत्र
देहरा–तिजारा (अलवर)

卐 अपनी बात 卐

जीवन में परिस्थितिजन्य अनुकूलता-प्रतिकूलता तो चलती ही रहती है परन्तु प्रतिकूल परिस्थितियो में भी उनका अधिकाधिक सदुपयोग कर लेना विशिष्ट प्रतिभाओ की ही विशेषता है। **'तिलोयपण्णत्ती'** के प्रस्तुत सस्करण को अपने वर्तमान रूप में प्रस्तुत करने वाली विदुषी आर्यिका पूज्य १०५ श्री विशुद्धमती माताजी भी उन्ही प्रतिभाओं मे से एक है। जून १९८१ मे सीढियो से गिर जाने के कारण आपको उदयपुर मे ठहरना पडा और तभी ति० प० की टीका का काम प्रारम्भ हुआ। काम सहज नही था परन्तु बुद्धि और श्रम मिलकर क्या नही कर सकते। साधन और सहयोग सकेत मिलते ही जुटने लगे। अनेक हस्तलिखित प्रतियाँ तथा उनकी फोटोस्टेट कॉपियाँ मगवाने की व्यवस्था की गई। कन्नड की प्राचीन प्रतियों को भी पाठभेद व लिप्यन्तरण के माध्यम से प्राप्त किया गया। 'सेठी ट्रस्ट, गुवाहाटी' से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ और महासभा ने इसके प्रकाशन का उत्तरदायित्व वहन किया। डॉ० चेतनप्रकाश जी पाटनी ने सम्पादन का गुरुतर भार सभाला और अनेक रूपो मे उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त हुआ। यह सब पूज्य माताजी के पुरुषार्थ का ही सुपरिणाम है। पूज्य माताजी 'यथा नाम तथा गुण' के अनुसार विशुद्ध मति को धारण करने वाली है तभी तो गणित के इस जटिल ग्रथ का प्रस्तुत सरल रूप हमे प्राप्त हो सका है।

पाँवो मे चोट लगने के बाद से पूज्य माताजी प्राय. स्वस्थ नही रहती तथापि अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग प्रवृत्ति से कभी विरत नही होती। सतत परिश्रम करते रहना आपकी अनुपम विशेषता है। आज मे १५ वर्ष पूर्व मै माताजी के सम्पर्क मे आया था और यह मेरा सौभाग्य है कि तबसे मुझे पूज्य माताजी का अनवरत सान्निध्य प्राप्त रहा है। माताजी की श्रमशीलता का अनुमान मुझ जैसा कोई उनके निकट रहने वाला व्यक्ति ही कर सकता है। आज उपलब्ध सभी साधनो के बावजूद माताजी सम्पूर्ण लेखनकार्य स्वय अपने हाथ से ही करती हैं—न कभी एक अक्षर टाइप करवाती है और न किसी से लिखवाती हैं। सम्पूर्ण सशोधन-परिष्कारो को भी फिर हाथ से ही लिखकर सयुक्त करती है। मैं प्राय सोचा करता हूँ कि धन्य है ये, जो (आहार मे) इतना अल्प लेकर भी कितना अधिक दे रही है। इनकी यह देन चिरकाल तक समाज को समुपलब्ध रहेगी।

मैं एक अल्पज्ञ श्रावक हूं। अधिक पढा-लिखा भी नही हूँ किन्तु पूर्व पुण्योदय से जो मुझे यह पवित्र समागम प्राप्त हुआ है इसे मैं साक्षात् सरस्वती का ही समागम समझता हूँ। जिन ग्रन्थो के नाम भी मैंने कभी नही सुने थे उनकी सेवा का सुअवसर मुझे पूज्य माताजी के माध्यम से प्राप्त हो रहा है, यह मेरे महान् पुण्य का फल तो है ही किन्तु इसमे आपका अनुग्रहपूर्ण वात्सल्य भी कम नही।

जैसे काष्ठ मे लगी लोहे की कील स्वय भी तर जाती है और दूसरो को भी तरने मे सहायक होती है, उसी प्रकार सतत ज्ञानाराधना मे सलग्न पूज्य माताजी भी मेरी दृष्टि मे तरण-तारण है। आपके सान्निध्य से मैं भी ज्ञानावरणीय कर्म के क्षय का सामर्थ्य प्राप्त करूँ, यही भावना है।

मैं पूज्य माताजी के स्वस्थ एव दीर्घजीवन की कामना करता हूँ।

विनीत :

ब० कजोड़ीमल कामदार, संघस्थ

※ पुरोवाक् ※

श्री यतिवृषभाचार्य द्वारा विरचित **'तिलोयपण्णत्ती'** ग्रन्थ जैन वाङ्मय के अन्तर्गत करणानुयोग का प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें लोक-प्ररूपणा के साथ अनेक प्रमेयों का दिग्दर्शन उपलब्ध है। राजवार्तिक, हरिवंशपुराण, त्रिलोकसार, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति तथा सिद्धान्तसारदीपक आदि ग्रन्थों का यह मूल स्रोत कहा जाता है। इसका पहली बार प्रकाशन **डॉ० हीरालाल जी व डॉ० ए०एन० उपाध्ये** के सम्पादकत्व मे पं० **बालचन्द्र जी** शास्त्री कृत हिन्दी अनुवाद के साथ **जीवराज ग्रन्थमाला** सोलापुर से हुआ था, जो अब अप्राप्य है। इस सस्करण मे गणित सम्बन्धी कुछ सदर्भ अस्पष्ट रह गये थे जिन्हें इस सस्करण में **टीकाकर्त्री श्री १०५ आर्यिका विशुद्धमती जी** ने अनेक प्राचीन प्रतियों के आधार पर स्पष्ट किया है।

त्रिलोकसार तथा **सिद्धान्तसारदीपक** की टीका करने के पश्चात् आपने **'तिलोयपण्णत्ती'** को प्राचीन प्रतियो के आधार से सशोधित कर हिन्दी अनुवाद से युक्त किया है तथा प्रसङ्गानुसार आगत अनेक आकृतियो, सदृष्टियो एव विशेषार्थों से अलकृत किया है, यह प्रसन्नता की बात है।

तीन खण्डों मे यह ग्रन्थ क्रमश १९८४, १९८६ और १९८८ मे प्रकाशित हो चुका है। प्रस्तुत प्रकाशन प्रथमखण्ड का द्वितीय सस्करण है जो सशोधित एव यत्किचित् परिवर्धित है। पूज्य माताजी **श्री विशुद्धमती जी** अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग वाली आर्यिका है। इनका समग्र समय स्वाध्याय और तत्त्व - चिन्तन मे व्यतीत होता है। तपश्चरण के प्रभाव से इनके क्षयोपशम मे आश्चर्यकारक वृद्धि हुई है। इसी क्षयोपशम के कारण आप इन गहन ग्रन्थो की टीका करने में सक्षम हो सकी हैं।

डॉ० चेतनप्रकाश जी पाटनी ने ग्रन्थ का सम्पादन बहुत परिश्रम से किया है तथा प्रस्तावना मे सम्बद्ध समस्त विषयो की पर्याप्त जानकारी दी है। गणित के प्रसिद्ध विद्वान् **प्रो० लक्ष्मीचन्द्र जी** ने **'तिलोयपण्णत्ती और उसका गणित'** शीर्षक अपने लेख मे गणित की विविध धाराओं को स्पष्ट किया है। माताजी ने अपने 'आद्यमिताक्षर' में ग्रन्थ के उपोद्घात का पूर्ण विवरण दिया है। **भारतवर्षीय दि० जैन महासभा** के उत्साही-कर्मठ **अध्यक्ष श्री निर्मलकुमारजी सेठी** ने महासभा के प्रकाशन विभाग द्वारा इस महान् ग्रन्थ का प्रकाशन कर प्रकाशनविभाग को गौरवान्वित किया है।

ग्रन्थ के सम्पादक **डॉ० चेतनप्रकाश जी पाटनी**, दिवंगत पूज्य **मुनिराज श्री १०८ समतासागर जी** के सुपुत्र है तथा उन्हे पैतृक सम्पत्ति के रूप मे अपार समता तथा श्रुताराधना की अपूर्व अभिरुचि (लगन) प्राप्त हुई है। टीकाकर्त्री माताजी प्रारम्भ मे भले ही मेरी शिष्या रही हो पर अब तो मैं उनमें अपने आपको पढा देने की क्षमता देख रहा हूँ।

टीकाकर्त्री माताजी और सम्पादक डॉ चेतनप्रकाश जी पाटनी के स्वस्थ दीर्घजीवन की कामना करता हुआ अपना पुरोवाक् समाप्त करता हूँ।

विनीत :
पन्नालाल साहित्याचार्य

तीन लोक रचना
उत्तर
पूर्व
ऊर्ध्व लोक
मध्य लोक
अधो लोक
माहेन्द्र कल्प
ईशान कल्प
सौधर्म कल्प
तृतीय पृ
बालुका प्रभा
पंक प्रभा
पञ्चम पृथ्वी
धूम प्रभा
षष्टम पृथ्वी
तम प्रभा
सप्तम पृथ्वी
महातम प्रभा
मेघा
अंजना
अरिष्टा
मघवी
माघवी
७ राजु
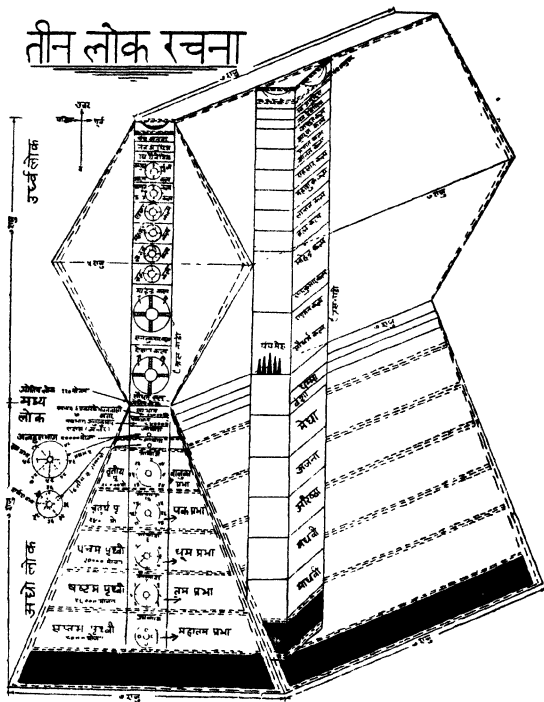
आद्यमिताक्षर

(प्रथम संस्करण)

जैनधर्म सम्यक् श्रद्धा, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्रपरक धर्म है। इस धर्म के प्रणेता अरहतदेव हैं जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं। इनकी दिव्य वाणी से प्रवाहित तत्त्वों की सज्ञा आगम है। इन्ही समीचीन तत्त्वो के स्वरूप का प्रसार-प्रचार एवं आचरण करने वाले आचार्य, उपाध्याय और साधु परमेष्ठी सच्चे गुरु हैं।

वर्तमान मे जितना भी आगम उपलब्ध है, वह सब हमारे निर्ग्रन्थ गुरुओं की अनुकम्पा एवं धर्म वात्सल्य का ही फल है। यह आगम प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के नाम से चार भेदो मे विभाजित है।

'त्रिलोकसार' ग्रन्थ के सस्कृतटीकाकार **श्रीमन्माधवचन्द्राचार्य त्रैविद्यदेव** ने करणानुयोग के विषय मे कहा है कि—"**सवर्ध-ज्ञान-विज्ञान-सम्पन्न-पापवर्ज्य-भीरुगुरु-पर्वक्रमेणाव्युच्छिन्नतया प्रवर्तमानमविनष्ट-सूत्रार्थत्वेन केवलज्ञान-समानं करणानुयोग-नामानं परमागमं**······ ······।" अर्थात् जिस अर्थ का निरूपण श्री वीतराग सर्वज्ञ वर्धमान स्वामी ने किया था, उसी अर्थ के विद्यमान रहने से वह करणानुयोग परमागम केवलज्ञान के समान है।

आचार्य यतिवृषभ ने भी **तिलोयपण्णत्ती** के प्रथमाधिकार की गाथा ८६-८७ मे कहा है कि—"**पवाह-रूवत्तणेण ·· ··आइरियअणुक्कमाआदं तिलोयपण्णत्ति अहं वोच्छामि**···· " अर्थात् आचार्य-परम्परा से प्रवाह रूप मे आये हुए 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' शास्त्र को मैं कहता हूँ। इसी प्रकार प्रथमाधिकार की गाथा १४८ मे भी कहा है कि—"**भणामो णिस्संदं दिट्ठिवादादो**" अर्थात् मैं वैसा ही वर्णन करता हूँ, जैसा कि दृष्टिवाद अग से निकला है।

आचार्यों की इस वाणी से ग्रन्थ की प्रामाणिकता निर्विवाद सिद्ध है।

बीजारोपण—सन् १९७२ स० २०२९ आसौज कृ० १३ गुरुवार को अजमेर नगर-स्थित छोटे धड़े का नसियाँ मे त्रिलोकसार ग्रन्थ की टीका प्रारम्भ होकर स० २०३० ज्येष्ठ शुक्ला पचमी शुक्रवार को जयपुर खानियाँ मे पूर्ण हो चुकी थी। ग्रन्थ का विमोचन भी सन् १९७४ मे हो चुका था। पश्चात् सन् १९७५ के जून माह मे परम पूज्य परमोपकारी शिक्षागुरु आचार्यकल्प १०८ श्री श्रुतसागरजी एव परम पूज्य श्रद्धेय विद्यागुरु १०८ श्री अजितसागर महाराज जी के सान्निध्य में

तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थराज का स्वाध्याय प्रारम्भ किया किन्तु १५० गाथाओं के बाद जगह-जगह शंकाएँ उत्पन्न होने लगी तथा उनका समाधान न होने के कारण स्वाध्याय में नीरसता आ गयी। फलस्वरूप, आत्मा में निरन्तर यही खरोंच लगती रहती कि 'त्रिलोकसार' जैसे ग्रन्थ की टीका करने के बाद 'तिलोयपण्णत्ती' का प्रमेय ज्ञेय नही बन पा रहा . ।

उसी वर्ष (सन् १९७५ मे) सवाईमाधोपुर मे ससंघ वर्षायोग चल रहा था। करणानुयोग के प्रकाण्ड विद्वान् सिद्धान्तभूषण **पं० रतनचन्दजी मुख्तार**, सहारनपुर वाले **सिद्धान्तसार दीपक** की पाण्डुलिपि देखने हेतु आये। हृदयस्थित शल्य की चर्चा पण्डितजी से की। आपने प्रथमाधिकार की गाथा स० १४०, १४५-४७, १६३, १६८, १६६ १७८-७९, १८०, १८१, १८४से १९१, १९६-९७, २०० से २१२. २१४ से २३४, २३८ से २६६ तक का विषय स्पष्ट कर समझा दिया जिसे मैंने व्यवस्थित कर आकृतियो सहित नोट कर लिया। इसके पश्चात् सन् १९८१ तक इसकी कोई चर्चा नही उठी। कभी-कभी मन मे अवश्य यह बात उठती रहती कि यदि ये ८३ गाथाएँ प्रकाशित हो जाये तो स्वाध्यायप्रेमियो को प्रचुर लाभ हो सकता है। यह बात सन् १९७७ मे जीवराज ग्रन्थमाला को भी लिखवायो थी कि यदि आप 'तिलोयपण्णत्ती' का पुन. प्रकाशन करावे तो प्रथमाधिकार की कुछ गाथाओ का गणित हम उसमे देना चाहते है।

अंकुरारोपण—श्रीमान् धर्मनिष्ठ मोहनलालजी शान्तिलालजी भोजन ने उदयपुर मे स्वद्रव्य से श्री महावीर जिनमन्दिर का निर्माण कराया। उसकी प्रतिष्ठा हेतु वे मुझे उदयपुर लाये। सन् १९८१ मे प्रतिष्ठाकार्य विशाल सघ के सान्निध्य मे सानन्द सम्पन्न हुआ। पश्चात् वर्षायोग के लिए अन्यत्र विहार होने वाला था किन्तु अनायास सीढियो से गिर जाने के कारण दोनो पैरो की हड्डियो मे खराबी हो गयी और चातुर्मास समघ उदयपुर हो हुआ। एक दिन **तिलोयपण्णत्ती** की पुरानी फाइल अनायास हाथ मे आ गयी। उन गाथाओ को देखकर विकल्प उठा कि जैसे अचानक पैर पगु हो गये है, उसी प्रकार एक दिन ये प्राणपखेरू उड जायेंगे और यह फाइल बन्द ही पडी रहेगी। अत: इन गाथाओ सहित प्रथमाधिकार के गणित का कुछ विशेष खुलासा कर प्रकाशित करा देना चाहिए। उसी समय श्रीमान् पं०पन्नालालजी को सागर पत्र दिलवाया। श्री पण्डित सा०का प्रेरणा-प्रद उत्तर आया कि आपको पूरे ग्रन्थ की टीका करनी है। श्री धर्मचन्द्रजी शास्त्री भी पीछे पड गये। इसी बीच श्री निर्मलकुमारजी सेठी सघ के दर्शनार्थ यहाँ आये। आप से मेरा परिचय प्रथम ही था। दो–ढाई घण्टे अनेक महत्त्वपूर्ण चर्चाएँ हुई। इसी बीच आपने कहा कि "इस समय आपका लेखन-कार्य क्या चल रहा है?" मैंने कहा, "लेखनकार्य प्रारम्भ करने की प्रेरणा बहुत प्राप्त हो रही है किन्तु कार्य प्रारम्भ करने का भाव नही है।" कारण पूछे जाने पर मैंने कहा कि "ग्रन्थ-लेखनादि के कार्यों मे सलग्न रहना साधु का परम कर्तव्य है, किन्तु उसकी व्यवस्था आदि के व्यय की जो आकुलना एव

याचना आदि की प्रवृत्ति होती है, उसे देखते हुए तो शास्त्र नही लिखना ही सर्वोत्तम है। यथार्थ में इस प्रक्रिया से साधु को बहुत दोष लगता है।" यह बात ध्यान में आते ही आपने तुरन्त आश्वासन दिया कि "आप टीका का कार्य प्रारम्भ कीजिए, लेखनकार्य के सिवा आपको अन्य किसी प्रकार की चिन्ता करने का अवसर प्राप्त नहीं होगा।"

इसी बीच परम पूज्य प्रात स्मरणीय १०८ श्री सन्मतिसागर महाराज जी ने यम-सल्लेखना धारण कर ली। वे क्रमश. आहार का त्याग करते हुए मात्र जल पर आ चुके थे। शरीर की स्थिति अत्यन्त कमजोर हो चुकी थी। मेरे मन मे अनायास ही भाव जागृत हुए कि यदि तिलोयपण्णत्ती की टीका करनी ही है तो पूज्य महाराजश्री से आशीर्वाद लेकर आपके जीवन-काल मे ही कार्य प्रारम्भ कर देना चाहिए। किन्तु दूसरी ओर आगम की आज्ञा सामने थी कि "यदि सघ मे कोई भी साधु समाधिस्थ हो तो सिद्धान्त-ग्रन्थो का पठन-पाठन एव लेखनादि-कार्य नही करना चाहिए"। इस प्रकार के द्वन्द्व मे झूलता हुआ मेरा मन महाराजश्री से आशीर्वाद लेने वाले लोभ का सवरण नही कर सका और स० २०३८ मार्गशीर्ष कृष्णा ११, रविवार को हस्त नक्षत्र के उदित रहते ग्रन्थ प्रारम्भ करने का निश्चय किया तथा प्रात काल जाकर महाराजश्री से आशीर्वाद की याचना की। उस समय महाराजश्री का शरीर बहुत कमजोर हो चुका था। जीवन केवल तीन दिन का अवशेष था, फिर भी धन्य है आपका साहस और धैर्य। आप तुरन्त उठ कर बैठ गये उस समय मुखारविन्द से प्रफुल्लता टपक रही थी, हृदय वात्सल्य रस से उछल रहा था, वाणी से अमृत झर रहा था, उस अनुपम पुण्य-वेला मे आपने क्या-क्या दिया और मैंने क्या लिया, यह लिखा नही जा सकता किन्तु इतना अवश्य है कि यदि वह समय मैं चूक जाती तो इतने उदारतापूर्ण आशीर्वाद से जीवनपर्यन्त वञ्चित रह जाती, तब शायद यह ग्रन्थ हो भी नही पाता। पश्चात् विद्यागुरु १०८ श्री अजितसागर महाराज जी से आशीर्वाद लेकर हूमडो के नोहरे मे भगवान् जिनेन्द्रदेव के समीप बैठकर ग्रन्थ का शुभारम्भ किया।

उस समय धन लग्न का उदय था। लाभ भवन का स्वामी शुक्र लग्न में और लग्नेश गुरु तथा कार्येश बुध लाभ भवन मे बैठकर विद्या भवन को पूर्णरूपेण देख रहे थे। गुरु पराक्रम और सप्तम भवन को पूर्ण देख रहा था। कन्या राशिस्थ शनि और चन्द्र दशम मे, मगल नवम मे और सूर्य अष्टम भवन मे स्थित थे। इस प्रकार दि० २२-११-१९८१ को ग्रन्थ प्रारम्भ किया और २५-११-८१ बुधवार को णमोकार मन्त्र का उच्चारण करते हुए परमोपकारी महाराजश्री स्वर्ग पधार गये।

तुषारपात— दिनाक ६-१-८२ को प्रथमाधिकार पूर्ण हो चुका था किन्तु इसकी गाथा १३८, १४१-४२, २०८ और २१७ के विषयों का समुचित सदर्भ नही बैठा, गा० २३४ का प्रारम्भ तो 'त' पद से हुआ था। अर्थात् इसको ३५ से गुणा करके । किस सख्या का ३५ से गुणित करना है यह

बात गाथा मे स्पष्ट नही थी । दि० १६-२-८२ को दूसरा अधिकार पूर्ण हो गया किन्तु इसमें भी गाथा स० ८५, ८६, ६५, १६५, २०२ और २८८ की सदृष्टियों का भाव समझ में नहीं आया, फिर भी कार्य प्रगति पर रहा और २०-३-८२ को तीसरा अधिकार भी पूर्ण हो गया, किन्तु इसमे भी गाथा २५, २६, २७ आदि का अर्थ पूर्णरूपेण बुद्धिगत नही हुआ ।

इतना होते हुए भी कार्य चालू रहा क्योंकि प्रारम्भ मे ही यह निर्णय ले लिया था कि पूर्व सम्पादकद्वय एवं हिन्दीकर्त्ता विद्वानो के अपूर्व श्रम के फल को सुरक्षित रखने के लिए ग्रन्थ का मात्र गणित भाग स्पष्ट करना है, अन्य किन्ही विषयो को स्पर्श नही करना । इसी भावना के साथ चतुर्थाधिकार प्रारम्भ किया जिसमे गा० ५७ और ६४ तो प्रश्नचिह्न युक्त थी ही किन्तु गणित की दृष्टि से गा० ६१ के बाद निश्चित ही एक गाथा छूटी हुई ज्ञात हुई । इसी बीच हस्तलिखित प्रतियाँ एकत्र करने की बहुत चेष्टा की किन्तु कही मे भी सफलता प्राप्त नही हुई, तब यही भाव उत्पन्न हुआ कि इस प्रकार अशुद्ध कृति लिखने से कोई लाभ नही । अन्ततोगत्वा, अनिश्चित समय के लिए टीका का कार्य बन्द कर दिया ।

प्रगति का पुरुषार्थ—उत्तरभारत के प्राय सभी प्रमुख शास्त्रभण्डारो मे हस्तलिखित प्रतियो की याचना की, जिनमे मात्र श्री महावीरप्रसाद विशम्बरदासजी सर्राफ, चादनी चौक दिल्ली, श्रीमान् कस्तूरचन्दजी काशलीवाल, जयपुर और श्री रतनलालजी सा० व्यवस्थापक श्री १००८ शान्तिनाथ दि० जैन खडेलवाल पचायती दीवान मन्दिर कामा (भरतपुर) के सौजन्य मे (१ + २ + १ =)चार प्रतियाँ प्राप्त हुई । "आपकी प्रति यथासमय वापस भेज दी जायेगी" ऐसा शपथ स्वीकार कर लेने के बाद भी जब अन्य कही मे सफलता नही मिली तब उज्जैन और ब्यावर की प्रतियो से केवल चतुर्थाधिकार की फोटोकॉपी करवायी गयी । इस प्रकार कुछ प्रतियाँ प्राप्त अवश्य हुई किन्तु वे सब मुद्रित प्रति के सदृश एक ही परम्परा की लिखी हुई थी । यहाँ तक कि पूर्व सम्पादको को प्राप्त हुई बम्बई की प्रति ही उज्जैन की प्रति है और इसी की प्रतिलिपि कामा की प्रति है, मात्र प्रतिलिपि के लेखनकाल मे अन्तर है । इस कारण कुछ पाठ-भेदो के सिवा गाथाएँ आदि प्राप्त न होने मे गणितादि की गुत्थियाँ ज्यो-की-त्यो उलझी ही रही ।

उस समय परम पूज्य आचार्यवर्य १०८ विमलसागरजी महाराज और परम पूज्य १०८ श्री विद्यानन्द जी महाराज दक्षिण प्रान्त मे ही विराज रहे थे । इन युगल गुरुराज को पत्र लिखे कि मूडबिद्री के शास्त्रभण्डार मे कन्नड की प्रति प्राप्त कराने की कृपा कीजिये । महाराजश्री ने तुरन्त श्री भट्टारकजी को पत्र लिखवा दिया और उदयपुर से भी श्रीमान् प० प्यारेलालजी कोटडिया ने पत्र दिया. जिसका उत्तर प० देवकुमारजी शास्त्री (वीरवाणी भवन, मूडबिद्री) ने दिनाक २१-४-१९८२

को दिया कि यहाँ तिलोयपण्णत्ती की दो ताड़पत्राय प्राचीन प्रतियाँ माजूद हैं। उनमें से एक प्रति मूलमात्र है और पूर्ण है। दूसरी प्रति में टीका भी है लेकिन उसमें अन्तिम भाग नहीं है, पर संख्या की संदृष्टियाँ वगरह साफ हैं" इत्यादि। टीका की बात सुनते ही मन-मयूर नाच उठा। उसके लिए प्रयास भी बहुत किये किन्तु अन्त में ज्ञात हुआ कि टीका नहीं है।

इसी बीच (सन् १९८२ के मई या जून मे) ज्ञानयोगी भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी (मूडबिद्री) उदयपुर आये। चर्चा हुई और आपने प्रतिलिपि भेजने का विशेष आश्वासन भी दिया, किन्तु अन्त में वहाँ से चतुर्थाधिकार की गाथा स० २२३८ पर्यन्त मात्र पाठभेद ही आये। साथ मे सूचना प्राप्त हुई कि 'आगे के पत्र नही हैं'। एक अन्य प्रति की खोज की गयी जिससे चतुर्थाधिकार की गाथा सं० २५२७ मे प्रारम्भ होकर पाँचवें अधिकार की गाथा सं० २८० तक के पाठभेद मिले (चौथा अधिकार भी पूरा नही हुआ, उसमें २८९ गाथाओं के पाठभेद नही आये)। दिनांक २५-२-८३ को सूचना प्राप्त हुई कि ग्रन्थ यहाँ तक आकर अधूरा रह गया है, अब आगे कोई पत्र नही है। इस सूचना ने हृदय को कितनी पीड़ा पहुँचायी, इसकी अभिव्यञ्जना कराने मे यह जड़ लेखनी असमर्थ है।

संशोधन—मूडबिद्री से प्राप्त पाठभेदो से पूर्व लिखित तीनो अधिकारो का सशोधन कर अर्थात् पाठभेदो के माध्यम से यथोचित परिवर्तन एव परिवर्धन कर प्रेसकॉपी दिनांक १०-६-८३ को प्रेस मे भेज दी और यह निर्णय ले लिया कि इन तीन अधिकारो का ही प्रकाशन होगा, क्योंकि पूरी गाथाओ के पाठभेद न आने के कारण चतुर्थाधिकार शुद्ध हो ही नही सकता।

यहाँ (उदयपुर) अशोकनगरस्थ समाधिस्थल पर श्री १००८ शान्तिनाथ जिनालय का निर्माण दि० जैन समाज की ओर से कराया गया था। पुण्ययोग से मन्दिरजी की प्रतिष्ठा हेतु कर्मयोगी भट्टारक श्री चारुकीर्तिजी जैनबिद्री वाले मई मास १९८३ मे यहाँ पधारे। ग्रन्थ के विषय मे विशेष चर्चा हुई। आपने विश्वासपूर्वक आश्वासन दिया कि हमारे यहाँ एक ही प्रति है और पूर्ण है किन्तु अभी वहाँ कोई उभय भाषाविज्ञ विद्वान् नही है, जिसकी व्यवस्था मैं वहाँ पहुँचते ही करूँगा और ग्रन्थ का कार्य पूर्ण करने का प्रयास करूँगा।

आप कर्मनिष्ठ, सत्यभाषी, गम्भीर और शान्त प्रकृति के हैं। अपने वचनानुसार सितम्बर माह (१९८३) के प्रथम सप्ताह मे ही आपने प्रथमाधिकार की लिप्यन्तरित गाथाये भिजवा दी और तब से आज पर्यन्त यह कार्य अनवरत चालू है। गाथाएँ आने के तुरन्त बाद प्रेस से प्रेसकॉपी मंगाकर उन्हे पुन: सशोधित किया और इस टीका का मूलाधार इसी प्रति को बनाया। इस प्रकार जैनबिद्री से स० १२६६ की प्राचीन कन्नडप्रति की देवनागरी प्रतिलिपि प्राप्त हो जाने से और उसमें नवीन अनेक गाथाएँ, पाठभेद और शुद्ध सदृष्टियां आदि प्राप्त हो जाने से विषय एव भाषा आदि मे स्वयमेव परिवर्तन/परिवर्धन आदि हो गया, जिसके फलस्वरूप ग्रन्थ का नवीनीकरण जैसा ही हो गया है।

अन्तर्वेदना—हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त करने में कितना संक्लेश और उनके पाठों एवं गाथाओं आदि का चयन करने में कितना श्रम हुआ है, इसका वेदन सम्पादक-समाज तो मेरे लिखे बिना ही अनुभव कर लेगी क्योंकि वह मुक्तभोगी है और अन्य भव्यजन लिख देने पर भी उसका अनुभव नही कर सकेंगे क्योकि—"न हि वन्ध्या विजानाति पर-प्रसव-वेदनाम् ।"

कार्यक्षेत्र—वीरप्रसविनी झीलों की नगरी उदयपुर अपने नगर-उपनगरों में स्थित लगभग पन्द्रह-सोलह जिनालयो से एव देव-शास्त्र-गुरु भक्त और धर्म-निष्ठ समाज से गौरवान्वित है। नगर के मध्य मण्डी की नाल मे स्थित १००८ श्री पार्श्वनाथ दि० जैन खण्डेलवाल मन्दिर इस ग्रन्थ का रचना-क्षेत्र रहा है। यह स्थान सभी साधन-सुविधाओ से युक्त है। यही बैठकर ग्रन्थ के तीन महाधिकार पूर्ण होकर प्रथम खण्ड के रूप मे प्रकाशित हो रहे हैं और चतुर्थ महाधिकार का ¾ कार्य पूर्ण हो चुका है।

सम्बल—इस भव्य जिनालय मे स्थित भूगर्भ प्राप्त, श्याम वर्ण, खड्गासन, लगभग ३' उत्तुंग, अतिशयवान् अतिमनोज्ञ १००८ श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जिनेन्द्र की चरण-रज एव हृदयस्थित आपकी अनुपम भक्ति, आगमनिष्ठा और परम पूज्य परम श्रद्धेय साधु परमेष्ठियो का शुभाशीर्वाद रूप वरद हस्त ही मेरा सबल सम्बल रहा है, क्योकि जैसे लकडी के आधार बिना अन्धा व्यक्ति चल नही सकता वैसे ही देव, शास्त्र, गुरु की भक्ति बिना मैं यह महान् कार्य नही कर सकती थी। ऐसे तारण-तरण देव, शास्त्र, गुरु को मेरा कोटिश: त्रिकाल नमोऽस्तु ! नमोऽस्तु !! नमोऽस्तु !!!

आधार—प्रो० आदिनाथ उपाध्याय एवं प्रो० हीरालालजी द्वारा सम्पादित, प० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री द्वारा हिन्दी मे अनूदित एव **जीवराज ग्रन्थमाला से प्रकाशित तिलोयपण्णत्ती और जैन-बिद्री स्थित जैनमठ की कन्नड़ प्रति से की हुई देवनागरी लिपि** ही इस ग्रन्थ की आधारशिला है। कार्य के प्रारम्भ मे तो मूडबिद्री की कन्नड प्रति के पाठभेदो का ही आधार था किन्तु यह प्रति अधूरी ही प्राप्त हुई।

यदि मुद्रित प्रति न होती तो मैं अल्पमति इसकी हिन्दी टीका कर ही नही सकती थी और यदि कन्नड प्रतियाँ प्राप्त न होती तो पाठो की शुद्धता, विषयो की सम्बद्धता तथा ग्रन्थ की प्रामाणिकता आदि अनेक विशेषताये ग्रन्थ को प्राप्त नही हो सकती थी।

सहयोग—नीव के पत्थर सदृश सर्वप्रथम सहयोग उदयपुर की उन भोली-भाली माताओं-बहिनों का है जो तीन वर्ष के दीर्घकाल से सयम और ज्ञानाराधन के कारणभूत आहारादि दान-प्रवृत्ति मे वात्सल्यपूर्वक तत्पर रही है।

श्री ज्ञानयोगी भट्टारक चारुकीर्तिजी एव पं० **श्री देवकुमारजी शास्त्री, मूडबिद्री** तथा **श्री कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्तिजी** एव पं० **श्री देवकुमारजी शास्त्री, जैनबिद्री** का प्रमुख सहयोग प्राप्त हुआ। प्राचीन कन्नड की देवनागरी लिपि देकर इस ग्रन्थ को शुद्ध बनाने का पूर्ण श्रेय आपको ही है।

तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ प्राकृत भाषा में है और यहाँ प्राकृत-भाषाविज्ञ **डॉ० कमलचन्द्रजी सोगाणी, डॉ० प्रेमसुमनजी जैन और डॉ० उदयचन्द्रजी जैन** उच्चकोटि के विद्वान् हैं। समय-समय पर आपके सुझाव आदि बराबर प्राप्त होते रहे हैं। प्रतियों के मिलान एवं पाठों के चयन आदि में **डॉ० उदयचन्द्रजी** का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है।

सम्पादक डॉ० श्री चेतनप्रकाशजी पाटनी (जोधपुर) सौम्य मुद्रा, सरल हृदय, संयमित जीवन और समीचीन ज्ञानभण्डार के धनी हैं। सम्पादन-कार्य के अतिरिक्त समय-समय पर आपका बहुत सहयोग प्राप्त होता रहा है। आपकी कार्यक्षमता बहुत कुछ अंशो मे श्री रतनचन्द्रजी मुख्तार के रिक्त स्थान की पूर्ति मे सक्षम सिद्ध हुई है।

पूर्व अवस्था के विद्यागुरु, अनेक ग्रन्थो के टीकाकार, सरल प्रकृति, सौम्याकृति, अपूर्व विद्वत्ता से परिपूर्ण, विद्वच्छिरोमणि वयोवृद्ध **पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य** की सत्प्रेरणा मुझे निरन्तर मिलती रही है और भविष्य मे भी दीर्घकाल पर्यन्त मिलती रहे, ऐसी भावना है।

श्रीमान् उदारचेता दानशील **श्री निर्मलकुमारजी सेठी** इस ज्ञानयज्ञ के प्रमुख यजमान हैं। वे धर्मकार्यो मे इसी प्रकार अग्रसर रह कर धर्मोद्योत करने मे निरन्तर प्रयत्नशील बने रहे।

श्रीमान् कजोड़ीमलजी कामदार, श्री विमलप्रकाशजी ड्राफ्ट्समेन अजमेर, **श्री रमेशचन्द्रजी मेहता, उदयपुर** और **मुनिभक्त दि० जैन समाज उदयपुर** का पूर्ण सहयोग प्राप्त होने से ही आज यह ग्रन्थ नवीन परिधान मे प्रकाशित हो पाया है।

आशीर्वाद—इस सम्यग्ज्ञान रूपी महायज्ञ मे तन, मन एवं धन आदि से जिन-जिन भव्य जीवो ने किञ्चित् भी सहयोग दिया है, वे सब परम्परया शीघ्र ही विशुद्ध ज्ञान को प्राप्त करें। यही मेरा आशीर्वाद है।

अन्तिम—मुझे प्राकृत भाषा का किञ्चित् भी ज्ञान नही है। बुद्धि अल्प होने से विषयज्ञान भी न्यूनतम है। स्मरण-शक्ति और शारीरिक शक्ति क्षीण होती जा रही है। इस कारण स्वर, व्यंजन, पद, अर्थ एवं गणित आदि की भूल हो जाना स्वाभाविक है क्योंकि—**'को न विमुह्यति शास्त्र-समुद्रे'**। अतः परम पूज्य गुरुजनो से इसके लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। विद्वज्जन ग्रन्थ को शुद्ध करके ही अर्थ ग्रहण करें। इत्यलम्। भद्रं भूयात्।

सं० २०४०
बसन्त पचमी

—**आर्यिका विशुद्धमती**
दिनांक ७-२-१९८४

द्वितीय संस्करण

तिलोयपण्णत्ती करणानुयोग का महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें तीन लोक का और त्रेशठशलाका महापुरुषों का परिचयात्मक प्रतिपादन किया गया है। सन् १९८४, १९८६ और १९८८ मे क्रमश: इसके तीनो भाग प्रकाशित हो चुके थे। सन् १९८४ मे प्रकाशित हुए इस प्रथम भाग की ४८० प्रतियाँ प्रेस से उठाकर व्यवस्थापकजी (जो उस समय इसके प्रकाशन की व्यवस्था कर रहे थे) ने कही सुरक्षित रख दी थी। इन ८ वर्षों मे अनेक महापुरुषो ने अनेक पुरुषार्थ कर लिये किन्तु वे प्रतियाँ सुरक्षागृह से बाहर न आ सकी। प्रथम भाग के बिना द्वितीय और तृतीय भाग की उपयोगिता पर प्रश्नचिह्न लग गया, अत. प्रथम भाग का यह दूसरा सस्करण प्रकाशित किया जा रहा है.

"जो होता अच्छे के लिए" इस नीति के अनुसार इस भाग का यह पुनर्मुद्रण अनेक दृष्टियो से उत्तम ही रहा, क्योकि जब सर्वप्रथम इस ग्रन्थ का कार्य हाथ मे लिया था, उस समय यही भाव था कि पूर्व सम्पादकद्वय (प्रो० हीरालालजी जैन एव प्रो० ए. एन उपाध्ये) एवं हिन्दी अनुवादकर्त्ता प० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री के अथक और श्लाघनीय परिश्रम को सुरक्षित रखना है, अत: गणित के अतिरिक्त इसमे अन्य किसी प्रकार का सशोधन एव सवर्धन नही करना है। इसीलिए अपने कार्य के लिए पुरानी प्रकाशित प्रति को मूल आधार बना कर कार्यारम्भ किया था, किन्तु जैसे जैसे ग्रन्थ के हार्द में प्रवेश होता गया वैसे-वैसे त्रुटित पाठो का अनुभव होता गया तब श्रीमूडबिद्री-जैनबिद्री के भट्टारक महोदय जी से सम्पर्क बनाया। पुण्योदय से वहाँ की पुरानी ताडपत्रीय प्रतियो से पाठभेद और (जैनबिद्री से) देवनागरी भाषा मे की हुई पूरी मूल कॉपी होकर आई। तब तक इस प्रथमभाग का मैटर प्रेस मे जा चुका था तथा कुछ छप भी चुका था। प्रेस से मैटर पुन मगवाया गया और तब जैनबिद्री की प्रति को मूलाधार बनाकर सशोधन भी किया गया। इस प्रक्रिया मे अनेक अशुद्धियाँ रह गयी थी जो इस सस्करण मे यथाशक्य सुधारी गयी है। मेरे ही हाथो इस महान् कृति का पुन सशोधन हो गया, इसका मुझे असीम हर्ष है। इस सशोधन मे आर्यिका १०५ श्री प्रशान्तमती जी का अपूर्व सहयोग प्राप्त हुआ है। उनका क्षयोपशम निरन्तर वृद्धिगत होता रहे, यही मेरी आन्तरिक भावना है।

दूसरे-तीसरे भाग की भाँति इस भाग मे भी कुछ स्थल विचारणीय है, जो विद्वज्जनो द्वारा चिन्तनीय है—

विचारणीय स्थल—

(१) प्रथमाधिकार पृ० १५, १६, गा० ६८, ६९

गा ६८, ६९ मे कहा गया है कि चतुर्थ काल के अन्तिम भाग मे ३३ वर्ष, ८½ माह शेष रहने पर श्रावण मास कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा का प्रात. धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई। यह गणित कैसे ठीक बैठेगा ? क्योकि--

वीर जिनेन्द्र को वैशाख शुक्ला दशमी को केवलज्ञान हुआ था। उसी वैशाख शुक्ला दशमी को २६ वर्ष पूर्ण हो जाने के ५ मास, २० दिन बाद अर्थात् कार्तिक कृष्णा अमावस्या को भगवान निर्वाण पधारे। उस समय चतुर्थ काल के ३ वर्ष, ८½ मास अवशेष थे। इन दोनों कालों को जोड़ देने पर ज्ञात होता है कि चतुर्थकाल के (२६ वर्ष, ५ मास, २० दिन + ३ वर्ष, ८ मास, १५ दिन =) ३३ वर्ष, २ मास और ५ दिन शेष रहने पर केवलज्ञान की उत्पत्ति होनी चाहिए। केवलज्ञान होने के बाद ६६ वे दिन दिव्यध्वनि खिरी, अत: उपर्युक्त ३३ वर्ष, २ मास, ५ दिन में से (६५ दिन के ये) २ मास, ५ दिन घटा देने पर ३३ वर्ष शेष रहते हैं, अत. चतुर्थकाल के ३३ वर्ष शेष रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई, ऐसा लगता है।

यह विषय विद्वज्जनो द्वारा विचारणीय है।

(२) प्रथमाधिकार पृ० २३, २४। गा० १०७ से --

उत्सेधागुल, प्रमाणागुल और आत्मांगुल के लक्षण कह कर गा० ११० में मनुष्यो आदि के शरीर एव उनके निवासस्थानो का माप उत्सेधागुल से कहा गया है, तथा गाथा १११ मे द्वीप, समुद्र आदि का माप प्रमाणागुल से कहा गया है किन्तु चतुर्थाधिकार की गाथा ५१ से ५६ पर्यन्त जम्बूद्वीप की सूक्ष्म परिधि का प्रमाण निकालते हुए और गाथा ७२४ से ७४० पर्यन्त समवसरण, तत्रस्थित सोपानो, वीथियों एव वेदियो आदि का प्रमाण बताते हुए सर्वत्र योजनो के कोस बनाने हेतु ४ (कोस) का ही गुणा किया गया है। सो कैसे ?

नोट—यह उपर्युक्त शका तिलोयपण्णत्ती भाग दो आद्यमिताक्षर पृ. १२ पर दी गयी थी। इसका समाधान तिलोयपण्णत्ती भाग तीन पृ० १२ पर प्रकाशित हुआ है, जो इस प्रकार है—

जिन-जिन वस्तुओ के माप में इन भिन्न-भिन्न अगुलो का प्रयोग करना है, उनका निर्देश आचार्यश्री ने इसी अधिकार की गा० ११० से ११३ तक किया है। इस निर्देशानुसार जिस वस्तु के माप का कथन हो सके उसी प्रकार के अगुल से माप लेना चाहिए। जिस प्रकार १० पैसे, १० चवन्नी और १० रुपयो मे १० का गुणा करने पर क्रमश: १०० पैसे, १०० चवन्नी और १०० रुपये आवेगे। उसी प्रकार ¾ उत्सेधयोजन, ¾ प्रमाणयोजन और ¾ आत्मयोजन के कोस बनाने के लिए ४ का गुणा करने पर क्रमश: ३ उत्सेध कोस, ३ प्रमाण कोस और ३ आत्म कोस प्राप्त होगे।

इससे यह सिद्ध हुआ कि लघुयोजन और महायोजन के मध्य जो अनुपात होगा वही अनुपात यहाँ उत्सेध कोस और प्रमाण कोस के मध्य होगा। वही अनुपात उत्सेधागुल और प्रमाणागुल के बीच होगा।

आचार्यों ने भी इसी प्रकार के माप दिये है। यथा—

तिलोयपण्णत्ती भाग १ अधिकार २ रा पृ० २५२, गाथा ३१६ 'उच्छेह-जोयणाणि सत्त'
" " " ३ " ७ वां " २६२, " २०१ 'चत्तारि पमाणअगुलाण'
" " " ३ " ७ वां " ३१२, " २७३ 'चत्तारि पमाण-अगुलाणि'

धवल ४/४० चरम पंक्ति, उत्सेध-घनांगुल ।
धवल ४/४१ १०वी पंक्ति, प्रमाणघनांगुल ।
धवल ४/३४, ३५ प्रमाणघनांगुल ।
धवल ४/३४ मूल एवं टीका, उत्सेधयोजन, प्रमाणयोजन आदि ।

यह समाधान श्री पं० जवाहरलालजी सिद्धान्तशास्त्री, भीण्डर के माध्यम से प्राप्त हुआ है ।

(३) **पूज्यपाददेव** ने **सर्वार्थसिद्धि** अ० ४ सूत्र १०-११ मे और **अकलंकदेव** ने **तत्त्वार्थवार्तिक** मे रत्नप्रभा पृथिवी के खर आदि भाग करके, भवनवासी एव व्यन्तर देवो के निवासक्षेत्र का प्रमाण एक लाख योजन बताते हुए भी वहाँ निवास करने वाले देवों का भी विभाजन किया है, यथा— "पङ्कबहुलभागेऽसुरकुमाराणां भवनानि । खरपृथिवीभागे . .. शेष नवाना कुमाराणामावासाः । किन्तु यहाँ अधिकार तीसरा, पृष्ठ २६६, गा० ७-८ मे रत्नप्रभा पृ. के खरभाग और पक भाग ऐसे भेद कहे है और गा. २४ मे क्षेत्र भी एक लाख योजन ही ग्रहण किया है किन्तु देवो के निवास का विभाग **"दुग-बादाल-सहस्सा, लक्खमधोधो खिदीए गंतूण भवणाणि होंति"** गा. २४ पृ २७२ के द्वारा चित्रा पृ मे २००० यो. नीचे, चित्रा से ही ४२००० योजन नीचे और चित्रा से ही १००००० योजन नीचे भवनवासी देवो के निवास का कथन किया है ।

इसी प्रकार भाग ३ अधिकार ६ पृ २१६ गा ५ मे व्यन्तरदेवो के निवासक्षेत्र का प्रमाण १ राजू × १ राजू × १९९००० योजन कहा है ।

अन्य ग्रन्थो के सदृश जब पूज्य यतिवृषभाचार्य को खर और पक भागो मे देवो का निवास इष्ट नही था तब अधिकार ३ पृ २६६ गा ७-८ मे इनके खर आदि भेद क्यो कहे, यह बात समझ मे नही आई । •

चतुर्थकालीन निर्लोभ वृत्ति एव परिश्रम की प्रतिमूर्ति **डॉ. श्री चेतनप्रकाशजी पाटनी (जोधपुर)** की सत्प्रेरणा और लगन के फलस्वरूप ही यह द्वितीय सस्करण इतना शीघ्र समाज के समक्ष आ सका है ।

श्रीमान् दानशील निर्मलकुमारजी सेठी 'सेठी ट्रस्ट' से ही इसका प्रकाशन करा रहे है । माँ सरस्वती की सेवा करने वाले अतिशीघ्र निर्मलज्ञान के भाजन बने, यही मेरी हार्दिक भावना है ।

बुद्धि अल्प और विषय गहन होने मे त्रुटियाँ रह जाना सम्भव है, अत परम पूज्य गुरुजन एव विद्वज्जन ग्रन्थ को शुद्ध करके ही अर्थ ग्रहण करे । भद्रं भूयात् ।

म २०४९ **आर्यिका विशुद्धमती**
फाल्गुन अष्टाह्निका दि० ७.३.९३

आद्यमिताक्षर

वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी भगवान जिनेन्द्र के मुखारविन्द से निर्गत जिनागम चार अनुयोगों मे सम्विभक्त है। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग की अपेक्षा गणित प्रधान होने से करणानुयोग का विषय जटिलताओ से युक्त होता है।

सिद्धान्त चक्रवर्ती श्री नेमिचन्द्राचार्य विरचित त्रिलोकसार वासना सिद्धि प्रकरणो के कारण दुरूह है। करणानुयोग मर्मज्ञ श्री रतनचन्द जी मुख्तार सहारनपुर वालो की प्रेरणा और सहयोग से इस ग्रन्थ की टीका हुई। इसका प्रकाशन सन् १९७५ मे हुआ था, इसके पूर्व प टोडरमल जी की हिन्दी टीका के अतिरिक्त इस ग्रन्थ की अन्य कोई हिन्दी टीका उपलब्ध नही हुई थी।

श्री सकलकीर्त्याचार्य विरचित सिद्धान्तसार दीपक त्रिलोकसार जैसा कठिन नहीं था, किन्तु यह ग्रन्थ अप्रकाशित था। हस्तलिखित में भी इस ग्रन्थ की कोई टीका उपलब्ध नहीं हुई। हस्तलिखित प्रतियो से टीका करने मे कठिनाई का अनुभव हुआ। इस ग्रन्थ का प्रकाशन सन् १९८१ मे हो चुका था।

तिलोयपण्णत्ती मे त्रिलोकसार सदृश वासना सिद्धि नही है फिर भी ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय सरल नही है। इस ग्रन्थ के (प्रथम और पचम) ये दो अधिकार अत्यधिक कठिन है। सन् १९७५ मे श्री रतनचन्द्र जी मुख्तार से प्रथमाधिकार की कठिन-कठिन ८३ गाथाएँ समझ कर आकृतियों सहित नोट कर ली थी। मन बार-बार कह रहा था कि इन गाथाओ का यह सरलार्थ यदि प्रकाशित हो जाय तो स्वाध्याय सलग्न भव्यो को विशेष लाभ प्राप्त हो सकता है, इसी भावना से सन् १९७७ में जीवराज ग्रन्थमाला को लिखाया कि यदि तिलोयपण्णत्ती का दूसरा संस्करण छप रहा हो तो सूचित करें, उसमे कुछ गाथाओं का गणित स्पष्ट करके छापना है, किन्तु सस्था से दूसरा सस्करण निकला ही नहीं। इसी कारण टीका के भाव बने और २२।११।१९८१ को टीका प्रारम्भ की तथा १६।२।८२ को दूसरा अधिकार पूर्ण कर प्रेस मे भेज दिया। पूर्व सम्पादकों का श्रम यथावत् बना रहे इस उद्देश्य से गाथार्थ यथावत् रखकर मात्र गणित की जटिलताएँ सरल की। इनमे भी पॉच-सात गाथाओ की सदृष्टियो का अर्थ बुद्धिगत नही हुआ फिर भी कार्य सतत् चलता रहा और २०।३।८२ तृतीयाधिकार भी पूर्ण हो गया, किन्तु इसकी भी तीन चार गाथाएँ स्पष्ट नहीं हुई। चतुर्थाधिकार की ५६ गाथा से आगे तो लेखनी चली ही नहीं, अत कार्य बन्द करना पडा।

समस्या के समाधान हेतु स्वस्ति श्री भट्टारक जी मूडविद्री से सम्पर्क साधा। वहॉ से कुछ पाठ भेद आये उससे भी समाधान नही हुआ। अनायास स्वस्ति श्री कर्मयोगी भट्टारक चारुकीर्ति जी जैनविद्री का सम्पर्क हुआ, वहॉ से पूरे ग्रन्थ की लिप्यन्तर प्रति प्राप्त हुई जिसमें अनेक बहुमूल्य पाठभेद और

छूटी हुई ११५ गाथाएँ प्राप्त हुई जो इस प्रकार है–

अधिकार –	प्राप्त गाथाएँ	
प्रथम –	३	इन तीन अधिकारो का प्रथम खण्ड है। इस खण्ड मे ४५ चित्र और १९ तालिकाएँ है।
द्वितीय –	४	
तृतीय –	१९	
चतुर्थ –	५५	चतुर्थ अधिकार का दूसरा खण्ड है, इसमें ३० चित्र और ४६ तालिकाएँ है।
पचम–	२	इन पॉच अधिकारो का तृतीय खण्ड है। इस खण्ड मे १५ चित्र और ३३ तालिकाएँ है।
षष्ठ –	०	
सप्तम–	५	
अष्टम–	२३	
नवम–	४	

इस पूरे ग्रन्थ मे नवीन प्राप्त गाथाएँ ११५, चित्र ९० और तालिकाएँ ९५ है। पाठ भेद अनेक है। पूरे ग्रन्थ में अनुमानत ५२-५३ विचारणीय स्थल है, जो दूसरे एव तीसरे खण्ड के प्रारम्भ मे दिये गये है। ग्रन्थ प्रकाशित हुए लगभग नौ वर्ष हो चुके है किन्तु इन विचारणीय स्थलो का एक भी समाधान प्राप्त नही हुआ।

बुद्धिपूर्वक सावधानी बरतते हुए भी **'को न विमुह्यति शास्त्र समुद्रे'** नीत्यानुसार अशुद्धियॉ रहना स्वाभाविक है।

इस द्वितीय सस्करण के प्रकाशन के प्रेरणा सूत्र परमपूज्य १०८ श्री उपाध्याय ज्ञान सागर जी के चरणो में सविनम्र नमोऽस्तु करते हुए मै आपका आभार मानती हूँ।

इस सस्करण को श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा की कार्यकारिणी ने अपनी ओर से प्रकाशित कराया है। सभी कार्यकर्त्ताओ को मेरा शुभाशीर्वाद।

आर्यिका विशुद्धमति

दि २७ ६ १९९७

अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, आर्षमार्गपोषक

परम पू० १०५ आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी

[संक्षिप्त जीवन-वृत्त]

गेहुँआ वर्ण, मझोला कद, अनतिस्थूल शरीर, चौडा ललाट, भीतर तक झाँकती सी ऐनक धारण की हुई आँखे, हित-मित-प्रिय स्पष्ट बोल, सयमित सधी चाल और सौम्य मुखमुद्रा—बस, यही है उनका **अंगन्यास** ।

नंगे पाँव, लुञ्चितसिर, धवल शाटिका, मयूरपिच्छिका—बस, यही है उनका **वेष-विन्यास** ।

विषयाशाविरक्त, ज्ञानध्यान-तप-जप मे सदा निरत, करुणासागर, परदु:ख-कातर, प्रवचनपटु, नि:स्पृह, समता-विनय-धैर्य और सहिष्णुता की साकारमूर्ति, भद्रपरिणामी, साहित्य-सृजनरत, साधना मे वज्र से भी कठोर, वात्सल्य मे नवनीत से भी मृदु, आगमनिष्ठ, गुरुभक्तिपरायण, प्रभावनाप्रिय— बस, यही है उनका **अन्तर आभास** ।

जूली और जया, जानकी और जेबुन्निसा सबके जन्मो का लेखा-जोखा नगरपालिकायें रखती है पर कुछ ऐसी भी है जिनके जन्म का लेखा-जोखा राष्ट्र, समाज और जातियों के इतिहास स्नेह और श्रद्धा मे अपने अक मे सुरक्षित रखते हैं। वि० सं० १९८६ की चैत्र शुक्ला तृतीया को रीठी (जबलपुर, म० प्र०) मे जन्मी वह बाला सुमित्रा भी ऐसी ही रही है—जो आज है आर्यिका विशुद्धमती माताजी ।

इस शताब्दी के प्रसिद्ध सन्त पूज्य श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी के निकट सम्पर्क से सस्कारित धार्मिक गोलापूर्व परिवार मे सद्गृहस्थ पिताश्री लक्ष्मणलाल जी सिंघई एव माता सौ० मथुराबाई की पाँचवी सन्तान के रूप मे सुमित्राजी का पालन-पोषण हुआ। घूँटी मे ही दयाधर्म और सदाचार के संस्कार मिले। फिर थोडी पाठशाला की शिक्षा, बस, सब कुछ सामान्य, विलक्षणता का कहीं कोई चिह्न नही। आयु के पन्द्रह वर्ष बीतते-बीतते पास के ही गाँव बाकल मे एक घर की वधू बनकर सुमित्राजी ने पिता का घर छोड़ा। इनने सामान्य जीवन को लखकर तब कैसे कोई अनुमान कर लेता कि यह बालिका एक दिन ठोस आगमज्ञान प्राप्त करके स्व-पर-कल्याण के पथ पर आरूढ़ हो स्त्री-पर्याय का उत्कृष्ट पद प्राप्त कर लेगी।

सच है, कर्मों की गति बड़ी विचित्र होती है । चन्द्रमा एवं सूर्य का राहु और केतु नामक ग्रह-विशेष से पीड़ा, सर्प तथा हाथी को भी मनुष्यों के द्वारा बन्धन और विद्वद्जन की दरिद्रता देखकर अनुमान लगाया जाता है कि नियति बलवान है और फिर काल ! काल तो महाक्रूर है ! 'अपने मन कछु और है विधना के कछु और'। दैव दुर्विपाक से सुमित्राजी के विवाह के कुछ ही समय बाद उन्हें सदा के लिए मातृ-पितृ-वियोग हुआ' और विवाह के डेढ वर्ष के भीतर ही कन्या-जीवन के लिए अभिशापस्वरूप वैधव्य ने आपको आ घेरा ।

अब तो सुमित्राजी के सम्मुख समस्याओं से घिरा सुदीर्घ जीवन था । इष्ट (पति और माता-पिता) के वियोग से उत्पन्न हुई असहाय स्थिति बड़ी दारुण थी । किसके सहारे जीवन-यात्रा व्यतीत होगी ? किस प्रकार निश्चित जीवन मिल सकेगा ? अवशिष्ट दीर्घजीवन का निर्वाह किस विधि होगा ? इत्यादि नाना प्रकार की विकल्प-लहरियाँ मानस को मथने लगी । भविष्य प्रकाशविहीन प्रतीत होने लगा । ससार मे शीलवती स्त्रियाँ धैर्यशालिनी होती हैं, नाना प्रकार की विपत्तियो को वे हँसते-हँसते सहन करती हैं । निर्धनता उन्हे डरा नही सकती, रोगशोकादि से वे विचलित नही होती परन्तु पतिवियोगसदृश दारुण दुःख का वे प्रतिकार नही कर सकती है । यह दुःख उन्हे असह्य हो जाता है । ऐसी दुःखपूर्ण स्थिति मे उनके लिए कल्याण का मार्ग दर्शाने वाले विरल ही होते हैं और सम्भवतया ऐसी ही स्थिति के कारण उन्हें 'अबला' भी पुकारा जाता है । परन्तु सुमित्राजी मे आत्मबल प्रगट हुआ, उनके अन्तरंग में स्फुरणा हुई कि इस जीव का एक मात्र सहायक या अवलम्बन धर्म ही है । **'धर्मो रक्षति रक्षितः'** । अपने विवेक से उन्होने सारी स्थिति का विश्लेषण किया और 'शिक्षार्जन' कर स्वावलम्बी (अपने पाँवो पर खड़े) होने का सकल्प लिया । भाइयो— श्री नीरज जी और श्री निर्मल जी, सतना—के सहयोग से केवल दो माह पढ कर प्राइमरी की परीक्षा उत्तीर्ण की । मिडिल का त्रिवर्षीय पाठ्यक्रम दो वर्ष मे पूरा किया और शिक्षकीय प्रशिक्षण प्राप्त कर अध्यापन की अर्हता अर्जित की और अनन्तर सागर के उसी महिलाश्रम मे जिसमे उनकी शिक्षा का श्रीगणेश हुआ था—अध्यापिका बनकर सुमित्राजी ने स्व + अवलम्बन के अपने सकल्प का एक चरण पूर्ण किया ।

सुमित्राजी ने महिलाश्रम (विधवाश्रम) का सुचारु रीत्या सचालन करते हुए करीब बारह वर्ष पर्यन्त प्रधानाध्यापिका का गुरुतर उत्तरदायित्व भी सँभाला । आपके सद्प्रयत्नों से आश्रम मे श्री पार्श्वनाथ चैत्यालय की स्थापना हुई । भाषा और व्याकरण का विशेष अध्ययन कर आपने भी 'साहित्यरत्न' और 'विद्यालंकार' की उपाधियाँ अर्जित की । विद्वद्शिरोमणि डॉ० प० पन्नालाल जी साहित्याचार्य का विनीत शिष्यत्व स्वीकार कर आपने 'जैन सिद्धान्त' मे प्रवेश किया और धर्म विषय में 'शास्त्री' की परीक्षा उत्तीर्ण की । अध्यापन और शिक्षार्जन की इस सलग्नता ने सुमित्रा जी के जीवनविकास के नये क्षितिजों का उद्घाटन किया । शनैःशनैः उनमे 'ज्ञान का फल' अंकुरित होने लगा । एक सुखद सयोग ही समझिये कि सन् १९६२ मे परमपूज्य परमश्रद्धेय (स्व०)

आचार्यश्री धर्मसागर जी महाराज का वर्षायोग सागर में स्थापित हुआ। आपकी परम निरपेक्षवृत्ति और शान्त सौम्य स्वभाव से सुमित्राजी अभिभूत हुईं। संघस्थ प्रवरवक्ता पूज्य १०८ (स्व०) श्री सन्मतिसागर जी महाराज के मार्मिक उद्बोधनों से आपको असीम बल मिला और आपने स्व + अवलम्बन के अपने सकल्प के अगले चरण की पूर्ति के रूप में चरित्र का मार्ग अंगीकार कर सप्तम प्रतिमा के व्रत ग्रहण किये।

विक्रम संवत् २०२१, श्रावण शुक्ला सप्तमी, दि० १४ अगस्त, १९६४ के दिन परम पूज्य तपस्वी, अध्यात्मवेत्ता, चारित्रशिरोमणि, दिगम्बराचार्य १०८ श्री शिवसागरजी महाराज के पुनीत कर-कमलो से ब्रह्मचारिणी सुमित्राजी की आर्यिका दीक्षा अतिशयक्षेत्र पपौराजी (म० प्र०) मे सम्पन्न हुई। अब से सुमित्राजी 'विशुद्धमती' बनी। बुन्देलखण्ड मे यह दीक्षा काफी वर्षों के अन्तराल से हुई थी अत. महती धर्मप्रभावना का कारण बनी।

आचार्यश्री के सघ मे ध्यान और अध्ययन की विशिष्ट परम्पराओं के अनुरूप नवदीक्षित आर्यिकाश्री के नियमित शास्त्राध्ययन का श्रीगणेश हुआ। सघस्थ परम पूज्य आचार्यकल्प श्रुतसागर जी महाराज ने द्रव्यानुयोग और करणानुयोग के ग्रन्थो मे आर्यिकाश्री का प्रवेश कराया। अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी पूज्य अजितसागरजी महाराज ने न्याय, साहित्य, धर्म और व्याकरण के ग्रन्थो का अध्ययन कराया। जैन गणित के अभ्यास मे और षट्खण्डागम सिद्धान्त के स्वाध्याय मे ब्र० प० रतनचन्दजी मुख्तार आपके सहायक बने। सतत परिश्रम, अनवरत अभ्यास और सच्ची लगन के बल पर पूज्य माताजी ने विशिष्ट ज्ञानार्जन कर लिया। यहाँ इस बात का उल्लेख करना अप्रासगिक न होगा कि दीक्षा के प्रारम्भिक वर्षों मे आहार मे निरन्तर अन्तराय आने के कारण आपका शरीर अत्यन्त अशक्त और शिथिल हो चला था पर शरीर में बलवती आत्मा का निवास था। श्रावकों—वृद्धो की ही नही अच्छी आँखों वाले युवको की लाख सावधानियो के बावजूद भी अन्तराय आहार मे बाधा पहुँचाते रहे। आर्यिकाश्री की कडी परीक्षा होती रही। असाता के शमन के लिए अनेक लोगो ने अनेक उपाय करने के सुझाव दिये, आचार्यश्री ने कर्मोपशमन के लिए वृहत्शातिमंत्र का जाप करने का सकेत किया पर आर्यिकाश्री का विश्वास रहा है कि समताभाव से कर्मो का फल भोगकर उन्हे निर्जीर्ण करना ही मनुष्यपर्याय की सार्थकता है, ज्ञान की सार्थकता है। आपकी आत्मा उस विषम परिस्थिति मे भी विचलित नही हुई, कालान्तर मे वह उपद्रव कारण पाकर शमित हो गया। पर इस अवधि मे भी उनका अध्ययन सतत जारी रहा। आर्यिकाश्री द्वारा की गई **'त्रिलोकसार'** की टीका के प्रकाशन के अवसर पर परम पूज्य १०८ श्री अजितसागर जी महाराज ने आशीर्वाद देते हुए लिखा—

"सागर महिलाश्रम की अध्ययनशीला प्रधानाध्यापिका सुमित्राबाई ने अतिशयक्षेत्र पपौरा में आर्यिका दीक्षा धारण की थी। तत्पश्चात् कई वर्षो तक अन्तरायो के बाहुल्य के कारण शरीर से

अस्वस्थ रहते हुए भी वे धर्मग्रन्थों के पठन में प्रवृत्त रही। आपने चारों ही अनुयोगों के निम्नलिखित ग्रन्थों का गहन अध्ययन किया है। **करणानुयोग**—सिद्धान्तशास्त्र धवल (१६ खण्ड), महाधवल, (दो खण्डो का अध्ययन हो चुका है, तीसरा खण्ड चालू है।) **द्रव्यानुयोग**—समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पचास्तिकाय, इष्टोपदेश, समाधिशतक, आत्मानुशासन, वृहद्द्रव्यसंग्रह! **न्यायशास्त्रों** में न्यायदीपिका, परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला। **व्याकरण** मे कातन्त्र रूप माला, कलापव्याकरण जैनेन्द्र लघुवृत्ति, शब्दार्णवचन्द्रिका। **चरणानुयोग**—रत्नकरण्ड श्रावकाचार, अनगार धर्मामृत, मूलाराधना, आचारसार, उपासकाध्ययन। **प्रथमानुयोग**—सम्यक्त्व कौमुदी, क्षत्रचूडामणि, गद्य चिन्तामणि, जोवन्धरचम्पू, उत्तरपुराण, हरिवशपुराण, पद्मपुराण आदि।"

(त्रिलोकसार: पृ० ६)

इस प्रकार पूज्य माताजी ने इस अगाध आगम-वारिधि का अवगाहन कर अपने ज्ञान को प्रौढ बनाया है और उसका फल अब हमे साहित्यसृजन के रूप मे उनसे अनवरत प्राप्त हो रहा है। आज तो जंसे 'जिनवाणी की मेवा' ही उनका व्रत हो गया है। उन्होने आचार्यो द्वारा प्रणीत करणानुयोग के विशालकाय प्राकृत-सस्कृत ग्रन्थो की सचित्र सरल सुबोध भाषाटीकाये लिखी है, साथ ही सामान्यजनोपयोगी अनेक छोटी-बड़ी रचनाओ का भी प्रकाशन किया है। उनके द्वारा प्रणीत साहित्य की सूची इसप्रकार है—

भाषा टीकाएँ—१ सिद्धान्तचक्रवर्ती नेमिचन्द्राचार्य विरचित **त्रिलोकसार** की हिन्दी टीका।
२ भट्टारक सकलकीर्ति विरचित **सिद्धान्तसार दीपक** की हिन्दी टीका।
३ परम पूज्य यतिवृषभाचार्य विरचित **तिलोयपण्णत्ती** की सचित्र हिन्दी टीका (तीन खण्डो मे)

मौलिक रचनाएँ—१. श्रुतनिकुञ्ज के किंचित् प्रसून (व्यवहार रत्नत्रय की उपयोगिता)
२. गुरु गौरव ३. श्रावक सोपान और बारह भावना
४. धर्मप्रवेशिका प्रश्नोत्तरमाला ५. धर्मोद्योत प्रश्नोत्तरमाला
६. आनन्द की पद्धति अहिंसा ७ निर्माल्यग्रहण पाप है
८ आचार्य महावीरकीर्ति स्मृति ग्रन्थ एक अनुशीलन

संकलन—१. शिवसागर स्मारिका २ आत्मप्रसून ३. वास्तुविज्ञानपरिचय

सम्पादन—१. समाधिदीपक २. श्रमणचर्या ३. दीपावली पूजनविधि
४ श्रावक सुमनसंचय ५ स्तोत्रसग्रह ६. श्रावकसोपान
७. आर्यिका आर्यिका है, श्राविका नही ८. सस्कार ज्योति ९. छहढाला
१०. क्षपणासार (हिन्दी टीका) ११. पाक्षिक श्रावक प्रतिक्रमण सामायिक विधि १२. वृहद् सामायिक पाठ एव व्रती श्रावक प्रतिक्रमण,
१३ जैनाचार्य शान्तिसागर जी महाराज का सक्षिप्त जीवनवृत्त।
१४ आचार्य शान्तिसागर चरित्र
१५. ऐसे थे चारित्र चक्रवर्ती

१६ शान्तिधर्मप्रदीप अपरनाम दान विचार
१७ नारी ! बनो सदाचारी
१८ वत्थुविज्जा (गृहनिर्माण कला)

अब तक आपने पपौरा, श्रीमहावीरजी, कोटा, उदयपुर, प्रतापगढ, टोडारायसिंह, भीण्डर, अजमेर, निवाई, किशनगढ रेनवाल, सवाईमाधोपुर, सीकर, कूण, भीलवाडा, अरिगन्दा, फलासिया आदि स्थानों पर वर्षायोग सम्पन्न किये हैं। टोडारायसिंह, उदयपुर, रेनवाल, निवाई में आपके क्रमशः दो, पाँच, दो और तीन बार चातुर्मास हो चुके हैं। सर्वत्र आपने महती धर्मप्रभावना की है और श्रावकों को सन्मार्ग मे प्रवृत्त किया है। श्री शान्तिवीर गुरुकुल, जोबनेर को स्थायित्व प्रदान करने के लिए आपकी प्रेरणा से श्री दि० जैन महावीर चैत्यालय का नवीन निर्माण हुआ है और वेदीप्रतिष्ठा भी हुई है। जनधन एव आवागमन आदि अन्य साधनविहीन अलयादी ग्राम स्थित जिनमन्दिर का जीर्णोद्धार, नवीन जिनबिम्ब की रचना, नवीन वेदी का निर्माण एवं वेदी प्रतिष्ठा आपके ही सद्प्रयत्नो का फल है। श्री दि० जैन धर्मशाला, टोडारायसिह का नवीनीकरण एवं अशोकनगर, उदयपुर मे श्री शिवसागर सरस्वती भवन का निर्माण आपके मार्गदर्शन का ही सुपरिणाम है।

श्री ब्र० सूरजबाई मु० डचोढी (जयपुर) की क्षुल्लिका दीक्षा, ब्र० मनफूलबाई (टोडारायसिह) को आठवी प्रतिमा एव श्री कजोड़ीमल जी कामदार (जोबनेर) को दूसरी प्रतिमा के व्रत आपके करकमलो से प्रदान किये गये हैं।

शास्त्रसमुद्र का आलोडन करने वाली पूज्य माताजी की आगम में अटूट आस्था है। क्षुद्र भौतिक स्वार्थों के लिए सिद्धान्तो को अपने अनुकूल तोडमोड कर प्रस्तुत करने वाले आपकी दृष्टि मे अक्षम्य है। सज्जातित्व मे आपकी पूर्ण निष्ठा है। विधवाविवाह और विजातीय विवाह आपकी दृष्टि मे कथमपि शास्त्रसम्मत नही है। **आचार्य सोमदेव** की इस उक्ति का आप पूर्ण समर्थन करती है –

स्वकीयाः परकीयाः वा मर्यादालोपिनो नराः।
नहि माननीय तेषां तपो वा श्रुतमेव च॥

अर्थात् स्वजन से या परजन से, तपस्वी हो या विद्वान् हो किन्तु यदि वह मर्यादाओ का लोप करने वाला है तो उसका कहना भी नही मानना चाहिए। (**धर्मोद्योत प्रश्नोत्तर माला** तृतीय संस्करण पृ० ६६ से उद्धृत)

पूज्य माताजी स्पष्ट और निर्भीक धर्मोपदेशिका है। जनानुरजन की क्षुद्रवृत्ति को आप अपने पास फटकने भी नही देती। अपनी चर्या मे '**वज्रादपि कठोराणि**' है तो दूसरो को धर्ममार्ग मे लगाने के लिए '**मृदूनि कुसुमादपि**'। ज्ञानपिपासु माताजी सतत ज्ञानाराधना मे सलग्न रहती हैं और तदनुसार आत्म-परिष्कार मे आपकी प्रवृत्ति चलती है। '**सिद्धान्तसार दीपक**' की प्रस्तावना मे परमादरणीय **पं. पन्नालालजी साहित्याचार्य** ने लिखा है—"माताजी की अभीक्षण ज्ञानाराधना और उसके फलस्वरूप प्रकट हुए क्षयोपशम के विषय मे क्या लिखूँ ? अल्पवय मे प्राप्त वैधव्य का अपार

दुःख सहन करते हुए भी इन्होने जो वैदुष्य प्राप्त किया है, वह साधारण महिला के साहस की बात नही है। ... ये सागर के महिलाश्रम मे पढती थी। मै धर्मशास्त्र और संस्कृत का अध्ययन कराने प्रातः काल ५ बजे जाता था। एक दिन गृहप्रबन्धिका ने मुझसे कहा कि रात में निश्चित समय के बाद आश्रम की ओर से मिलने वाली लाइट की सुविधा जब बन्द हो जाती है तब ये खाने के घृत का दीपक जलाकर चुपचाप पढती रहती है और भोजन घृतहीन कर लेती है। गृहप्रबन्धिका के मुख से इनकी अध्ययनशीलता की प्रशंसा सुन जहाँ प्रसन्नता हुई, वहाँ अपार वेदना भी हुई। प्रस्तावना की ये पंक्तियाँ लिखते समय वह प्रकरण स्मृति मे आ गया और नेत्र सजल हो गये। लगा कि जिसकी इतनी अभिरुचि है अध्ययन मे, वह अवश्य ही होनहार है।.......... त्रिलोकसार की टीका लिखकर प्रस्तावना-लेख के लिए जब मेरे पास मुद्रित फर्मे भेजे गये तब मुझे लगा कि यह इनके तपश्चरण का ही प्रभाव है कि इनके ज्ञान मे आश्चर्यजनक वृद्धि हो रही है। वस्तुतः परमार्थ भी यही है कि द्वादशाग का जितना विस्तार हम सुनते हैं वह सब गुरुमुख से नहीं पढा जा सकता। तपश्चर्या के प्रभाव से स्वय ही ज्ञानावरण का ऐसा विशाल क्षयोपशम हो जाता है कि जिससे अंग-पूर्व का भी विस्तृत ज्ञान अपने आप प्रकट हो जाता है। श्रुतकेवली बनने के लिए निर्ग्रन्थ मुद्रा के साथ विशिष्ट तपश्चरण का होना भी आवश्यक रहता है।"

दृढ सयमी, आर्ष मार्ग की कट्टर पोषक, निःस्पृह, परम विदुषी, अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी, निर्भीक उपदेशक, आगम मर्मस्पर्शी, मोक्षमार्ग की पथिक, स्व पर-उपकारी पूज्य माताजी के चरणों मे शत-शत नमोस्तु निवेदन करता हूँ और उनके दीर्घ, स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ ताकि उनकी स्याद्वादमयी लेखनी से जिनवाणी का हार्द हमे इसी प्रकार प्राप्त होता रहे और इस विषम काल में हम भ्रान्त जीवो को सच्चा मार्गदर्शन मिलता रहे।

पूज्य माताजी के पुनीत चरणो मे शत-शत वन्दन। इति शुभम्।

—डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी

❋ प्रस्तावना ❋

卐 तिलोयपण्णत्ती : प्रथम खण्ड 卐

(प्रथम तीन महाधिकार)

१. ग्रन्थ-परिचय :

समग्र जैन वाङ्मय प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग रूप से चार अनुयोगों मे व्यवस्थित है। करणानुयोग के अन्तर्गत जीव और कर्म विषयक साहित्य तथा भूगोल-खगोल विषयक साहित्य गर्भित है। वैदिक वाङ्मय और बौद्ध वाङ्मय में भी लोक-रचना से सम्बन्धित बातो का समावेश तो है परन्तु जैसे स्वतन्त्र ग्रन्थ जैन परम्परा मे उपलब्ध हैं, वैसे उन परम्पराओ मे नही देखे जाते।

तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) करणानुयोग के अन्तर्गत लोकविषयक साहित्य की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। यह प्राकृत भाषा मे लिखी गयी है। यद्यपि इसका प्रधान विषय लोक-रचना का स्वरूप वर्णन है तथापि प्रसगवश धर्म, सस्कृति व पुराण-इतिहास मे सम्बन्धित अनेक बातो का वर्णन इसमे उपलब्ध है।

ग्रन्थकर्त्ता यतिवृषभ ने इस रचना में परम्परागत प्राचीन ज्ञान का सग्रह किया है, न कि किसी नवीन विषय का। ग्रन्थ के प्रारम्भ मे ही ग्रन्थकार ने लिखा है—

मंगलपहुदिच्छक्कं, वक्खारिणय विविह-गंथ-जुत्तीहिं।
जिरणवरमुहरिणक्कंतं, गरणहरदेवेहिं गथित - पदमालं ॥८५॥

सासद-पदमावण्णं, पवाह - रुवत्तणेरण दोसेहिं।
रिणस्सेसेहि विमुक्कं, आइरिय - अणुक्कमाआदं ॥८६॥

भव्व-जणाणंदयरं, वोच्छामि अहं तिलोयपण्णत्ति।
रिणब्भर-भत्ति-पसादिद-वर-गुरु-चलरगाणुभावेरण ॥८७॥

रचनाकार ने कई स्थानो पर यह भी स्वीकार किया है कि इस विषय का विवरण और उपदेश उन्हें परम्परा से गुरु द्वारा प्राप्त नही हुआ है अथवा नष्ट हो गया है। इस प्रकार यतिवृषभाचार्य प्राचीन सम्माननीय ग्रन्थकार हैं। धवलाकार ने तिलोयपण्णत्ती के अनेक उद्धरण अपनी टीका मे उद्धृत किये हैं। आचार्य यतिवृषभ ने एकाधिकबार यह उल्लेख किया है कि 'ऐसा दृष्टिवाद अग मे

निर्दिष्ट है। **इय दिट्ठं दिट्ठिवादम्हि (१/६६), 'वास उदयं भणामो णिस्संदं दिट्ठि-वादादो' (१/१४८)** यह उल्लेख दर्शाता है कि ग्रन्थ का स्रोत दृष्टिवाद नामक अंग है। गौतम गणधर ने तीर्थङ्कर महावीर की दिव्यध्वनि सुनकर द्वादशांग रूप जिनवाणी की रचना की थी। इसमें दृष्टिवाद नामका बारहवाँ अग अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और विशाल था। इस अंग के ५ भेद हैं १. परिकर्म, २. सूत्र, ३. प्रथमानुयोग ४. पूर्वगत और ५ चूलिका। परिकर्म के भी ५ भेद हैं—१. व्याख्याप्रज्ञप्ति, २. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, ३. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ४ सूर्यप्रज्ञप्ति और ५. चन्द्रप्रज्ञप्ति। ये सब ग्रन्थ आज लुप्त है। इनके आधार पर रचित ग्रन्थ इनके अभाव की आंशिक पूर्ति अवश्य करते हैं। तिलोयपण्णत्ती ऐसा ही ग्रन्थ है, बाद के अनेक ग्रन्थ इसके आधार से बने प्रतीत होते है। डॉ हीरालाल जैन के अनुसार "इसकी प्राचीनता के कारण यह अर्धमागधी श्रुताग ग्रन्थों के साथ तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने योग्य है और अन्तत: भारतीय पुरातत्त्व, धर्म एव भाषा के अध्येताओं के लिए इस ग्रन्थ के विविध विषय और इसकी प्राकृत भाषा रोचकता मे रहित नही है।"

सम्पूर्ण ग्रन्थ को रचयिता आचार्य ने योजनापूर्वक नौ महाधिकारो मे सँवारा है—

> **सामण्णजगसरूवं[1], तम्मि ठियं [2]णारयाण लोयं च।**
> **भावण[3]-णर[4]-तिरियाणं[5], वेंतर[6]-जोइसिय[7]-कप्पवासीणं[8] ॥८८॥**
>
> **सिद्धाणं[9] लोगो त्ति य, अहियारे पयद-दिट्ठ-णव भेए।**
> **तम्मि णिबद्धे जीवे, पसिद्ध - वर - वण्णणा - सहिए ॥८९॥**
>
> **वोच्छामि सयलभेदे, भव्वजणाणंद-पसर-संजणणं।**
> **जिणमुहकमलविणिग्गिय - तिलोयपण्णत्ति - णामाए ॥९०॥**

उपर्युक्त नौ महाधिकारों मे अनेक अवान्तर अधिकार है। अधिकाश ग्रन्थ पद्यमय है किन्तु गद्यखण्ड भी आये हैं। प्रारम्भिक मंगलाचरण मे पचपरमेष्ठी का स्तवन हुआ है परन्तु सिद्धो का स्तवन पहले है, अरहन्तो का बाद मे। फिर पहले महाधिकार के अन्त से प्रारम्भ कर प्रत्येक महाधिकार के आदि और अन्त मे क्रमश: एक-एक तीर्थंकर को नमस्कार किया गया है और अन्त मे वर्धमान तक तीर्थंकरो को अन्तिम महाधिकार के अन्त मे नमस्कार किया गया है।

इस ग्रन्थ का **पहली बार सम्पादन** दो भागो में **प्रो० हीरालाल जैन** व **प्रो० ए. एन. उपाध्ये** द्वारा १९४३ व १९५१ मे सम्पन्न हुआ था। **पं० बालचन्द्रजी सिद्धान्तशास्त्री** का मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद भी इसमे है। इसका प्रकाशन **जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर** से **जीवराज जैन ग्रन्थमाला** के प्रथम ग्रन्थ के रूप मे हुआ था। उस समय सम्पादकद्वय का उत्तर भारत की दो ही महत्त्वपूर्ण प्रतियाँ सुलभ हुई थी, अत: उन्हीं के आधार पर तथा अपनी तीक्ष्ण मेधाशक्ति के बल पर उन्होने यह

दुष्कर कार्य सम्पन्न किया था। वे कोटि-कोटि बधाई के पात्र है। इन मुद्रित प्रतियों के होने से हमें वर्तमान संस्करण को प्रस्तुत करने में भरपूर सहायता प्राप्त हुई है, हम उनके अत्यन्त ऋणी हैं। इन मुद्रित प्रतियों में सम्पूर्ण ग्रन्थ का स्थूल रूप इस प्रकार है—

क्रम सं	विषय	अन्तराधिकार	कुल पद्य	गद्य	गाथा के अतिरिक्त छंद	मंगलाचरण
१.	प्रस्तावना व लोक का सामान्य निरूपण	×	२८३	गद्य		पंचपरमेष्ठी/आदि०
२.	नारकलोक	१५ अधि०	३६७	×	४ इन्द्रवज्रा १ स्वागता	अजित/सम्भव०
३	भवनवासीलोक	२४ अधि०	२४३	×	२ इन्द्रवज्रा ४ उपजाति	अभिनदन/सुमति
४	मनुष्यलोक	१६ अधि०	२९६१	गद्य	७ इ. व, २ दोधक २ व ति १शा वि	पद्मप्रभ/सुपार्श्व
५	तिर्यग्लोक	१६ अधि०	३२१	गद्य	—	चन्द्रप्रभ/पुष्पदन्त
६.	व्यन्तरलोक	१७ अधि०	१०३	×	—	शीतल/श्रेयास
७	ज्योतिर्लोक	१७ अधि०	६१९	गद्य	—	वासुपूज्य/विमल
८	देवलोक	२१ अधि०	७०३	गद्य	१ शार्दूलविक्रीडित	अनन्त/धर्मनाथ
९.	सिद्धलोक	५ अधि०	७७	×	१ मालिनी	शाति,कुन्थु/अर से वर्ध

अपनी सीमाओ के बावजूद इसके प्रथम सम्पादको ने जो श्रम किया है वह नूनमेव स्तुत्य है। सम्भव पाठ, विचारणीय स्थल आदि की योजना कर मूल पाठ को उन्होने अधिकाधिक शुद्ध करने का प्रयास किया है। उनकी निष्ठा और श्रम की जितनी सराहना की जाए कम है।

२. टीका व सम्पादन का उपक्रम :

आर्यारत्न १०५ श्री विशुद्धमती माताजी अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी विदुषी साध्वी है। आपने **त्रिलोकसार (नेमिचन्द्राचार्यकृत)** और **सिद्धान्तसारदीपक (भट्टारक सकलकीर्ति)** जैसे महत्त्वपूर्ण विशालकाय ग्रन्थो को विस्तृत हिन्दी टीका प्रस्तुत की है। ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः भगवान महावीर के २५०० वे परिनिर्वाण वर्ष और बाहुबली सहस्राब्दी प्रतिष्ठापना-महामस्तकाभिषेक महोत्सव वर्ष के

पुण्य-प्रसंगों पर प्रकाशित होकर विद्वद्जनों में समादरणीय हुए हैं। इन ग्रन्थों की तैयारियों में कई बार तिलोयपण्णत्ती का अवलोकन करना होता था क्योंकि विषय की समानता है और साथ ही तिलोयपण्णत्ती प्राचीन ग्रन्थ भी है। 'सिद्धान्तसारदीपक' के प्रकाशन के बाद माताजी की यह भावना बनी कि तिलोयपण्णत्ती की अन्य हस्तलिखित प्रतियाँ जुटा कर एक प्रामाणिक सस्करण विस्तृत हिन्दी टीका सहित प्रकाशित किया जाए। आप तभी से अपने संकल्प को मूर्तरूप देने मे जुट गई और अनेक स्थानो से आपने हस्तलिखित प्रतियाँ भी मँगवा ली। पर प्रतियो का मिलान करने से ज्ञात हुआ कि उत्तर भारत की लगभग सभी प्रतियाँ एक सी है। जो कमियाँ दिल्ली और बम्बई की प्रतियो मे है वे ही लगभग सब मे है। अत कुछ विशेष लाभ नहीं दिखाई दिया। अब दक्षिण भारत में प्रतियो के सम्बन्ध मे जानकारी प्राप्त करने की कोशिश की गयी। सयाग से मूडबिद्री मठ के भट्टारक स्वामी ज्ञानयोगी चारुकीर्तिजी का आगमन हुआ। वे उदयपुर माताजी के दर्शनार्थ भी पधारे। माताजी ने तिलोयपण्णत्ती के सम्बन्ध मे चर्चा की तो वे बोले कि मूडबिद्री मे श्रीमती रमा-रानी जैन शोध सस्थान मे प्रतियाँ है पर वे कन्नड लिपि मे है अत वही एक विद्वान् बैठकर पाठान्तर भेजने की व्यवस्था करनी होगी। वहाँ जाकर उन्होने पाठभेद भिजवाये भी परन्तु ज्ञात हुआ कि वहाँ की दोनो प्रतियाँ अपूर्ण है। इन पाठान्तरो मे कुछ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, कुछ छूटी हुई गाथाएँ भी इनमे मिली है अत बडी व्यग्रता थी कि कोई पूर्ण प्रति मिल जाए। खोज के प्रयत्न चलते रहे तभी अशोकनगर उदयपुर मे आयोजित पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव के अवसर पर श्रवणबेलगोला मठ के भट्टारक स्वामी कर्मयोगी चारुकीर्तिजी पधारे। उन्होने बताया कि वहाँ एक पूर्ण प्रति है शीघ्र ही लिप्यन्तरण मँगाने की योजना बनी और वहाँ एक विद्वान् रखकर लिप्यन्तरण मंगाया गया। यह प्रति काफी शुद्ध, विश्वसनीय और प्राचीन है। फलतः इसी प्रति को प्रस्तुत सस्करण की आधार प्रति बनाया गया है। यों अन्य सभी प्रतियो के पाठभेद टिप्पण मे दिये है।

तिलोयपण्णत्ती विशालकाय ग्रन्थ है। पहले यह छोटे टाइप मे दो भागो में छपा है। परन्तु विस्तृत हिन्दी टीका एव चित्रो के कारण इसका कलेवर बहुत बढ जाने से इसे तीन खण्डो मे प्रकाशित करने की योजना बनी। प्रस्तुत कृति (तीन महाधिकारो का) प्रथम खड है। दूसरे खड मे केवल चौथा अधिकार है। तीसरे अर्थात् अंतिम खण्ड मे शेष पाँच अधिकार है।

श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन महासभा इसके प्रकाशन का व्ययभार वहन कर रही है, एतदर्थ हम महासभा के अतीव आभारी है।

पूज्य माताजी का सकल्प आज मूर्त हो रहा है, यह हमारे लिए अत्यन्त प्रसन्नता का विषय है। पूर्णतया समालोचक-दृष्टि से सम्पादित तो नही किन्तु अधिकाधिक प्रामाणिकता पूर्वक

सम्पादित संस्करण प्रकाशित करने का हमारा लक्ष्य आज पूरा हो रहा है, यह आत्मसन्तोष मेरे लिए महार्घ है ।

३. हस्तलिखित प्रतियों का परिचय :

तिलोयपण्णत्ती का प्रस्तुत संस्करण निम्नलिखित प्रतियों के आधार से तैयार किया गया है—

(१) द—दिल्ली से प्राप्त होने के कारण इस प्रति का नाम 'द' प्रति है। इसके मुखपृष्ठ पर 'श्री दिगम्बर जैन सरस्वती भण्डार धर्मपुरा, दिल्ली (लाला हरसुखराय सुगनचदजी) न आ ८ (क) श्री नवामदिरजी' अंकित है। यह १२" × ५" आकार की है। कुल २०४ पत्र है। प्रत्येक पत्र मे १४ पंक्तियाँ है और प्रति पंक्ति मे ५० से ५२ वर्ण हैं। पूरी प्रति काली स्याही से लिखी गयी है। प्रत्येक पृष्ठ का अलंकरण है। एक ओर पृष्ठ के मध्यभाग मे लाल रग का एक वृत्त है, दूसरी ओर तीन वृत्त। एक स्थान पर मध्य मे १६ गाथाये छूट गयी है जो अन्त मे एक स्वतन्त्र पत्र पर लिख दी गयी है, साथ मे यह टिप्पण है –'इति गाहा १६ त्रैलोक्यप्रज्ञप्तौ पश्चात् प्रक्षिप्ता'।" सम्पूर्ण प्रति बहुत सावधानी से लिखी हुई मालूम होती है तो भी अनेक लिपिदोष तो मिलते ही है। देखने मे यह प्रति बम्बई की प्रति से प्राचीन मालूम पडती है।

आरम्भ मे मङ्गल चिह्न के बाद प्रति इस प्रकार प्रारम्भ होती है—ॐ नम सिद्धेभ्य.। प्रति के अन्त मे लिपिकार की प्रशस्ति इस प्रकार है—

प्रशस्तिः स्वस्ति श्री सं० १५१७ वर्षे मार्ग सुदि ५ भौमवारे श्री मूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकश्रीपद्मनंदिदेवास्तत्पट्टे भट्टारकश्रीशुभचन्द्रदेवाः तत्पट्टालङ्कारभट्टारकश्रीजिनचन्द्रदेवाः। मु० श्रीमदनकीर्ति तच्छिष्य ब्रह्मनरस्यंघकस्य खंडेलवालान्वये पाटणीगोत्रे सं० बी धू भार्या बहुश्री तत्पुत्र सा० तिहुणा भार्या तिहुणश्री सुपुत्राः देवगुरु- चरण-कमलसंसेवनमधुकराः द्वादशव्रतप्रतिपालनतत्पराः सा० महिराजभ्रातृ द्यौ राजसुपुत्रजालप। महिराज-भार्या महणश्रीष्यौ राजभार्याष्यौ श्री सहिते त्यः एतद् ग्रन्थं त्रैलोक्यप्रज्ञप्तिसिद्धान्तं लिखाप्य ब्र० नरस्यंघकृते कर्मक्षयनिमित्तः प्रदत्तं ।।छ।।

यावज्जिनेन्द्रधर्मोऽयं लोकेस्मिन् प्रवर्तते ।
या।वत्सुरनदीवाहास्तावन्नन्दतु पुस्तकः ।।१।।

इदं पुस्तकं चिरं नंद्यात् ।।छ।। शुभमस्तु ।। लिखितं पं० नरसिंहेन ।।छ।। श्रीझुंझुणुपुरे लिखितमेतत्पुस्तकम् ।।छ।।

(पूर्व सम्पादन भी इसी प्रति से हुआ था।)

[२] क—कामां (भरतपुर) राजस्थान से प्राप्त होने के कारण इस प्रति का नाम 'क' प्रति है। यह कामां के श्री १००८ शान्तिनाथ दिगम्बर जैन खण्डेलवाल पंचायती दीवान मन्दिर से प्राप्त हुई है। यह १२३/४"×७" आकार की है और इसके कुल पत्रो की सख्या ३१६ है। प्रत्येक पत्र में १३ पंक्तियां हैं। प्रति पक्ति में ३७ से ४० वर्ण हैं। लेखन में काली व लाल स्याही का प्रयोग किया गया है। पानी एवं नमी का असर पत्रो पर हुआ दिखाई देता है तथापि प्रति पूर्णत: सुरक्षित और अच्छी स्थिति में है।

यह बम्बई प्रति की नकल ज्ञात होती है, क्योकि वही प्रशस्ति ज्यो की त्यो लिखी गयी है। लिपिकाल का अन्तर है—

"संवत् १८१४ वर्षे मिती माघ शुक्ला नवम्यां गुरुवारे। इदं पुस्तकं लिपीकृतं कामावती नगर मध्ये। शुभं भूयात् ।। श्रीः।।

[३] ठ इस प्रति का नाम 'ठ' प्रति है। यह डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल के सौजन्य से श्री दिगम्बर जैन सरस्वती भवन, मन्दिरजी ठोलियान, जयपुर से प्राप्त हुई है। इसके वेष्टन पर 'न० ३३२, श्री त्रिलोकप्रज्ञप्ति प्राकृत' अंकित है। प्रति १२३/४"×५" आकार की है। कुल पत्र सख्या २८३ है परन्तु पत्र सख्या ८८ से १०३ और १५१ से २५० प्रति मे उपलब्ध नही है।

पत्र संख्या १ से ८६ तक की लिपि एक सी है। पत्र ८७ एक ओर ही लिखा गया है। दूसरी ओर बिलकुल खाली है। इसके हाशिये मे बाये कोने मे १०३ सख्या अंकित है और दाये कोने मे नीचे हाशिये मे सख्या ८७ अंकित है। यह पृष्ठ अलिखित है।

पत्र सख्या १०४ से १५० और २५१ से २८३ तक के पत्रो की लिपि भी भिन्न-भिन्न है। इस प्रकार इस प्रति मे तीन लिपियां है। प्रति अच्छी दशा मे है। कागज भी मोटा और अच्छा है। पत्र सख्या १०४ से १५० तक के हाशिये मे बायी तरफ ऊपर 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' लिखा गया है। शेष पत्रो मे नही लिखा है।

इसका लिपि काल ठीक तरह से नही पढा जाता। उसे काट कर अस्पष्ट कर दिया है, वह १८३० भी पढा जा सकता है और १८३१ भी। प्रशस्ति भी अपूर्ण है—

संवत् १८३१ चतुर्दशीतिथौ रविवासरे ....
तैलाद्रक्षेद्जलाद्रक्षेत् रक्षेद् शिथिलबन्धनात् ।
मूर्खहस्ते न दातव्या, एवं वदति पुस्तगा ।।छ।। श्री........ श्री
श्री श्री श्री... श्री श्री ... श्री

❀ ❀ ❀

[४] ज—इस प्रति का नाम 'ज' प्रति है। यह भी डॉ० कस्तूरचन्दजी कासलीवाल के सौजन्य से श्री दिगम्बर जैन सरस्वती भवन, मन्दिरजी ठोलियान, जयपुर से प्राप्त हुई है। इसका आकार १३"×५" है। इसमे कुल २०६ पत्र हैं। १८ वे क्रम के दो पत्र है और २१ वाँ पत्र नहीं है अत: गाथा सख्या २२६ से २७२ (प्रथम अधिकार) तक नही है। पृष्ठ २२ तक की लिपि एकसी है, फिर भिन्नता है। पत्र सख्या १८२ भी नही है जबकि १८५ संख्या वाले दो पत्र हैं।

इस प्रति मे प्रशस्ति पत्र नही है।

❀❀❀

[५] य—इस प्रति का नाम 'य' प्रति है। यह श्री दिगम्बर जैन सरस्वती भवन, ब्यावर से प्राप्त हुई है। वहाँ इसका वि० न० १०३६ और जन० न० ····अकित है। यह ११½"×६¼" आकार की है। कुल पत्र २४६ है। प्रत्येक पत्र मे बारह पक्तियाँ हैं और प्रति पक्ति मे ३८-३६ अक्षर है। पत्रो की दशा ठीक है, अक्षर सुपाठ्य है एव सुन्दरतापूर्वक लिखे गये है। 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' से ग्रन्थ का प्रारम्भ हुआ है। अन्त मे प्रशस्ति इस प्रकार लिखी गयी है--

सवत् १७४५ वर्षे शाके १६१० प्रवर्त्तमाने आषाढ वदि ५ पंचमी श्रीशुक्रवासरे। सग्राम-पुरेमथेनविद्याविनोदेनालेखि प्रतिरियं समाप्ता। पं० श्रीबिहारीलालशिष्य घासीरामदयाराम पठनार्थम्।

श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती भवन झालरापाटन इत्यस्यार्थं पन्नालाल सोनीत्यस्य प्रबन्धेन लेखक नेमिचन्द्र माले श्रीपालवासिनालेखि त्रिलोकसार प्रज्ञप्तिरियम्। विक्रमार्के १६६४ तमे वर्षे वैशाखकृष्णपक्षे सप्तम्यां तिथौ रविवासरे।

(फोटोकापी करा कर इसका मात्र चतुर्थाधिकार मगाया गया है)

यहाँ तिलोयपण्णत्ती की एक अन्य हस्तलिखित प्रति और भी है जिसका वि० न० ३८६ और जन० न० ४११ है। इसमे ५१८ पत्र है। पत्र का आकार ११"×४" है। प्रत्येक पत्र मे ६ पक्तियाँ हैं और प्रति पक्ति मे ३१-३२ अक्षर। पत्र जीर्ण हैं, अक्षर विशेष सुपाठ्य नही हैं। 'ॐ नमः सिद्धेभ्य' से ग्रन्थ का लेखन प्रारम्भ हुआ है और अन्त मे लिखा है—

संवत् १७४५ वर्षे शाके १६१० प्रवर्तमाने आषाढ वदि ५ पंचमी श्री शुक्रवासरे। संग्रामपुरे मथेन विद्याविनोदेनालेखि प्रतिरिय समाप्ता।

पं० श्री बिहारीलालशिष्य घासीरामदयारामपठनार्थम्। श्रीरस्तु कल्याणमस्तु।
उपर्युक्त प्रति इसी प्रति की प्रतिलिपि है।

[६] **ब**—बम्बई से प्राप्त होने के कारण इस प्रति का नाम 'ब' प्रति है। श्री ऐलक पन्नालाल जैन सरस्वती भवन, सुखानन्द धर्मशाला बम्बई के सग्रह की है। यह प्रति देवनागरीलिपि

में देशी पुष्ट कागज पर काली स्याही से लिखी गयी है। प्रारम्भिक व समाप्तिसूचक शब्दों, दण्डों, संख्याओं, हाशिये की रेखाओं तथा यत्र-तत्र अधिकारशीर्षकों के लिए लाल स्याही का भी उपयोग किया गया है। प्रति सुरक्षित है और हस्तलिपि सर्वत्र एकसी है।

यह प्रति लगभग ६" चौडी, १२३/४" लम्बी तथा लगभग २१/२" मोटी है। कुल पत्रों की सख्या ३३६ है। प्रथम और अन्तिम पृष्ठ कोरे है। प्रत्येक पृष्ठ मे १० पंक्तियां हैं और प्रतिपक्ति में लगभग ४०–४५ अक्षर है। हाशिये पर शीर्षक है—त्रैलोक्यप्रज्ञप्ति। मगलचिह्न के पश्चात् प्रति के प्रारम्भिक शब्द है—ॐ नमः सिद्धेभ्यः। ३३३वे पत्र पर अन्तिम पुष्पिका है–तिलोयपण्णत्ती समत्ता। इसके बाद सस्कृत के विविध छन्दो मे रचित १२४ श्लोको की एक लम्बी प्रशस्ति है जिसकी पुष्पिका इस प्रकार है—

इति सूरि श्रीजिनचन्द्रान्तेवासिना पण्डितमेधाविना विरचिता प्रशस्ता प्रशस्तिः समाप्ता। संवत् १८०३ का मिती आसोजवदि १ लिखितं मया सागरश्री सवाईजयपुरनगरे। श्रीरस्तुः ।।कल्पां।।

इसके बाद किसी दूसरे या हल्के हाथ से लिखा हुआ वाक्य इस प्रकार है—'पोथी त्रैलोक्य-प्रज्ञप्ति की भट्टारकजी ने साधन करवो नै दीनी दूसरी प्रति मीती श्रावण सुदि १३ सवत् १९५९।'

इस प्रति के प्रथम ८ पत्रो के हाशिये पर कुछ शब्दो व पक्तिखडो की सस्कृत छाया है। ५ वे पत्र पर टिप्पण मे त्रैलोक्यदीपक से एक पद्य उद्धृत है। आदि के कुछ पत्र शेष पत्रो की अपेक्षा अधिक मलिन है।

लिपि की काफी त्रुटियां है प्रति मे। गद्य भाग का और गाथाओ का भी पाठ बहुत भ्रष्ट है। कुछ गद्यभाग मे गणनाक लिखे है मानो वे गाथाये हो।

(पूर्व सम्पादन इसी प्रति से हुआ था।)

[७] उ—उज्जैन मे प्राप्त होने के कारण इस प्रति का नाम 'उ' प्रति है। इसके मात्र चतुर्थ अधिकार की फोटोकॉपी करायी गयी थी। इसका आकार १३१/२"×८१/२" है। प्रत्येक पत्र मे १० पक्तियाँ और प्रत्येक पक्ति मे ४४—४५ वर्ण है। काली स्याही का प्रयोग किया गया है। प्रति पूर्णत सुरक्षित और अच्छी दशा मे है।

यह बम्बई प्रति की ही नकल है क्योंकि वही प्रशस्ति ज्यो-की-त्यो लिखी गयी है। लिपिकाल का भी अन्तर नही दिया गया है।

मूड़बिद्री की प्रतियाँ :

ज्ञानयोगी स्वस्तिश्री भट्टारक चारुकीर्ति पण्डिताचार्यवर्य स्वामीजी के सौजन्य से श्रीमती रमारानी जैन शोधसंस्थान, श्री दिगम्बर जैन मठ, मूडबिद्री से हमे तिलोयपण्णत्ती की हस्तलिखित

कानडी प्रतियों से पं० देवकुमार जी जैन शास्त्री ने पाठान्तर भिजवाये थे। उन प्रतियों का परिचय भी उन्होने लिख भेजा है, जो इस प्रकार है—

कन्नडप्रान्तीय ताड़पत्रीय ग्रन्थसूची पृ० सं० १७०–१७१

विषय : लोकविज्ञान

ग्रन्थ सं० ४६८ :

(१) तिलोयपण्णत्ती . [त्रिलोक प्रज्ञप्ति]—आचार्य यतिवृषभ। पत्र स० १५१। प्रतिपत्र पक्ति– ८। अक्षर प्रतिपक्ति ६६। लिपि-कन्नड। भाषा-प्राकृत। विषय लोकविज्ञान। अपूर्ण प्रति। शुद्ध है, जीर्णदशा है। इसमे सदृष्टियाँ बहुत सुन्दर एव स्पष्ट हैं। टीका नही है।

ॐ **नमः सिद्धमर्हतम्** ।। **श्रीसरस्वत्यै नमः** ।। **श्रीगणेशाय नमः** ।। **श्रीनिर्ग्रन्थविशाल-कीर्तिमुनये नमः** ।। इस प्रकार के मगलाचरण से ग्रन्थारम्भ होता है।

इस प्रति के उपलब्ध सभी ताडपत्रो के पाठभेद भेजने के बाद पण्डितजी ने लिखा है—"यहाँ तक मुद्रित (सोलापुर) तिलोयपण्णत्ती भाग १ का पाठान्तर कार्य समाप्त होता है। मुद्रित तिलोयपण्णत्ती भाग–२ मे ताडपत्र प्रति पूर्ण नही है, केवल न० १६ से ४३ तक २५ ताडपत्र मात्र मिलते है। शायद बाकी ताडपत्र लुप्त, खण्डित या अन्य ग्रन्थों के साथ मिल गये हो। यह खोज करने की चीज है।"

ग्रन्थ सं० ६४३ :

(२) तिलोयपण्णत्ती (त्रिलोकप्रज्ञप्ति) : आचार्य यतिवृषभ। पत्र संख्या ८८। पंक्तिप्रतिपत्र ७। अक्षर प्रतिपक्ति ४०। लिपि कन्नड। भाषा प्राकृत। तिलोयपण्णत्ती का एक विभाग मात्र इसमे है। शुद्ध एव सामान्य प्रति है। इसमे भी सदृष्टियाँ हैं।

जैनबिद्री (श्रवणबेलगोला) से प्राप्त प्रति का परिचय :

कर्मयोगी स्वस्ति श्री भट्टारक चारुकीर्ति स्वामीजी महाराज के सौजन्य से श्रवणबेलगोला के श्रीमठ के ग्रन्थ भण्डार मे उपलब्ध तिलोयपण्णत्ती की एक मात्र पूर्ण प्रति का देवनागरी-लिप्यन्तरण श्रीमान् प० एस० बी० देवकुमार शास्त्री के माध्यम से हमे प्राप्त हुआ है। प्रस्तुत सस्करण की आधार प्रति यही है। प्रति प्रायः शुद्ध है और सदृष्टियो से परिपूर्ण है। इस प्रति का पण्डितजी द्वारा प्रेषित परिचय इस प्रकार है—

श्रवणबेलगोला के श्रीमठ के ग्रन्थ-भण्डार में यह प्रति एक ही है। ग्रन्थ ताडपत्रो का है; इसमे अक्षरो को सूचीविशेष से उकेरा न जाकर स्याही मे लिख दिया गया है। सीधे पंक्तिवार

अक्षर लिखे गये है। अक्षर सुन्दर हैं। कुछ अक्षरो को समान रूप मे थोडा सा अन्तर रखकर लिखा गया है। उस अन्तर को ठीक-ठीक समझने मे बडी कठिनाई होती है।

ताडपत्र की इस प्रति मे कुल पत्र सख्या १७४ है। प्रति पूर्ण है। कही-कही पत्रो को अगल-बगल मे कीडो ने खा लिया है या पत्र भी टूट गये है। सात पत्रो मे क्रमसख्या नही है। उस जगह को कीडो ने खा लिया है। पत्र तो मौजूद है, उन पत्रो की सख्या है—१०१, १०६, १३६, १३७, १४६, १५५ और १५६। एक पत्र मे बीच का $\frac{1}{3}$ भाग बचा है। पत्रो की लम्बाई १८ इच और चौडाई ३$\frac{1}{3}$ इच है। प्रत्येक पत्र मे ६ या १० पक्तियां है। प्रत्येक पक्ति मे ७७-७८ अक्षर है। एक पत्र मे करीब ४६ गाथाये है।

कन्नड मे देवनागरी मे लिप्यन्तरण करते हुए लिप्यन्तरकर्त्ता उक्त पण्डितजी को कई कठिनाइयां झेलनी पडी है। कतिपय कठिनाइयो का उल्लेख उन्होने इस प्रकार किया है—

१ 'च' और 'व' को एक सा लिखते है, सूक्ष्म अन्तर रहता है, इसके निश्चय मे कष्ट होता है।

२ ह्रस्व और ईत्व का कुछ फरक नही करते, ऐसी जगह ह्रस्व दीर्घ का निश्चय करना कठिन होता है।

३ सयुक्ताक्षर लिखना हो तो जिस अक्षर का द्वित्व करना हो तो उस अक्षर के पीछे शून्य लगा देते हैं, उदाहरणार्थ 'घम्मा' लिखना हो तो 'घमा' ऐसा लिख देते है। जहां 'घमा' ही पढना हो तो कैसे लिखा जाये, इसकी प्रत्येक 'व्यवस्था' ताडपत्र की लिखावट मे नही है। जहां 'वसाए' लिखा हो वहां 'वस्साए' क्यो न पढा जाये इसकी भी अलग कोई व्यवस्था नही है।

४ मूल प्रति मे किसी भी गाथा की सख्या नही दी गयी है।

प्रति के अन्तिम पत्र का पाठ इस प्रकार है--

पणमह जिणवरवसह गणहरवसहं तहेव गुणहरवसह।
दुसहपरिसहवसह, जदिवसह धम्मसुत्तपाठर वसह॥

एवमाइरियपरंपरागय तिलोयपण्णत्तीए सिद्धलोय सरू (व) णिरूवण पण्णत्ती णाम णवमो महाहियारो समत्तो। ⓘⓘⓘⓘ

मग्गप्पभावणट्ठ पवयणभत्तिप्पचोदिदेण मया।
भणिदग वर सोहतु बहुसुदाइरिया॥१॥

चुण्णिसरूवं अट्ठ करणसरूवपमाण कि जं त।
अट्ठसहस्सपमाण, तिलोयपण्णत्तिणामाये॥२॥ ⓘⓘⓘ

जैनबद्री की ताडपत्रीय प्रति के पत्र सं० ४ का फोटो
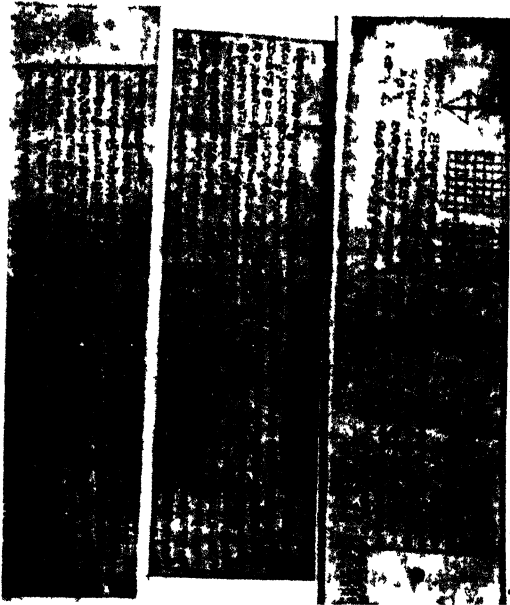
सभी ताडपत्र १८ लम्बे और ३½ चौडे हैं। ताडपत्र संख्या ४ की तीन टुकडो मे ली हुई फोटो ऊपर मुद्रित है। ताडपत्र को मध्य के हिस्से मे कीड़ो ने खा लिया है। परन्तु लिपि सद्दष्टि और चित्र सब कम स्पष्ट हैं।

अट्ठपमादं पणट्ठ—अट्ठमदं, दिट्ठ सयलपरमट्ठं ।
णिट्ठुरवयणविमुक्कं, णमामि अमरकित्तिमुणिं ।। ३ ।।

वीरमुहकमलणिग्गह, विउलामलसुदसमुद्दवड्ढवलं ।
ससधरकरकिरणाभं, णमामि तं अमरकित्तिमुणिं ।।४।।

पचमहव्वयपुण्णं तिसल्लविरदं तिगुत्तिजुत्तं च ।
सुयसागरपारगदं सुरकित्तिमुणिवममभिवंदे ।।५।।

दुद्धरदुक्कमतकद्दम सोसणतरणिं समत्तसत्तविद ।
सरणं वजामि बहुदुक्खसलिलपूरिद संसार समुद्दबुड्डणभएण ।।६।।

मिच्छत्त तिमिर भाणुं विगसिदवरभव्व कमल मंडलियं ।
सुद्धोपयोगजुत्तं, सुरकित्तिमुणीसरं वंदे ।।७।।

सिरिमदुग्रसंडिदविवहासंडलमंडलियमणिमउडमरीचिपिंजरिदभगवदरुहप्परमेसरमुहपदुमविणिग्गदसत्तभंगि-णीपरवादिपावप्पमूलं कसवयण सकिलपक्खालिद कम्ममलपंकेहिं । णिखिल सत्थ साणोपलकसणसेमुसीमुसितपुरुहूद-पुरोहिद गव्वेहिं । दुव्वारवादिपरिसदवलेवपव्वदपाडणपगडिदसद्दावदवक्केहिं । उदारदारोदरदरिणिवेसिदासापिसुण-पिसाची वस गदासेस पुरुस परिसदुपरिवेसिद पुदसत्तमाभासभासिदमिच्छावादांधकारणिरुहरणमहस्सकिरहेहिं । रायराजगुरुमंडलाइरिय महावादवादीसर सकल विद्दज्जण-चक्कवट्टि वादिवविसालकित्तियति.... .... सिरिमदमरकित्तिपदीसरपियसिस्समडारगधम्ममूसणेहिं ।

परिपागपेसल विमलमुत्ताफलसारिच्छ अक्खरेहिं सगवरुस १२६६ विम स्वभाणुसंवच्छर भद्दपसुद्द ५ सो विजे सुरताण पातसहां .. ..

विजयरज्जे ओडगे अमहापुरे अणंतससारविच्छेदणकर अणततित्थयपादमूले
अणवरद अप्पभावणत्थं लिखिदमिदं तिलोयपण्णत्तीणाम परमागमं महामुणिसेव्वमाणं समत्तो ।। ❁ ❁ ❁

....लं सुबोधकमल सभंगवीचीचयं,
गंभीर णिखिलट्ठपालिकलितं सच्छाधु हंसाकुलं ।
पण्णाधीसपडिट्ठ पायगरवगट्टाणण्णिवजोया—
दुदुगुग्गविशापवुद्धिहणण जैणागमक्खं सरो ।। ८ ।।

जिणं णुव.... ... सयं वजुप्पमाणो सुद्धफलिहमय ।
हरिपुरणाहं त संसारविसमविसरुक्खमूल उप्पडणणिउणचवप्पह वंदे ।।९।।

हरिहरहिरण्यगर्भसंत्रासितमदनमदगजअवश्यांकुशस्तवनकृतार्थीकृतसकलविनेयजनाय हरि नमः ।।

श्रीमानस्ति समस्तदोषरहित प्रख्यातलोकत्रया—
धीशार्च्चित पादपद्मयुगलः सज्ज्ञानतेजोनिधिः ।

दुर्वारस्मरगर्वपर्वतपविर्मिथ्यादृगंधुक्रमत्—
सत्योद्धारणधीरनैकधिषणो सो सन्मतीशो जिनः ॥१०॥

सकलजगदानंदकरं अभिनन्दनं नमः ॥

(यहाँ ग्रन्थ का अन्त हुआ है ।)

४. सम्पादन विधि :

किसी भी प्राचीन रचना का हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर सम्पादन करना कोई आसान काम नही है । मुद्रित प्रति सामने होते हुए भी कई बार पाठान्तरो से निर्णय लेने मे बहुत श्रम और समय लगाना पडा है इसमे, नतमस्तक हूँ तिलोयपण्णत्ती के प्रथम सम्पादको की बुद्धि एवं निष्ठा के समक्ष । सोचता हूँ उन्हे कितना अपार अथक परिश्रम करना पडा होगा । क्योकि एक तो इसका विषय ही जटिल है दूसरे उनके सामने तो हस्तलिखित प्रतियो की सामग्री भी कोई बहुत सन्तोषजनक नही थी । उन्हे किसी टीका, छाया अथवा टिप्पण की भी सहायता सुलभ नही थी । मुझे तो हिन्दी अनुवाद सम्भवपाठ, विचारणीय स्थल आदि मे पूरा मार्गदर्शन मिला है ।

प्रस्तुत संस्करण का मूलाधार श्रवणबेलगोला की ताडपत्रीय कानडी प्रतिलिपि है । लिप्यन्तरण श्री एस० बी० देवकुमार शास्त्री ने भिजवाये हैं । उसी के आधार पर सारा सम्पादन हुआ है । मूडबिद्री की प्रति भी लगभग इस प्रति जैसी ही है, इसके पाठान्तर श्री देवकुमारजी शास्त्री ने भिजवाये थे ।

तिलोयपण्णत्ती एक महत्त्वपूर्ण धर्मग्रन्थ है और इसके अधिकाश पाठक भी धार्मिक रुचि सम्पन्न श्रावक-श्राविका होगे या फिर स्वाध्यायशील मुनि-आर्यिका आदि । इन्हे ग्रन्थ के विषय मे अधिक रुचि होगी, ये भाषा की उलझन मे नही पडना चाहेगे, यही सोचकर विषय के अनुरूप सार्थक पाठ ही स्वीकार करने की दृष्टि रही है सर्वत्र । प्रतियो के पाठान्तर टिप्पण मे अंकित कर दिये है । क्योकि हिन्दी टीका के विशेषार्थ मे तो सही पाठ या संशोधित पाठ की ही संगति बैठती है, विकृत पाठ की नही । कही-कही सब प्रतियो मे एक सा विकृत पाठ होते हुए भी गाथा मे शुद्ध पाठ ही रखा गया है ।

गणित और विषय के अनुसार जो संदृष्टियां शुद्ध है, उन्हे ही मूल मे ग्रहण किया गया है, विकृत पाठ टिप्पणी मे दे दिये है ।

पाठालोचन और पाठ-संशोधन के नियमो के अनुसार ऐसा करना यद्यपि अनुचित है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से इसे अतीव उपयोगी जानकर अपनाया गया है ।

कानडी लिपि से लिप्यन्तरणकर्त्ता को जिन कठिनाइयो का सामना करना पडा है, उनका उल्लेख प्रति के परिचय मे किया गया है हमारे समक्ष तो उनकी ताजा लिखी देवनागरी लिपि ही थी ।

प्राकृत भाषा प्रभेदपूर्ण है और इसका व्याकरण भी विकसनशील रहा है अतः बदलते हुए नियमों के आधार पर संशोधन न कर प्राचीन शुद्ध रूप को ही रखने का प्रयास किया है। इस कार्य में श्री हरगोविन्द शास्त्री कृत पाइअसद्दमहण्णवो से पर्याप्त सहायता मिली है। यथासम्भव प्रतियों का शुद्ध पाठ ही संरक्षित हुआ है।

प्रथम बार सम्पादित प्रति में सम्पादकद्वय ने जो सम्भवनीय पाठ सुझाये थे उनमें से कुछ ताडपत्रीय कानडी प्रतियों में ज्यों के त्यों मिल गये हैं। वे तो स्वीकार्य हुए ही हैं। जिन गाथाओं के छूटने का संकेत सम्पादक द्वय ने किया है, वे भी इन कानडी प्रतियों में मिली हैं और उनमें अर्थ-प्रवाह की संगति बैठी है। प्रस्तुत संस्करण में अब कल्पित, सम्भवनीय या विचारणीय स्थल अत्यल्प रह गये हैं तथापि यह दृढ़तापूर्वक नहीं कहा जा सकता कि व्यवस्थित पाठ ही ग्रन्थ का शुद्ध और अन्तिम रूप है। उपलब्ध पाठों के आधार पर अर्थ की संगति को देखते हुए शुद्ध पाठ रखना ही बुद्धि का प्रयास रहा है। आशा है, भाषाशास्त्री और पाठविवेचक अपने नियम की शिथिलता देख कामगे नहीं अपितु व्यावहारिक उपयोगिता देख उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे।

५. प्रस्तुत संस्करण की विशेषताएँ :

तिलोयपण्णत्ती के प्रथम तीन अधिकारों का यह पहला खण्ड है। इसमें केवल मूलानुगामी हिन्दी अनुवाद ही नहीं है अपितु विषय सम्बन्धी विशेष विवरण की जहाँ भी आवश्यकता पड़ी है वह विस्तारपूर्वक विशेषार्थ में दिया गया है। गणितसम्बन्धी प्रमेयों को, जहाँ भी जटिलता दिखाई दी है, पूर्णतः हल करके रखा गया है। संदृष्टियों का भी पूरा खुलासा किया गया है। इस संस्करण में मूल संदृष्टियों की संख्या हिन्दी अर्थ के बाद अंकों में नहीं दी गयी है किन्तु उन संख्याओं को तालिकाओं में दर्शाया गया है। एक अन्य विशेषता यह भी है कि चित्रों और तालिकाओं-सारणियों के माध्यम से विषय को सरलता पूर्वक ग्राह्य बनाने का प्रयत्न किया गया है। पहले अधिकार में ५० चित्र हैं, दूसरे में दो और तीसरे में एक, इस प्रकार कुल ५३ चित्र हैं।

पहले अधिकार में पूर्वप्रकाशित संस्करण में २८३ गाथायें थीं। इसमें तीन नयी गाथाएँ या छूटी हुई गाथाएँ (म० २०६, २१६, २३७) जुड़ जाने से अब २८६ गाथायें हो गयी हैं। इसी प्रकार दूसरे महाधिकार में ३६७ गाथाओं की अपेक्षा ३७१ (१६४, ३३१, ३३२, ३६५ जुड़ी हैं) और तीसरे महाधिकार में २४३ गाथाओं की अपेक्षा २५४ गाथाएँ हो गयी हैं। तीसरे अधिकार में नयी जुड़ी गाथाओं की संख्या इस प्रकार है – १०८, १८६, १८७, २०२, २२२ से २२७ और ६३२-३३। इस प्रकार कुल १९ गाथाओं के जुड़ने से तीनों अधिकारों की कुल गाथाएँ ८९३ से बढ़ कर ९१२ हो गई हैं।

प्रस्तुत संस्करण में प्रत्येक गाथा के विषय को निर्दिष्ट करने के लिए उपशीर्षकों की योजना की गयी है और एतद् अनुसार ही विस्तृत विषयानुक्रमणिका तैयार की गयी है।

(क) प्रथम महाधिकार :

विस्तृत प्रस्तावना पूर्वक लोक का सामान्य निरूपण करने वाला प्रथम महाधिकार पाँच गाथाओं के द्वारा पच परमेष्ठियो की वन्दना से प्रारम्भ होता है किन्तु यहाँ अरहन्तो के पहले सिद्धों को नमस्कार किया गया है, यह विशेषता है। छठी गाथा मे ग्र थ रचना की प्रतिज्ञा है और ७ से ८१ गाथाओ मे मगल निमित्त, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्त्ता की अपेक्षा विशद प्ररूपणा की गयी है। यह प्रकरण श्री वीरसेन स्वामिकृत षटखण्डागम की धवला टीका (पु० १ पृ० ८–७१) से काफी मिलता-जुलता है किन्तु जिस गाथा से इसका निर्देश किया है, वह गाथा तिलोयपण्णत्ती से भिन्न है-

मगल–णिमित्त–हेऊ परिमाण णाम तह य कत्तार।
वागरिय छ प्पि पच्छा, वक्खाणउ सत्थमाइरियो ।।धवला पु० १/पृ० ७

गाथा ८२-८३ मे ज्ञान को प्रमाण, ज्ञाता के अभिप्राय को नय और जीवादि पदार्थों के सव्यवहार के उपाय को निक्षेप कहा है। गाथा ८५ --८७ मे ग्रन्थ-प्रतिपादन की प्रतिज्ञा कर ८८-९० मे ग्र थ के नव अधिकारो के नाम निर्दिष्ट किये गये है।

गाथा ९१ से १०१ तक उपमा प्रमाण के भेद-प्रभेदो मे प्रारम्भ कर पल्य, स्कन्ध, देश, प्रदेश, परमाणु आदि के स्वरूप का कथन किया गया है। अनन्तर १०२ से १३३ गाथा तक कहा गया है कि अनन्तानन्त परमाणुओं का उवसन्नासन्न स्कन्ध, आठ उवसन्नासन्नो का सन्नासन्न, आठ सन्नासन्नो का त्रुटिरेणु, आठ त्रटिरेणुओ का त्रसरेणु, आठ त्रसरेणुओ का रथरेणु, आठ रथरेणुओं का उत्तमभोगभूमिजबालाग्र, इसी प्रकार उत्तरोत्तर आठ-आठ गुणित मध्यभोगभूमिजबालाग्र, जघन्य-भोगभूमिजबालाग्र, कर्मभूमिजबालाग्र, लीख, जू, जौ और उत्सेधागुल होता है। पाँच सौ उत्सेधागुलो का एक प्रमाणागुल होता है। भरतऐरावत क्षेत्र मे भिन्न-भिन्न काल मे होने वाले मनुष्यो का अगुल आत्मागुल कहा जाता है। इनमे उत्सेधागुल से नर-नारकादि के शरीर की ऊँचाई और चतुर्निकाय देवो के भवन व नगरादि का प्रमाण जाना जाता है। द्वीप-समुद्र, शैल, वेदी, नदी, कुण्ड, जगती एव क्षेत्रो के विस्तारादि का प्रमाण प्रमाणागुल से ज्ञात होता है। भृ गार, कलश, दर्पण, भेरी, हल, मुसल, सिहासन एव मनुष्यो के निवासस्थान व नगरादि तथा उद्यान आदि के विस्तारादि का प्रमाण आत्मागुल से बतलाया जाता है। योजन का प्रमाण इस प्रकार है—६ अगुलों का पाद, २ पादो की वितस्ति, २ वितस्तियो का हाथ, २ हाथ का रिक्कु, २ रिक्कुओ का धनुष, २००० धनुष का कोस और ४ कोस का एक योजन होता है।

उपर्युक्त वर्णन करने के बाद ग्रन्थकार अपने प्रकृतविषय—लोक के सामान्य स्वरूप—का कथन करते है। अनादिनिधन व छह द्रव्यो से व्याप्त लोक—अध, मध्य और ऊर्ध्व के भेद से विभक्त है। ग्रन्थकार ने इनका आकार, प्रकार, विस्तार, क्षेत्रफल व घनफल आदि विस्तृत रूप मे वर्णित किया है। अधोलोक का आकार वेत्रासन के समान, मध्यलोक का आकार खडे किये हुए मृदग के ऊर्ध्व भाग के समान और ऊर्ध्वलोक का आकार खडे किये हुए मृदग के समान है। (गा १३०–१३८)। आगे तीनो लोको मे से प्रत्येक के सामान्य, दो चतुरस्र (ऊर्ध्वायित और तिर्यगायत), यव, मुरज,

यवमध्य, मन्दर, दूष्य और गिरिकटक ये आठ-आठ भेद करके उनका पृथक्-पृथक् घनफल निकाल कर बतलाया है। सम्पूर्ण विषय जटिल गणित से सम्बद्ध है जिसका पूर्ण खुलासा प्रस्तुत संस्करण में विदुषी टीकाकर्त्री माताजी ने चित्रों के माध्यम से किया है। रुचिशील पाठक के लिए अब यह जटिल नहीं रह गया है। गाथा ६१ की संदृष्टि (☰ १६ ख ख ख) को विशेषार्थ में पूर्णतः स्पष्ट कर दिया गया है।

महाधिकार के अन्त में तीन वातवलयों का आकार और भिन्न-भिन्न स्थानों पर उनकी मोटाई का प्रमाण (२७१—२८५) बतलाया गया है। अन्त में तीन गद्य खण्ड हैं। प्रथम गद्यखण्ड लोक के पर्यन्तभागों मे स्थित वातवलयों का क्षेत्रप्रमाण बताता है। दूसरे गद्यखण्ड मे आठ पृथिवियों के नीचे स्थित वातक्षेत्रों का घनफल निकाला गया है। तीसरे गद्यखण्ड मे आठ पृथिवियों का घनफल बतलाया है। वातवलयों की मोटाई दर्शाने के लिए ग्रन्थकार ने 'लोकविभाग' ग्रन्थ से एक पाठान्तर (गा २८४) भी उद्धृत किया है, अन्त मे कहा है कि वातरुद्ध क्षेत्र और आठ पृथिवियों के घनफल को सम्मिलित कर उसे सम्पूर्ण लोक मे से निकाल देने पर शुद्ध आकाश का प्रमाण प्राप्त होता है। मगलाचरणपूर्वक ग्रन्थ का अन्त होता है।

इस अधिकार मे ७ करणसूत्रों (गा ११७, १६५, १७६, १७७, १८१, १६३ १६४,) का उल्लेख हुआ है तथा गा १६७-६६ और २६४-६६ के भावों को सक्षेप मे व्यक्त करने वाली दो सारणियाँ बनायी गयी है।

मूडबिद्री और जैनबिद्री मे उपलब्ध ताडपत्रीय प्रतियों में गाथा १३८ के बाद दो गाथाएँ और मिलती है किन्तु इनका प्रसग बुद्धिगम्य न होने से इनका उल्लेख अध्याय के अन्तर्गत नही किया गया है। गाथाएँ इस प्रकार है—

वासुच्छेहायाम, सेढि—पमाणेण ठावये खेत्तं।
त मज्झं वहुलावो, एक्कपदेसेण गेण्हिदो पदर ॥ ☰
गहिदूण घवट्ठावि य, रज्जू सेढिस्स सत्त भागोत्ति।
तस्स य वासायामो, कायव्वा सत्त खडाणि ॥

(ख) द्वितीय महाधिकार :

नारकलोक नाम के इस महाधिकार मे कुल ३७१ पद्य है। गद्य-भाग नही है। चार इन्द्रवज्रा और एक स्वागता छन्द है, शेष ३६६ गाथाएँ है। मगलाचरण मे अजितनाथ भगवान को नमस्कार कर ग्रन्थकार ने आगे की चार गाथाओं मे पन्द्रह अन्तराधिकारों का निर्देश किया है।

पूर्वप्रकाशित सस्करण मे इस अधिकार मे चार गाथाएँ विशेष है जो द और ब प्रतियों मे नही है। ग्रन्थकार के निर्देशानुसार १५ व अन्तराधिकार मे नारक जीवों मे योनियों की प्ररूपणा वर्णित है, यह गाथा छूट गयी थी। कानडी प्रतियों मे यह उपलब्ध हुई है (गाथा स० ३६५)। इसी प्रकार नरक के दुःखों के वर्णन मे भी गाथा स० ३३१ और ३३२ विशेष मिली है।

पूर्व प्रकाशित संस्करण के पृ. ८२ पर मुद्रित गाथा १८८ में अर्ध योजन के छह भागों में से एक भाग कम श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल कहा गया है, जो गणित की दृष्टि से वैसा नहीं है। कन्नड़ प्रति के पाठभेद से प्रस्तुत संस्करण के पृ० २०८ पर इसे सही रूप में रखा गया है। छठी पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलों के अन्तराल का कथन करने वाली गाथा भी पूर्व संस्करण मे नहीं थी, वह भी कानडी प्रतियों मे मिली है। (गाथा सं० १६४)। इस प्रकार कमियों की पूर्ति होकर यह अधिकार अब पूर्ण हुआ ऐसा माना जा सकता है। पूर्वमुद्रित संस्करण में गाथा ३४५ का हिन्दी अनुवाद करते हुए अनुवादक महोदय ने लिखा है कि—"रत्नप्रभा पृथिवी से लेकर अन्तिम पृथिवी पर्यन्त अत्यन्त सडा, अशुभ और उत्तरोत्तर असंख्यातगुणा ग्लानिकर अन्न आहार होता है।" यह अर्थ ग्राह्य नहीं हो सकता क्योंकि नरको में अन्नाहार है ही नहीं। प्रस्तुत संस्करण मे टीकाकर्त्री माताजी ने इसका अर्थ 'अन्य प्रकार का ही आहार' (गाथा ३४८) किया है। यह सगत भी है। पूज्य माताजी ने ७ सारणियों और दो चित्रो के माध्यम से इस अधिकार को और सुबोध बनाया है।

ग्रन्थकर्त्ता आचार्य ने पूरी योजनापूर्वक इस अधिकार का गठन किया है। गाथा ६-७ में त्रसनाली का निर्देश है। गाथा ७-८ में प्रकारान्तर से उपपाद और मारणान्तिक समुद्घात में परिणत त्रस और लोकपूरण समुद्घातगत केवलियो की अपेक्षा समस्तलोक को ही त्रसनाली कहा है। गाथा ६ से १६५ तक नारकियों के निवासक्षेत्र—सातों पृथिवियो मे स्थित इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो के नाम, विन्यास, सख्या विस्तार, बाहल्य एवं स्वस्थान—परस्थान रूप अन्तराल का प्रमाण निरूपित है। गाथा १६६-२०२ मे नारकियो की संख्या, २०३-२१६ मे उनकी आयु, २१७-२७१ मे उनका उत्सेध तथा गाथा २७२ मे उनके अवधिज्ञान का प्रमाण कहा है। गाथा २७३-२८४ मे नारकी जीवो मे सम्भव गुणस्थानादि बीस प्ररूपणाओ का निर्देश है। गाथा २८५—२८७ मे नरको मे उत्पद्यमान जीवो की व्यवस्था गाथा २८८ मे जन्म-मरण के अन्तराल का प्रमाण, गाथा २८६ मे एक समय मे जन्म-मरण करने वालो का प्रमाण, गाथा २६०-२६३ मे नरक से निकले हुए जीवो की उत्पत्ति का कथन, गाथा २६४-३०२ मे नरकायु के बन्धक परिणामो का कथन और गा० ३०३ से ३१३ तक नारकियों की जन्मभूमियो का वर्णन है।

गाथा ३१४ से ३६१ तक नरको के घोर दु खो का वर्णन है।

गाथा ३६२-६४ मे नरको मे सम्यक्त्वग्रहण के कारणो का निर्देश है और गाथा ३६५ में नारकियो की योनियो का कथन है। अन्तिम मगलाचरण से पूर्व के पाँच छन्दो मे यह बताया गया है कि जो जीव मद्य-मास का सेवन करते है, शिकार करते हैं, असत्य वचन बोलते हैं, चोरी करते हैं, परधनहरण करते है, रात-दिन विषयसेवन करते है, निर्लज्जतापूर्वक परदारासक्त होते है, दूसरो को ठगते है, वे तीव्र दु.ख को उत्पन्न करने वाले नरको में जाकर महान् कष्ट सहते है।

अन्तिम गाथा मे भगवान सम्भवनाथ को नमस्कार किया गया है।

(ग) तृतीय महाधिकार :

भवनवासी लोकस्वरूप-निरूपण प्रज्ञप्ति नामक तीसरे महाधिकार मे पूर्व प्रकाशित संस्करण मे कुल २४३ पद्य हैं। गाथा सख्या २४ से २७ तक गाथाओ का पाठ इस प्रकार है—

अप्पमहड्ढियमज्झिमभावणदेवाण होंति भवणाणि ।
दुगबादालसहस्सा, लक्खमधोधो खिदीय गताउ ।।२४।।

२००० / ४२००० / १०००००

अप्पमहड्ढियमज्झिमभावणदेवाण वासवित्थारो ।
समचउरस्सा भवणा वज्जामयद्दारसज्जिया सव्वे ।।२५।।

बहलत्ते तिसयाणि संखासखेज्ज जोयणा वासे ।
सखेज्जरुंदभवणेसु भवणदेवा वसंति संखेज्जा ।।२६।।

संखातीदा सेयं छत्तीससुरा य होंवि संखेज्जा (?)
भवणसरूवा एदे वित्थारा होइ जाणिज्जो ।।२७।।

। भवणवण्णणा सम्मत्तं ।

कन्नड की ताडपत्रीय प्रतियो मे इस पाठ की सरचना इस प्रकार है जो पूर्णत सही है और इसमे भ्रान्ति (?) की सम्भावना भी नही है। हाँ, इस पाठ से एक गाथा अवश्य कम हो गयी है।

अप्प-महड्ढिय-मज्झिम-भावण-देवाण होंति भवणाणि ।
दुग-बादाल-सहस्सा, लक्खमधोधो खिदीए गतूण ।।२४।।

२००० / ४२००० / १०००००

।। अप्पमहड्ढिय-मज्झिम-भावण-देवाण-णिवास-खेत्त समत्त ।।९।।

समचउरस्सा भवणा, वज्जमया-दार-वज्जिया सव्वे ।
बहलत्ते ति-सयाणि, सखासखेज्ज-जोयणा वासे ।।२५।।

सखेज्ज-रुंद-भवणेसु, भवणदेवा वसंति सखेज्जा ।
सखातीदा वासे, अच्छती सुरा असखेज्जा ।।२६।।

भवणसरूव समत्ता ।।१०।।

इस प्रकार कुल २४२ गाथाएँ रह गयी है। ताडपत्रीय प्रतियो मे १२ गाथाएँ नवीन मिली है अत प्रस्तुत सस्करण मे इस अधिकार मे २४२ + १२ = २५४ गाथाएँ हुई है।

इस तीसरे महाधिकार मे कुल २५४ पद्य है। इनमे दो इन्द्रवज्रा (छ स० २३९, २५२) और ४ उपजाति (२१७-१८, २४०, २५३) तथा शेष गाथा छन्द है। पूर्व प्रकाशित (सोलापुर) प्रति के तीसरे अधिकार से प्रस्तुत सस्करण के इस तीसरे अधिकार मे गाथा स० १०६, १८५-१८६ २०१, २२१ से २२६ तथा २३१-२३२ इस प्रकार कुल १२ गाथाएँ नवीन है, जिनसे प्रसगानुकूल

विषय की पूर्ति हुई है और प्रवाह अवरुद्ध होने से बचा है। गाथा सं० १८५ और १८६ केवल मूड़-बिद्री की प्रति मे मिली हैं अन्य प्रतियो में नही हैं। टीकाकर्त्री माताजी ने इस अधिकार को एक चित्र और ७ सारणियों/तालिकाओं से अलंकृत किया है। गाथा स०३६ में कल्पवृक्षों को जीवों की उत्पत्ति एवं विनाश का कारण कहा है, यह मन्तव्य बड़े प्रयत्न से ही समझ में आया है।

इस महाधिकार में २४ अन्तराधिकार हैं। अधिकार के आरम्भ में (गाथा १) अभिनन्दन स्वामी को नमस्कार किया गया है और अन्त मे (गाथा २५४) सुमतिनाथ स्वामी को। गाथा २ से ६ मे चौबीस अधिकारों का नामनिर्देश किया गया है। गाथा ७-८ में भवनवासियों के निवासक्षेत्र, गा. ९ मे उनके भेद, गाथा १० मे उनके चिह्न, ११-१२ मे भवनों की संख्या, १३ मे इन्द्रसंख्या व १४-१६ में उनके नाम, १७-१९ में दक्षिणेन्द्रो और उत्तरेन्द्रों का विभाग, २०-२३ मे भवनो का वर्णन, २४ में अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक व मध्यमऋद्धिधारक देवों के भवनो का विस्तार, २५-२६ में भवनो का विस्तार एवं उनमे निवास करने वाले देवों का प्रमाण, २७-३८ में वेदी, ३९-४१ में कूट, ४२-५४ में जिनभवन, ५५-६१ मे प्रासाद, ६२ से १४२ मे इद्रों की विभूति, १४३ में सख्या, १४४-१७५ मे आयु, १७६ में शरीरोत्सेध, १७७-१८२ मे उनके अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण, १८३ से १९५ मे भवनवासियों के गुणस्थानादिकों का वर्णन, १९६ मे एक समय मे उत्पत्ति व मरण का प्रमाण, १९७-१९९ मे आगतिनिर्देश व २०० से २४९ मे भवनवासी देवो की आयु के बन्धयोग्य परिणामो का विस्तृत वर्णन हुआ है।

भवनवासी देव-देवियों के शरीर एवं स्वभावादि का निरूपण करते हुए आचार्य श्री यति-वृषभ जी ने लिखा है कि "वे सब देव स्वर्ण के समान, मल के ससर्ग से रहित, निर्मलकान्ति के धारक सुगन्धित निश्वास से सयुक्त, अनुपम रूपरेखा वाले, समचतुरस्र शरीर सस्थान वाले, लक्षणो और व्यंजनो से युक्त, पूर्ण चन्द्रसदृश सुन्दर महाकान्ति वाले और नित्य ही (युवा) कुमार रहते हैं, वैसी ही उनकी देवियां होती है। (१२५-१२६)

"वे देव-देवियां रोग एव जरा से विहीन, अनुपम बलवीर्य से परिपूर्ण, किंचित् लालिमायुक्त हाथ-पैरो सहित, कदलीघात से रहित, उत्कृष्ट रत्नो के मुकुट को धारण करने वाले उत्तमोत्तम विविध प्रकार के आभूषणो मे शोभायमान, मास-हड्डी-मेद-लोहू-मज्जा-वसा और शुक्र आदि धातुओ से विहीन, हाथो के नख एव बालो मे रहित, अनुपम लावण्य तथा दीप्ति से परिपूर्ण और अनेक प्रकार के हाव-भावो मे आसक्त रहते है।" (१२७-१२९)

आयुबन्धक परिणामो के सम्बन्ध मे लिखा है कि—"ज्ञान और चारित्र मे दृढ शका सहित, संक्लेश परिणामों वाले तथा मिथ्यात्वभाव से युक्त कोई जोव भवनवासी देवो सम्बन्धी आयु को बांधते हैं। दोषपूर्ण चारित्रवाले, उन्मार्गगामी, निदानभावो से युक्त, पापासक्त, कामिनी के विरह रूपी ज्वर से जर्जरित, कलहप्रिय एवं संज्ञी-असंज्ञी जीव मिथ्यात्वभाव से सयुक्त होकर भवनवासी देवा मे उत्पन्न होते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव इन देवों मे कदापि उत्पन्न नही होता। असत्यभाषी, हास्य-प्रिय एवं कामासक्त जीव कन्दर्प देवो मे उत्पन्न होते है। भूतिकर्म, मन्त्राभियोग और कौतूहलादि से सयुक्त तथा लोगो की वचना करने मे प्रवृत्त जीव वाहनदेवो मे उत्पन्न होते है। तीर्थंकर, सघ,

प्रतिमा एवं आगमग्रन्थादिक के विषय में प्रतिकूल, दुर्विनयी तथा प्रलाप करने वाले जीव किल्विषिक देवों में उत्पन्न होते हैं। उन्मार्गोपदेशक, जिनेन्द्रोपदिष्ट मार्ग के विरोधी और मोहमुग्ध जीव सम्मोह जाति के देवों में उत्पन्न होते हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ में आसक्त, क्रूराचारी तथा वैरभाव से संयुक्त जीव असुरों में उत्पन्न होते हैं। (२००—२०६)

जन्म के अन्तर्मुहूर्त बाद ही छह पर्याप्तियों से पूर्ण होकर अपने अल्प विभंगज्ञान से वहाँ उत्पन्न होने के कारण का विचार करते है और पूर्व काल के मिथ्यात्व, क्रोधमानमायालोभ रूप कषायों मे प्रवृत्ति तथा क्षणिक सुखों की आसक्ति के कारण देशचारित्र और सकलचारित्र के परित्याग रूप प्राप्त हुई अपनी तुच्छ देवपर्याय के लिए पश्चात्ताप करते है। (२१०–२२१) तत्काल मिथ्यात्व भाव का त्याग कर सम्यक्त्वी होकर महाविशुद्धिपूर्वक जिनपूजा का उद्योग करते हैं। (२२२-२२४) स्नान करके (२२५), आभूषणादि (२२६) मे सज्जित होकर व्यवसायपुर मे प्रविष्ट होते है और पूजा व अभिषेक के योग्य द्रव्य लेकर देवदेवियों के साथ जिनभवन को जाते है। (२२७-२८)। वहाँ पहुँच कर देवियो के साथ विनीत भाव से प्रदक्षिणापूर्वक जिनप्रतिमाओं का दर्शन कर जय-जय शब्द करते है, स्तोत्र पढते है और मन्त्रोच्चारणपूर्वक जिनाभिषक करते है। (२२९-२३२)

अभिषेक के बाद उत्तम पटह, शङ्ख मृदग, घण्टा एव काहलादि बजाते हुए (गा० २३३) वे दिव्य देव झारी, कलश, दर्पण, तीनछत्र और चामरादि से, उत्तम जलधाराओं से, सुगन्धित गोशीर मलयचन्दन और केशर के पकों से, अखण्डित तन्दुलों से, पुष्पमालाओं से, दिव्य नैवेद्यो से उज्ज्वल रत्नमयी दीपकों से, धूप से और पके हुए कटहल, केला, दाडिम एव दाख आदि फलो से (अष्ट द्रव्य से) जिनपूजा करते है। (२३४-२३७) पूजा के अन्त मे अप्सराओं से सयुक्त होकर नाटक करते हैं, और फिर निजभवनो मे जाकर अनेक सुखो का उपभोग करते है (२३८-२४६)।

अविरत सम्यग्दृष्टि देव तो समस्त कर्मों के क्षय करने मे अद्वितीय कारण समझ कर नित्य ही अनन्तगुनी विशुद्धिपूर्वक जिनपूजा करते हैं, किन्तु मिथ्यादृष्टि देव भी पुराने देवों के उपदेश से जिनप्रतिमाओं को कुलाधिदेवता मानकर नित्य ही नियम से भक्तिपूर्वक उनकी पूजा करते है। (२३९-२४०)

गाथा २५०-२५१ मे आचार्यश्री ने भवनवासियों मे सम्यक्त्वग्रहण के कारणों का निर्देश किया है और गा० २५२-५३ मे भवनवासियों मे उत्पत्ति के कारण बतलाते हुए लिखा है - "जो कोई अज्ञान तप से युक्त होकर शरीर मे नाना प्रकार के कष्ट उत्पन्न करते है तथा जो पापी सम्यग्ज्ञान से युक्त तप को ग्रहण करके भी दुष्ट विषयों मे आसक्त होकर जला करते है, वे सब विशुद्ध लेश्याओं से पूर्व मे देवायु बाँधकर पश्चात् क्रोधादि कषायों द्वारा उस आयु का घात करते हुए सम्यक्त्वरूप सम्पत्ति से मन को हटा कर भवनवासियों मे उत्पन्न होते है।" (गा० २५२-२५३)

गाथा २५४ मे सुमतिनाथ भगवान को नमस्कार कर अधिकार की समाप्ति की गयी है।

६. करण-सूत्र :

प्रथम अधिकार गा. पृ.	द्वितीय अधिकार गा. पृ.	तृतीय अधिकार गा. पृ.
तक्खय वड्ढिपमाणं १७७/४८	चयदलहृदसंकलिदं ८५/१६७	गच्छसमे गुणयारे ७६/२८७
तक्खय वड्ढिपमाणं १९४/६०	चयहृदमिच्छूणपदं ६४/१५८	
भुजपडिभुजमिलिदद्धं १८१/५२	चयहृदमिट्ठाधियपद ७०/१६१	
भूमीश्र मुहं सोहिय १७६/४८	दुचयहृदं सकलिदं ८६/१६८	
भूमीए मुहं सोहिय १९३/६०	पददलहृदवेकपदा ८४/१६६	
मुह-भू-समासमद्धिय १६५/४३	पददलहिदसंकलिदं ८३/१६६	
समवट्टवासवग्गे ११७/२५	पदवग्ग चयपहद ७६/१६३	
	पदवग्गं पदरहिदं ८१/१६५	

७. प्रस्तुत संस्करण में प्रयुक्त विविध महत्त्वपूर्ण संकेत :

– = श्रेणी	प=पल्योपम	इ = इन्द्रक
= = प्रतर	सा=सागरोपम	सेढी = श्रेणीबद्ध
≡ = त्रिलोक	सू=सूच्यंगुल	प्र० =प्रकीर्णक
१६ = सम्पूर्ण जीवराशि	प्र=प्रतरांगुल	मु=मुहूर्त
१६ ख=सम्पूर्ण पुद्गल (की परमाणु) राशि	घ=घनांगुल	दि=दिन
	ज=जगच्छ्रेणी	मा=माह
१६ ख ख=सम्पूर्ण काल (की समय) राशि	लोय प=लोकप्रतर	
	भू=भूमि	
१६ ख ख ख=सम्पूर्ण आकाश (की प्रदेश) राशि	को=कोस	
	द=दण्ड	
ऽ० =३ शून्य ० ० ०	से=शेष	
७=सख्यात	ह=हस्त	
रि=असख्यात	अ=अगुल	
जो=योजन	ध=धनुष	
वर्गमूल (गाथा २/२८९) १९६-२०२		
७ रज्जु		
$,^{1}_{2}$ = कुछ कम (गा० २/१९६)		

८. पाठान्तर :

❀ वातवलयों की मोटाई	१/२८४/११६ (लोकविभाग)
❀ शर्कराप्रभादि पृथिवियों का बाहुल्य	२/२३/१४५

९. चित्र विवरण :

१०. विविध तालिकायें :

११. प्रस्तुत द्वितीय संस्करण

'तिलोयपण्णत्ती' प्रथम खण्ड का यह द्वितीय संस्करण पाठकों को सौंपते हुए हार्दिक प्रसन्नता है। इसे प्रेस मे देने से पूर्व मैंने जैनपत्रों मे यह विज्ञप्ति प्रकाशित की थी कि "प्रथम खण्ड के नवीन सस्करण के प्रकाशन की योजना बनी है। स्वाध्यायियों एव विद्वानो से निवेदन है कि यदि उन्हें पूर्व प्रकाशित संस्करण (१९८४ मे प्रकाशित) का अवलोकन। स्वाध्याय करते हुए उसमे कोई अशुद्धियां दृष्टिगत हुई हो तो वे यथाशीघ्र सूचित करने का कष्ट करे जिससे प्रकाश्यमान नवीन सस्करण मे उनका परिमार्जन-संशोधन किया जा सके।" परन्तु मुझे सूचित करते हुए खेद है कि स्वाध्यायियो या विद्वानो से इस सन्दर्भ में मुझे न तो कोई पत्र ही मिला और न अन्य किसी प्रकार की कोई प्रतिक्रिया।

इस नवीन संस्करण में प्रेस सम्बन्धी भूलो का परिमार्जन करने के साथ-साथ, गाथार्थ या संदृष्टियो को खोलने मे जहां पूर्व मे किंचित् भी अस्पष्टता रह गयी थी, उसे स्पष्ट कर दिया गया है और दो चित्र बदले गये हैं। शेष सब वही है यानी यह संस्करण लगभग प्रथम सस्करण का ही पुनर्मुद्रित रूप है।

आभार

ग्रन्थ की टीकाकर्त्री पूज्य **विदुषी आर्यिका १०५ श्री विशुद्धमती माताजी** के चरण कमलों में सविनय सादर वन्दामि निवेदन करता हुआ यही कामना करता हूँ कि आपका रत्नत्रय सदा कुशल रहे और स्वास्थ्य भी अनुकूल बने ताकि आप इसी प्रकार जटिल आर्ष ग्रन्थों को अधिकाधिक सुबोध रीत्या प्रस्तुत कर सके। इस संस्करण के प्रारम्भकार मे संघस्थ **आर्यिका पूज्यश्री प्रशान्तमती माताजी** ने भी पुष्कल सहयोग प्रदान किया है, उनके चरणो मे वन्दामि निवेदन करता हुआ यही कामना करता हूँ कि उनकी श्रुताराधना सतत गतिशील रहे। आपके माध्यम से मुझे भी श्रुतसेवा का अपूर्व लाभ मिला है—एतदर्थ मैं आर्यिका द्वय का चिर कृतज्ञ हूँ।

परम पूज्य १०८ उपाध्याय श्री ज्ञानसागरजी महाराज की प्रेरणा से इस ग्रन्थ का पुनर्मुद्रण श्री १००८ चन्द्रप्रभ दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र देहरा-तिजारा, अलवर (राजस्थान) के उदार आर्थिक सहयोग से हो रहा है। एतदर्थ मैं पूज्य उपाध्यायश्री के चरणो में नतमस्तक हूँ और क्षेत्र के श्रुतप्रेमी संरक्षक **श्रीयुत सुमतप्रसाद जैन** एवं क्षेत्र की कार्यकारिणी समिति का आभारी हूँ। इस संस्करण के प्रकाशन में आदरणीय श्रीयुत् नीरजजी जैन की भी महती भूमिका रही है, एतदर्थ उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित

करता हूँ।

सुन्दर, स्वच्छ एव सुरुचिपुर्ण आफॅसैट मुद्रण के लिए मैं शकुन प्रिण्टर्स के सचालक श्री सुभाष जैन एवं कर्मचारियो को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

ग्रन्थ के सम्पादन एव प्रस्तुतीकरण मे रही अपनी भूलों के लिए सभी गुणग्राही विद्वानो से सविनय क्षमाप्रार्थी हूँ।

श्रुत पचमी, वि.सं. २०५४ डॉ. चेतनप्रकाश पाटनी
दिनाक १० जून १९९७ सम्पादक

तिलोयपण्णत्ती और उसका गणित

लेखक : लक्ष्मीचन्द्र जैन, पूर्व प्राचार्य शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय,
छिंदवाडा (म० प्र०)

आचार्य यतिवृषभ द्वारा रचित तिलोयपण्णत्ती करणानुयोग - विषयक महान् ग्रन्थ है जो प्राकृत भाषा मे है। यह त्रिलोकवर्ती विश्व-रचना का सार रूप से गणितनिबद्ध दर्शन कराने वाला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसका प्रथम बार सम्पादन दो भागो मे प्रोफेसर हीरालाल जैन. प्रोफेसर ए. एन. उपाध्ये तथा पंडित बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री द्वारा १९४३ एव १९५१ मे सम्पन्न हुआ था। पूज्य आर्यिका श्री विशुद्धमती माताजी कृत हिन्दी टीका सहित अब इसका द्वितीय बार सम्पादन हो रहा है जो अपने आप मे एक महान् कार्य है, जिसमे विगत सम्पादित ग्र थों का परिशोधन एव विश्लेषण तथा अन्य उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियो द्वारा मिलान किया जाकर एक नवीन, परम्परागत रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है।

तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ का विशेष महत्त्व इसलिए है कि कर्मसिद्धान्त एव अध्यात्म-सिद्धान्त-विषयक ग्रन्थों मे प्रवेश करने हेतु इस ग्रन्थ का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। कर्म-परमाणुओं द्वारा आत्मा के परिणामों का दिग्दर्शन जिस गणित द्वारा प्रबोधित किया जाता है, उस गणित की रूप-रेखा का विशेष दूरी तक इस ग्र थ मे परिचय कराया गया है। इस प्रकार यह ग्र थ अनेक ग्रन्थो को भलीभाँति समझने हेतु सुदृढ आधार बनता है।

यतिवृषभाचार्य की दो कृतियाँ निर्विवाद रूप से प्रसिद्ध मानी गयी हैं, जो क्रमश: कसाय-पाहुडसुत्त पर रचित चूर्णिसूत्र और तिलोयपण्णत्ती हैं। आचार्य आर्यमंक्षु एव आचार्य नागहस्ति

जो "महाकम्मपयडि पाहुड" के ज्ञाता थे उनसे यतिवृषभाचार्य ने कसायपाहुड के सूत्रों का व्याख्यान ग्रहण किया था, जो 'पेज्जदोसपाहुड' के नाम से भी प्रसिद्ध था। आचार्य वीरसेन ने इन उपदेशों को प्रवाहक्रम से आये घोषित किया है तथा प्रवाह्यमान भी कहकर यथार्थ तथ्य रूप उल्लेखित किया है। आगे उन्होंने आचार्य आर्यमक्षु के उपदेश को 'अपवाइज्जमाण' और आचार्य नागहस्ति के उपदेश को 'पवाइज्जत' कहा है।

तिलोयपण्णत्ती के रचयिता यतिवृषभाचार्य कितने प्रकांड विद्वान् थे, यह चूर्णिसूत्रों तथा तिलोयपण्णत्ती की रचना-शैली से स्पष्ट हो जाता है। रचनाएँ वृत्तिसूत्र तथा चूर्णिसूत्र में हुआ करती थी। वृत्तिसूत्र के शब्दो की रचना सक्षिप्त तथा सूत्रगत अशेष अर्थसग्रह सहित होती थीं। चूर्णिसूत्र की रचना भी सक्षिप्त शब्दावलीयुक्त, महान् अर्थगर्भित, हेतु, निपात एवं उपसर्ग से युक्त, गम्भीर, अनेक पदसमन्वित, अव्यवच्छिन्न, धारा-प्रवाही हुआ करती थी। इस प्रकार तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि से निस्सृत बीजपदों को उद्घाटित करने में चूर्णिपद समर्थ कहलाता था। चूर्णिपद के बीजसूत्र विवृत्यात्मक सूत्र-रूप होते थे तथा तथ्यों को उद्घोषित करने वाले होते थे। इन सूत्रों द्वारा यतिवृषभाचार्य ने आनुपूर्वी, नाम, प्रमाण, वक्तव्यता और अर्थाधिकार इन पाँच उपक्रमों द्वारा अर्थ को प्रकट किया है। इस प्रकार उनकी शैली विभाषा सूत्र सहित, अवयवार्थ वाली एवं पदच्छेद पूर्वक व्याख्यान वाली है।

ऐसे कर्म-ग्रंथ के सार्वजनीन हित मे प्रयुक्त होने हेतु उसका आधारभूत ग्रंथ भी तिलोय-पण्णत्ती रूप मे रचा। इस ग्रन्थ मे नौ अधिकार हैं : सामान्य लोक स्वरूप, नारकलोक, भवनवासी लोक, मनुष्यलोक, तिर्यग्लोक, व्यन्तरलोक, ज्योतिर्लोक, देवलोक और सिद्धलोक। इस प्रकार गणि-तीय, सुव्यवस्थित, संख्यात्मक विवरण सकेत एव सदृष्टियो सहित इस सरल, लोकोपयोगी तथा लोकोत्तरोपयोगी ग्रथ की रचना अधिकाश रूप से पद्यात्मक तथा कही-कही गद्य खण्ड, स्फुट शब्द या वाक्य रूप भी है। इसमें छन्दो का भी उपयोग हुआ है जो इन्द्रवज्रा, स्वागता, उपजाति, दोधक, शार्दूल-विक्रीडित, वसन्ततिलका, गाथा, मालिनी नाम से ज्ञात हैं।

इस ग्रन्थ में ग्रन्थकार ने कहीं आचार्य परम्परा से प्राप्त और कही गुरूपदेश से प्राप्त ज्ञान का उल्लेख किया है। जिन ग्रथों का उन्होने उल्लेख किया है : आग्रायणी, परिकर्म, लोकविभाग, लोक-विनिश्चय : वे अभी उपलब्ध नही हैं। इन ग्रन्थो मे भी तिलोयपण्णत्ती के समान करणानुयोग की सामग्री रही होगी। करणानुयोग-सम्बन्धी सामग्री जिसमे गणित - सूत्रों का बाहुल्य होता है अर्ध-मागधी आगम - विषयक सूयप्रज्ञप्ति (बम्बई १९१९), चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (बम्बई १९२०) मे भी मिलती है। साथ ही अन्य ग्रन्थों : लोकविभाग, तत्वार्थराजवार्तिक, धवला जयधवला टीका, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति संग्रह, त्रिलोकसार, त्रिलोकदीपिका (सिद्धांतसार दीपक) मे भी करणानुयोग विषयकगणितीय सामग्री उपलब्ध है। सिद्धान्तसार दीपक ग्रथ तथा त्रिलोकसार ग्रन्थ का अभिनवावधि में सम्पादन श्री आर्यिका विशुद्धमतीमाताजी ने अपार परिश्रम के पश्चात् विशुद्धरूप मे किया है। डॉ० किरफेल द्वारा रचित डाइ कास्मोग्राफी डेर इडेर (बान, लाइपजिग, १९२०) भी इस सबंध में द्रष्टव्य है।

यतिवृषभाचार्य के ग्रन्थ का रचनाकाल-निर्णय विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग ढंग से अलग-अलग किया है। डॉ० हीरालाल जैन तथा डॉ० ए० एन० उपाध्ये ने उनका काल ईस्वी सन् ४७३ से लेकर ६०९ के मध्य निर्णीत किया है। यही कालनिर्णय डेविड पिंगरी ने माना है। फिर भी इन विद्वानों ने स्वीकार किया है कि अभी भी इस कालनिर्णय को निश्चित नहीं कहा जा सकता है और आगे सुदृढ़ प्रमाण मिलने पर इसे निश्चित किया जाये। आचार्य शिवार्य, वट्टकेर, कुन्दकुन्द आदि ग्रंथरचयिताओं के वर्ग में यतिवृषभ आचार्य आते हैं जिनका ग्रंथ आगमानुसारी ग्रंथसमूह में आता है जो पाटलीपुत्र मे सगृहीत आगम के कुछ आचार्यों द्वारा अप्रामाणिक एव त्याज्य माने जाने के पश्चात् आचार्य परम्परा के ज्ञानाधार से स्मृतिपूर्वक लेख रूप मे सग्रहीत किये गये। उनकी पूर्ववर्ती रचनाएँ क्रमश: अग्गायणिय, दिट्ठिवाद, परिकम्म, मूलायार, लोयविणिच्छय, लोयविभाग, लोगाइणि रही हैं।

१. गणित-परिचय :

सन् १९५२ के लगभग डॉ० हीरालाल जैन द्वारा मुझे तिलोयपण्णत्ती के दोनों भागो के गणित सबधी प्रबन्ध को तैयार करने के लिए कहा गया था। इन पर 'तिलोयपण्णत्ती का गणित' प्रबन्ध तैयार कर 'जम्बूदीवपण्णत्तीसगहो' मे १९५८ मे प्रकाशित किया गया। उसमे कुछ अशुद्धियाँ रह गई थी जिन्हे सुधार कर यह प्र.य: १०५ पृष्ठों का लेख वितरित किया गया था। वह लेख सुविस्तृत था तथा तुलनात्मक एव शोधात्मक था। यहाँ केवल रूपरेखायुक्त गणित का परिचय पर्याप्त होगा।

तिलोयपण्णत्ती ग्रन्थ मे जो सूत्रबद्ध प्ररूपण है उसमें परिणाम तथा गणितीय (करण) सूत्र दिये गये हैं तथा उनका विभिन्न स्थलो मे प्रयोग भी दिया गया है। ये सूत्र ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। आगम-परम्परा-प्रवाह मे आया हुआ यह गणितीय विषय अनेक वर्ष पूर्व का प्रतीत होता है। क्रियात्मक एव रैखिकीय, अकगणितीय एव बीजगणितीय प्रतीक भी इस ग्रन्थ मे स्फुट रूप से उपलब्ध हैं जिनमे से कुछ, हो सकता है, नेमिचद्राचार्य के ग्रन्थों की टीकाएँ बनने के पश्चात् जोड़ा गया हो।

सिंहावलोकन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि जो गणित इस ग्रन्थ मे वर्णित है वह सामान्य लोकप्रचलित गणित न होकर लोकोत्तर विषय प्रतिपादन हेतु विशिष्ट सिद्धान्तों को आधार लेकर प्रतिपादित किया गया है। यथा : सख्याओ के निरूपण मे सख्यात, असख्यात एव अनन्त प्रकार वाली संख्याएँ—राशियो का प्रतिनिधित्व करने हेतु निष्पन्न की गयी हैं। उनके दायरे निश्चित किये गये हैं, उन्हे विभिन्न प्रकारों मे उत्पन्न करने हेतु विधियाँ दी गयी हैं, और उन्हे सख्यात से यथार्थ असख्यात रूप मे लाने हेतु असख्यातात्मक राशियो-सख्याओ को युक्त किया गया है। इसी प्रकार असख्यात से यथार्थ अनन्तरूप मे लाने के लिए सख्याओ को अनन्तात्मक राशियो से युक्त किया गया है। यह संख्याप्रमाण है। इसीप्रकार उपमा प्रमाण द्वारा राशियो के परिमाण का बोध किया गया है। जिसप्रकार असख्यात एव अनन्त रूप राशियाँ उत्पन्न की गई, जिनका दर्शन क्रमश: अवधिज्ञानी और केवलज्ञानी को होता है, उसी प्रकार उपमा प्रमाण मे आने वाली प्रतिनिधि राशियाँ, अगुल,

प्रतरांगुल, घनांगुल, जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर, लोक, पल्य और सागर में प्रदेश राशियों और समय-राशियो को निरूपित करती हैं, जो द्रव्य प्रमाणानुगम में अनेक प्रकार की राशियों की सवस्थ संख्या को बतलाती हैं। इस प्रकार प्रकृति में त्रिलोक मे पायी जाने वाली अस्तिरूप राशियों का बोध इन रचनात्मक संख्याप्रमाण एव उपमाप्रमाण द्वारा दिया जाता है। इसी प्रकार अल्पबहुत्व एवं धाराओ द्वारा राशि की सही-सही स्थिति का बोध दिया जाता है।

उपमा प्रमाण के आधारभूत प्रदेश और समय हैं। प्रदेश की परिभाषा परमाणु के आधार पर है। अभेद्य पुद्गल परमाणु जितना आकाश व्याप्त करता है उतने आकाशप्रमाण को प्रदेश कहते हैं। इस प्रकार अगुल, प्रतरागुल, घनांगुल में प्रदेश सख्या निश्चित की गई है। इसी प्रकार जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और घनलोक में प्रदेश सख्या निश्चित है। पल्य और सागर मे जो समय राशि निश्चित की गई है, वह समय भी परिभाषित किया गया है। परमाणु जितने काल में मंद गति से एक प्रदेश का अतिक्रमण करता है अथवा जितने काल में तीव्र गति से जगच्छ्रेणी तय करता है, वह समय कहलाता है। जिस प्रकार परमाणु अविभाजित है वैसे ही प्रदेश एव समय की इकाई अविभाजित है।

आकाश में प्रदेशबद्ध श्रेणियां मानकर जीव एवं पुद्गलों की ऋजु एवं विग्रह गति बतलाई गई है। तत्त्वार्थराजवार्तिक मे अकलंकाचार्य ने निरूपण किया है कि चार समय से पहले ही मोड़े वाली गति होती है, क्योकि लोक मे ऐसा कोई स्थान नही है जिसमे तीन मोडे से अधिक मोडे लेना पडे। जैसे षष्टिक चावल साठ दिन मे नियम से पक जाते हैं, उसी प्रकार विग्रहगति भी तीन समय मे समाप्त हो जाती है। (तत्त्वा वा. २, २८, १)।

अकगणना मे शून्य का उपयोग अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ तिलोयपण्णत्ती (गाथा ३१२, चतुथ महाधिकार) मे अचलात्म नामक काल को एक सकेतना द्वारा दर्शाया गया है। यह मान है $(८४)^{३१} \times (१०)^{६०}$ प्रमाण वर्ष। अर्थात् ८४ मे ८४ का ३१ बार गुणन और १० का १० में ६० बार गुणन। यही वर्गितसंवर्गित प्रक्रिया का भी उपयोग किया गया है। जैसे यदि २ को तीन बार वर्गितसंवर्गित किया जाये तो $(२५६)^{२५६}$ अर्थात् २५६ में २५६ का २५६ बार गुणन करने पर यह राशि उत्पन्न होगी।

जहाँ वर्गणसंवर्गण से राशि पर प्रक्रिया करने से इष्ट बड़ी राशि उत्पन्न कर ली जाती है वहीं अर्द्धच्छेद एव वर्गशलाका निकालने को प्रक्रिया से इष्ट छोटी राशि उत्पन्न कर ली जाती है। एक ओर सश्लेषण दृष्टिगत होता है, दूसरी ओर विश्लेषण। इस प्रकार की प्रक्रियाओं का उपयोग इतिहास मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। अर्द्धच्छेद प्रक्रिया से गुणन को योग में तथा भाग को घटाने में बदल दिया जाता है। वर्गण की प्रक्रिया भी गुणन मे बदल जाती है। इस प्रकार धाराओं मे आने वाली विभिन्न राशियो के बीच अर्द्धच्छेद एव वर्गशलाका विधियो द्वारा एवं वर्गण विधियों द्वारा सम्बन्ध स्थापित किया जाता है।

अंकगणित मे ही समान्तर और गुणोत्तर श्रेणियों के योग निकालने के तिलोयपण्णत्ती में अनेक प्रकरण आये है। इस ग्रन्थ में कुछ और नवीन प्रकार की श्रेणियो का सकलन किया गया है।

दूसरे महाधिकार में गाथा २७ से लेकर गाथा १०४ तक नारक बिलो के सम्बन्ध में श्रेणिसंकलन है। उसी प्रकार पाँचवे महाधिकार में द्वीपसमुद्रो के क्षेत्रफलों का अल्पबहुत्व संकलन रूप मे वर्णित किया गया है। श्रेणियों को इतने विस्तृत रूप मे वर्णन करने का श्रेय, जैनाचार्यों को दिया जाना चाहिए। पुन: इस प्रकार की प्ररूपणा सीधी अस्तित्व पूर्ण राशियो से सम्बन्ध रखती थी जिनका बोध इन संश्लेषण एव विश्लेषण विधियो से होता था।

यह महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि उपमा प्रमाण मे एक सूच्यंगुल में स्थित प्रदेशो की संख्या उतनी ही मानी गयी जितनी पल्य की समय राशि को अद्धापल्य की समय राशि के अर्द्धच्छेद बार स्वय से स्वय को गुणित किया जाये। प्रतीकों मे

$$(\text{अंगुल}) = (\text{पल्य})^{[\text{अद्धापल्य के अर्द्धच्छेद}]}$$

साथ ही यह भी महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि एक प्रदेश मे अनन्त परमाणुओं को समाविष्ट करने की अवगाहन शक्ति आकाश मे है और यही एक दूसरे मे प्रविष्ट होने की क्षमता परमाणुओं मे भी है।

समान्तर श्रेणियों और गुणोत्तर श्रेणियों का उपयोग तिलोयपण्णत्ती में तो आया ही है, साथ ही कर्म-ग्रन्थो में तो आत्मा के परिणाम और कर्मपुद्गलो के समूह के यथोचित प्रतिपादन मे इन श्रेणियो का विशाल रूप मे उपयोग हुआ है। श्रेणियों का आविष्कार कब, क्यो और क्या अभिप्राय लेकर हुआ, इसका उत्तर जैनग्रन्थो द्वारा भलीभाँति दिया जा सकता है। विश्व की दूसरी सभ्यताओ मे इनके अध्ययन का उदय किस प्रकार हुआ तथा एशिया मे भी इनका अध्ययन का मूल स्रोतादि क्या था, यह शोध का विषय बन गया है। अर्द्धच्छेद और वर्गशलाकाओ का धाराओ मे उपयोग भी विश्लेषण विधियों मे से एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विधि है जिसका उपयोग आज लगएरिथ्म के रूप में विश्लेषण तथा प्रयोगात्मक विधियो में अत्यधिक बढ गया है। आधार दो को जैनाचार्यों ने अर्द्धच्छेद अथवा "लागएरिथ्म टू दा बेस टू" मानकर कर्मसिद्धान्त दि मे गणनाओं को सरलतम बना दिया था वैसे ही आज कम्प्यूटरो मे भी दो को आधार चुना गया है, ताकि पूर्णांको मे परिणाम राशि की सार्थकता को प्रतिबोधित कर सके।

तिलोयपण्णत्ती में बीजरूप प्रतीकों का कही-कहीं उपयोग हुआ है। रिण के लिए उसके सक्षेप रूप को कही-कही लिया गया दृष्टिगत होता है, जैसे रिण के लिए 'रि'। मूल के लिए 'मू'। रिण के लिए ˚। जगच्छ्रेणी के लिए आडी लकीर '—'। जगत्प्रतर के लिए दो आड़ी क्षैतिज लकीरे "="; घनलोक के लिए तीन आड़ी लकीरे "≡"। रज्जु के लिए 'र', पल्य के लिए 'प', सूच्यंगुल के लिए '२', आवलि के लिए भी '२' लिखा गया। नेमिचन्द्राचार्य के ग्रन्थो की टीकाओ में विशेष रूप से संदृष्टियों को विकसित किया गया जो उनके बाद ही माधवचन्द्र त्रैविद्याचार्य एवं चामुण्डराय के प्रयासों से फलीभूत हुआ होगा, ऐसा अनुमान है।

जहाँ तक मापिकी एव ज्यामिति विधियों का प्रश्न है, इन्हें करणानुयोग ग्रन्थों में जम्बूद्वीपादि के वृत्त रूप क्षेत्रों के क्षेत्रफल, धनुष, जीवा, बाण, पार्श्वभुजा, तथा उनके अल्पबहुत्व निकालने

के लिये प्रयुक्त किया गया। तिलोयपण्णत्ती मे उपर्युक्त के सिवाय लोक को वेष्टित करने वाले विभिन्न स्थलों पर स्थित वातवलयों के आयतन भी निकाले गये हैं जो स्फान सदृश आकृतियों, क्षेत्रों एवं आयतनों से युक्त हैं। इनमें आकृतियों का टापालाजिकल डिफार्मेशन कर बनादिरूप में लाकर घनफल आदि निकाला गया है, अतएव विधि के इतिहास की दृष्टि से यह प्रयास महत्त्वपूर्ण है।

व्यास द्वारा वृत्त की परिधि निकालने की विधियाँ भी विश्व में कई सभ्यता वाले देशों में पाई जाती हैं। तिलोयपण्णत्ती जैसे करणानुयोग के ग्रन्थों में $\frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}}$ का मान स्थूल रूप से ३ तथा सूक्ष्म रूप से $\sqrt{१०}$ दिया गया है। वीरसेनाचार्य ने धवला ग्रन्थ में एक और मान दिया है जिसे उन्होंने सूक्ष्म से भी सूक्ष्म कहा है और वह वास्तव मे ठीक भी है। वह चीन में भी प्रयुक्त होता था: $\frac{\text{परिधि}}{\text{व्यास}} = \frac{३५५}{११३} = ३.१४१५९३$: किन्तु वीरसेनाचार्य ने जा सस्कृत श्लोक उद्धृत किया है उसमें १६ अधिक जोड़कर लिखा जाने से वह अशुद्ध हो गया है—

$$\frac{१६\ (\text{व्यास}) + १६}{११३} + ३\ (\text{व्यास}) = \text{परिधि}$$

जो कुछ हो यह तथ्य चीन और भारत के गणितीय सम्बन्ध की परम्परा को जोडता प्रतीत होता है। प्रदेश और परमाणु की धारणाएँ यूनान से सबध जोड़ती हैं तथा गणित के आधार पर अहिसा का प्रचार यूनान के पिथेगोरस की स्मृति ताजी करती हैं।* ज्यामिति मे अनुपात सिद्धान्त का तिलोयपण्णत्ती मे विशेष प्रयोग हुआ है। लोकाकाश का घनफल निकालने की प्रक्रिया को विस्तृत किया गया है और भिन्न-भिन्न रूप की आकृतियां लोक के घनफल के समान लेकर छोटी आकृतियो से उन्हे पूरित कर घनफल की उनमे समानता दिखलाई गई है। इस प्रकार लोक को प्रदेशो से पूरित कर, छोटी आकृतियो से पूरित कर जो विधियां जैनाचार्यों ने प्रयुक्त की हैं, वे गणितीय इतिहास मे अपना विशेष स्थान रखेगी।

जहाँ तक ज्योतिर्लोक विज्ञान की विधियाँ है, वे तिलोयपण्णत्ती अथवा अन्य करणानुयोग ग्रन्थों मे एक सी हैं। समस्त आकाश को गगनखण्डों मे विभाजित कर मुहूर्तों में ज्योतिर्बिम्बो की स्थिति, गति, सापेक्ष गति, वीथियाँ आदि निर्धारित की गयी। इनमे योजन का भी उपयोग हुआ है। योजन शब्द कोई रहस्यमय योजना से सम्बन्धित प्रतीत होता है। ऐसा ही चीन मे "लो" शब्द से अभिप्राय निकलता है। अगुल के माप के आधार पर योजन लिया गया है और अगुल के तीन प्रकार होने के कारण योजन के भी तीन प्रकार हो गये होगे। सूर्य, चन्द्र एव ग्रहों के भ्रमण मे दैनिक एवं वार्षिक गति को मिला लिया गया। इससे उनकी वास्तविक वीथियां वृत्ताकार न होकर समापन एवं असमापन कुतल रूप मे प्रकट हुई। जहां तक ग्रहो और सूर्य - चन्द्रमा की पृथ्वीतल से दूरी का

---

*देखिये, "तिलोयपण्णत्ती का गणित" जम्बूदीवपण्णत्तीसगहो, शोलापुर, १९५८ (प्रस्तावना) १-१०५ तथा देखिये "गणितसार सग्रह", शोलापुर, १९६३ (प्रस्तावना)

संबंध है, उनमें प्रयुक्त योजन का अभिप्राय वह नहीं है जैसा कि हम साधारणतः सोचते हैं और जमीन के ऊपर की ऊँचाई चन्द्र, सूर्य की ले लेते हैं। वे उक्त ग्रहों की पारम्परिक कोणीय दूरियों के प्रतीक रूप में प्रयुक्त हुए प्रतीत होते हैं। इस विषय पर शोध लगातार चल रही है। यह भी जानना आवश्यक है कि इस प्रकार योजन माप में चित्रातल से जो दूरी ग्रह आदि की निकाली गयी, वह विधि क्या थी और उसका आधार क्या था। क्या यह दूरी छायामाप से ही निकाली जाती थी अथवा इसका और कोई आधार था ? सज्जनसिंह लिश्क एवं एस. डी शर्मा ने इस विधि पर शोध-निबन्ध दिये हैं जिनसे उनकी मान्यता यह स्पष्ट होती है कि ये ऊँचाइयाँ सूर्यपथ से उनकी कोणीय दूरियाँ बतलाती होंगी। किन्तु यह मान्यता केवल चन्द्रमा के लिए अनुमानतः सही उतरती है।

योजन के विभिन्न प्रकार होने के साथ ही एक समस्या और रह जाती है। वह है रज्जु के माप को निर्धारित करने की। इसके लिए रज्जु के अर्द्धच्छेद लिए जाते है और इस संख्या का संबंध चन्द्रपरिवारादि ज्योतिर्बिम्ब राशि से जोड़ा गया है। इसमे प्रमाणांगुल भी शामिल होते हैं जिनकी प्रदेशसंख्या का मान पल्य समयराशि से स्थापित किया जा सकता है। इस प्रकार रज्जु का मान निश्चित किया जा सकता है। चन्द्रमादि बिम्बो को गोलार्द्ध रूप माना गया है जो वैज्ञानिक मान्यता से मिलता है क्योंकि आधुनिक यन्त्रों से प्रतीत होता है कि चन्द्रमादि सर्वदा पृथ्वी की ओर केवल वही अर्द्धमुख रखते हुए विचरण करते हैं। उष्णतर किरणो और शीतल किरणों का क्या अभिप्राय हो सकता है, अभी तक स्पष्ट प्रतीत नही हुआ है। ग्रहों के गमन सम्बन्धी ज्ञान का कालवश विनष्ट होना बतलाया गया है। पर यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र बिम्बो के गमन एकीकृत विधि से वीथियो के रूप में तथा मुहूर्त मे योजन एव गगनखण्डो के माध्यम से दर्शाये गये होंगे जो यूनान की प्राचीन विधियो तथा भारत को तत्कालीन वृत्त वीथियों के आधार पर पुनः स्थापित किये जा सकते हैं, ऐसा अनुमान है।

पंडित नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य जैन ज्योतिष के सम्बन्ध मे कुछ निष्कर्षों पर शोधानुसार पहुँचे थे, जो निम्नलिखित है .[1]

(क) पञ्चवर्षात्मक युग का सर्वप्रथम उल्लेख जैन ज्योतिष ग्रन्थो मे उपलब्ध होना।[2]

(ख) अवम-तिथि क्षय संबंधी प्रक्रिया का विकास जैनाचार्यों द्वारा स्वतन्त्र रूप मे किया जाना।

(ग) जैन मान्यता की नक्षत्रात्मक ध्रुवराशि का वेदांग ज्योतिष में वर्णित दिवसात्मक ध्रुवराशि से सूक्ष्म होना तथा उसका उत्तरकालीन राशि के विकास में सम्भवतः सहायक होना।

१. देखिये "वर्णी अभिनन्दन ग्रंथ" सागर मे प्रकाशित लेख, "भारतीय ज्योतिष का पोषक जैन-ज्योतिष" १९६२, पृष्ठ ४७८–४८४, उनका एक और लेख "ग्रीक–पूर्व जैन ज्योतिष विचारधारा" ब्र. चंदाबाई अभिनन्दन ग्रंथ, आरा, १९५४, पृष्ठ ४६८–४६६ मे द्रष्टव्य है।

२. वेदांग ज्योतिष में भी पञ्चवर्षात्मक युग का पंचांग बनता है, पर जो विस्तृत गगनखण्डों, वीथियों एव योजनों मे गमन सम्बन्धी सामग्री जैन करणानुयोग के ग्रन्थो मे उपलब्ध है, वह अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

(घ) पर्व और तिथियों में नक्षत्र लाने की विकसित जैन प्रक्रिया, जैनेतर ग्रन्थों में छठी शती के बाद दृष्टिगत होना।

(ङ) जैन ज्योतिष में संवत्सर सम्बन्धी प्रक्रिया मे मौलिकता होना।[1]

(च) दिनमान प्रमाण सम्बन्धी प्रक्रिया में, पितामह सिद्धांत का जैन प्रक्रिया से प्रभावित प्रतीत होना।

(छ) छाया माप द्वारा समय निरूपण का विकसित रूप इष्ट काल, भयाति आदि होना।

इनके अतिरिक्त आतप और तम क्षेत्र का दर्शाये रूप मे प्रकट करना किस प्रक्षेप के आधार पर किया गया है और सूर्य, चन्द्र के रूप और प्रतिरूप का उपयोग किस आधार पर हुआ है इस सम्बन्धी शोध चल रही है। चक्षुस्पर्शध्वान पर भी अभी कुछ नही कहा जा सकता है जब तक कि उसकी प्रायोगिक विज्ञान से तुलना न कर ली जाये।

पूज्य आर्यिका विशुद्धमतीजी ने असीम परिश्रम कर चित्र सहित अनेक गणितीय प्रकरणों का निरूपण ग्रन्थ की टीका करते हुए कर दिया है। अतएव संक्षेप मे विभिन्न गाथाओ मे आये हुए प्रकरणों के सूत्रों तथा अन्य महत्त्वपूर्ण गणितीय विवरण देना उपयुक्त होगा।

२. तिलोयपण्णत्ती के कतिपय गणितीय प्रकरण :

(प्रथम महाधिकार)

गाथा १/९१ अनन्त अलोकाकाश के बहुमध्यभाग मे स्थित, जीवादि पांच द्रव्यो से व्याप्त और जगश्रेणी के घन प्रमाण यह लोकाकाश है।

$\equiv$ १६ ख ख ख

उपर्युक्त निरूपण में $\equiv$ जगश्रेणी के घन का प्रतीक है जो लोकाकाश है। १६ जीवराशि की प्रचलित संदृष्टि है। इसी प्रकार १६ से अनन्तगुनी १६ ख पुद्गल परमाणु राशि की संदृष्टि है और इससे अनन्तगुणी १६ ख ख भूत वर्तमान भविष्य त्रिकालगत समय राशि है। इस समय राशि से अनन्त गुणी १६ ख ख ख अनन्त आकाशगत प्रदेश राशि की संदृष्टि मानी गयी है जो अनन्त

१ अयन के कारण विषुवांश मे अन्तर आता है जिससे ऋतुएँ अपना समय धीरे-धीरे बदलती जाती है। अयन के कारण होने वाले परिवर्तन को जैनाचार्यों ने संभवतः देखा होगा और अपना नया पचांग विकसित किया होगा। वेदांग ज्योतिष मे माघशुक्ल प्रथम को सूर्य नक्षत्र धनिष्ठा और चन्द्र नक्षत्र को भी धनिष्ठा लिया गया है जबकि सूर्य उत्तरापथ पर रहता था। किंतु जैन पचांग (तिलोयपण्णत्ती आदि) मे जब सूर्य उत्तरापथ पर होता था तब माघ कृष्ण सप्तमी को सूर्य अभिजित् नक्षत्र मे और चन्द्रमा हस्त नक्षत्र मे रहता था। अयन का ३६०° का परिवर्तन प्राय २६००० वर्षों मे होता दृष्टिगत हुआ है।

अलोकाकाश की भी प्रतीक मानी जा सकती है क्योंकि इसकी तुलना मे ≡ लोकाकाश प्रदेश राशि नगण्य है। इस प्रकार उक्त सदृष्टि चरितार्थ होती है।

गाथा १/६३-१३०

आठ उपमा प्रमाणों की सदृष्टियाँ

प० १। सा० २। सू० ३। प्र० ४। घ० ५। ज० ६। लोक प्र० ७। लो० ८॥

दी गयी है जो पल्य सागरादि के प्रथम अक्षर रूप है।

व्यवहार पल्य से संख्या का प्रमाण, उद्धारपल्य मे द्वीप-समुद्रादि का प्रमाण और अद्धापल्य से कर्मों की स्थिति का प्रमाण लगाया जाता है। यहाँ गाथा १०२ आदि से निम्न माप निरूपण दिया गया है जो अगुल और अतत. योजन को उत्पन्न करता है —

अनन्तानन्त परमाणु द्रव्य राशि	=	१ उवसन्नासन्न स्कन्ध
८ उवसन्नासन्न स्कन्ध	=	१ सन्नासन्न स्कन्ध
८ सन्नासन्न स्कन्ध	=	१ त्रुटिरेणु स्कन्ध
८ त्रुटिरेणु स्कन्ध	=	१ त्रसरेणु स्कन्ध
८ त्रसरेणु स्कन्ध	=	१ रथरेणु स्कन्ध
८ रथरेणु स्कन्ध	=	१ उत्तम भोगभूमि बालाग्र
८ उत्तम भोगभूमि बालाग्र	=	१ मध्यम भोगभूमि बालाग्र
८ मध्यम भोगभूमि बालाग्र	=	१ जघन्य भोगभूमि बालाग्र
८ जघन्य भोगभूमि बालाग्र	=	१ कर्मभूमि बालाग्र
८ कर्मभूमि बालाग्र	=	१ लीक
८ लीक	=	१ जूँ
८ जूँ	=	१ जौ
८ जौ	=	१ अगुल

उपर्युक्त परिभाषा मे प्राप्त अगुल, सूच्यंगुल कहलाता है जिसकी सदृष्टि २ का अंक मानी गयी है। इस अगुल को उत्सेध अगुल भी कहते है जिसमे देव मनुष्यादि के शरीर की ऊँचाई, देवो के निवासस्थान व नगरादि का प्रमाण जाना जाता है। पाँच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण अवसर्पिणी काल के प्रथम भरत चक्रवर्ती का एक अगुल होता है जिसे प्रमाणागुल कहते हैं जिससे द्वीप समुद्रादि का प्रमाण होता है। स्व स्व काल के भरत ऐरावत क्षेत्र मे मनुष्यो के अगुल को आत्मागुल कहते है, जिससे झारीकलशादि की संख्या का प्रमाण होता है। यहाँ आर्यिकाश्री विशुद्धमतीजी ने प्रश्न उठाया कि तिलोयपण्णत्ती मे जो द्वीप-समुद्रादि के प्रमाण योजनो और अगुल आदि मे दिये गये है उससे नीचे की इकाइयो मे परिवर्तन कैसे किया जाय क्योंकि वे प्रमाणागुल के आधार पर योजनादि

लिये गये हैं और उक्त योजन मे जो अगुल उत्पन्न हो उसमे क्या ५०० का गुणनकर नीचे की इकाइयाँ प्राप्त की जाएँ ? वास्तव मे, जहाँ जिस अगुल की आवश्यकता हो, उसे ही लेकर निम्नलिखित प्रमाणों का उपयोग किया जाना चाहिए

६ अगुल = १ पाद, २ पाद = १ वितस्ति, २ वितस्ति = १ हाथ, २ हाथ = १ रिक्कू,

२ रिक्कू = १ दण्ड, १ दण्ड या ४ हाथ १ धनुष = १ मूसल = १ नाली,

२००० धनुष या २००० नाली = १ कोस, ४ कोस = १ योजन।

अतएव जिसप्रकार का अगुल चुना जायेगा, स्वयमेव उस प्रकार का योजन उत्पन्न होगा। प्रमाण अगुल किये जाने पर प्रमाण योजन और उत्सेध अगुल किये जाने पर उत्सेध योजन प्राप्त होगा।

योजन को प्रमाण लेकर व्यवहार पल्योपम का वर्षों मे मान प्राप्त हो जाता है। इस हेतु गड्ढे मे रोमो की सख्या $\frac{१९}{२} (४)^{३} (२०००)^{३} (४)^{३} (२४)^{३} (५००)^{६} (८)^{२१}$ प्राप्त होती है। यह व्यवहार पल्य के रोमो की सख्या है जिसमे १०० का गुणन करने पर व्यवहार पल्योपम काल राशि वर्षों मे प्राप्त हो जाती है। तत्पश्चात् -

उद्धार पल्य राशि = व्यवहार पल्य राशि असख्यात करोड वर्ष समय राशि

यह समय राशि ही उद्धारपल्योपम काल कहलाती है। इस उद्धारपल्य राशि मे द्वीप समुद्रों का प्रमाण जाना जाता है।

अद्धापल्य राशि = उद्धारपल्य राशि × असख्यात वर्ष समय राशि

यह समय राशि ही अद्धा-पल्योपम काल राशि कहलाती है। इस अद्धापल्य राशि से नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य और देवो की आयु तथा कर्मों की स्थिति का प्रमाण ज्ञातव्य है।

१० कोडाकोडी व्यवहार पल्य	=	१ व्यवहार सागरोपम
१० कोडाकोडी उद्धार पल्य	=	१ उद्धार सागरोपम
१० कोडाकोडी अद्धा पल्य	=	१ अद्धा सागरोपम

गाथा १/१३१, १३२

सूच्यगुल मे जो प्रदेश राशि होती है उसकी सख्या निकालने के लिए पहले अद्धापल्य के अर्द्धच्छेद निकालते है और उन्हे शलाका रूप स्थापित कर एक-एक शलाका के प्रति पल्य को रखकर आपस मे गुणित करते हैं। जो राशि इस प्रकार उत्पन्न होती है, वह सूच्यगुल राशि है :

$$\text{सूच्यगुल} = [\text{पल्य}]^{(\text{पल्य के अर्द्धच्छेद})}$$

इसी प्रकार

$$\text{जगच्छ्रेणी} = [\text{घनांगुल}]^{\left(\frac{\text{पल्य के अर्द्धच्छेद}}{\text{असंख्यात}}\right)}$$

यहाँ सूच्यंगुल राशि की सदृष्टि "२" और जगच्छ्रेणी की सदृष्टि "—" है।

इसी प्रकार

प्रतरांगुल = $(\text{सूच्यंगुल राशि})^2$, सदृष्टि ४
घनांगुल = $(\text{सूच्यंगुल राशि})^3$, सदृष्टि ६
जगप्रतर = $(\text{जगश्रेणि राशि})^2$, सदृष्टि '='
घनलोक = $(\text{जगश्रेणि राशि})^3$, सदृष्टि '≡'
राजू = $(\text{जगश्रेणि} \div ७)$, सदृष्टि 'ꣳ'

ये सभी प्रदेश राशियाँ है और इनका सम्बन्ध पल्योपमादि समयराशियो से स्थापित किया गया है।

गाथा १/१६५

इस गाथा मे अधोलोक का घनफल निकालने के लिए सूत्र दिया गया है, जो वेत्रासन सदृश है।

$$\text{घनफल वेत्रासन} = \left[\frac{\text{मुख} + \text{भूमि}}{२} \times \text{वेध}\right]$$

यहाँ वेध का अर्थ ऊँचाई है।

गाथा १/१६६

अधोलोक का घनफल = $\frac{४}{७}$ × पूर्ण लोक का घनफल

अर्द्ध अधोलोक का घनफल = $\frac{३}{७}$ × पूर्ण लोक का घनफल

गाथा १/१७६—१७७ : इस गाथा मे समानुपाती भाग निकालने का सूत्र दिया गया है।

$$\text{वृद्धि} = \frac{\text{भूमि} - \text{मुख}}{\text{उत्सेध}}$$

यहाँ उ उत्सेध का प्रतीक और व्या व्यास का प्रतीक है ।

$$\text{भूमि} - \left[\frac{\text{भूमि} - \text{मुख}}{\text{उत्सेध}}\right] \text{उ}_{1} = \text{व्या}_{1}$$

$$\text{भूमि} \left[\frac{\text{भूमि} - \text{मुख}}{\text{उत्सेध}}\right] \text{उ}_{2} = \text{व्या}_{2}$$

$$\text{भूमि} - \left[\frac{\text{भूमि} - \text{मुख}}{\text{उत्सेध}}\right] \text{उ}_{\text{न}} = \text{व्या}_{\text{न}}$$

इसी प्रकार हानि का सूत्र प्राप्त करते है ।
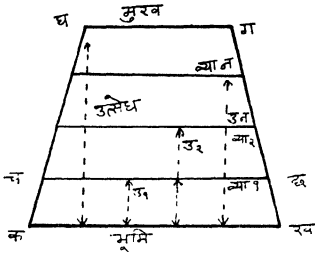
गाथा १/१८१

इस गाथा मे दो सूत्र दिये गये है ।

$\frac{\text{भुजा} + \text{प्रतिभुजा}}{2}$ व्यास, व्यास × ऊँचाई × मोटाई = समकोण त्रिकोण क्षेत्र का घनफल

$\frac{\text{व्यास}}{2}$ × लम्ब बाहु × मोटाई = लम्ब बाहुयुक्त क्षेत्र का घनफल

गाथा १/२१६ आदि :

सम्पूर्ण लोक को आठ प्रकार की आकृतियो मे निर्दशित किया गया है । इसमे प्रयुक्त सूत्र निम्न प्रकार है । सभी आकृतियों के घनफल जगश्रे णी के घन प्रमाण है ।

(१) सामान्यलोक = जगश्रे णी के घन प्रमाण यह आकृति पूर्व मे ही दी जा चुकी है जो सामान्यत. मान्य रूप है ।

(२) ऊर्ध्व आयत चतुरस्र : जगश्रे णी के घन प्रमाण यह आकृति घनाकार होनी चाहिए जिसकी लबाई, चौड़ाई एव ऊँचाई समान रूप से जगश्रेणी या ७ राजू हो । इस प्रकार इसका घनफल

= लबाई × चौड़ाई × ऊँचाई = ७ × ७ × ७ घन राजू = ३४३ घन राजू

(३) तिर्यक् आयत चतुरस्र : जगश्रे णी के घन प्रमाण इस आकृति में सभी विमाएँ समान नही हैं, अतएव घनायत रूप इसका घनफल

= १४ × ७/२ × ७ घनराजू = ३४३ घनराजू

(४) यवमुरज क्षेत्र : यह क्षत्र मुरज और यवो के द्वारा दर्शाया गया है।

मुरज आकृति बीच मे $\frac{७}{२}$ राज तथा अंत में १ राजू १ राजू है।

अतएव उसका क्षेत्रफल $\left(\frac{\frac{७}{२}+१}{२}\right)$ × १४ वर्ग राजू है, क्योंकि इसकी ऊँचाई १४ राजू है। यहाँ "मुखभूमिजोगदले" वाला ही सूत्र लगाया गया है।

अतः मुरज आकृति का क्षेत्रफल $= \left(\frac{\frac{७}{२}+१}{२}\right) \times १४$ वर्ग राजू $= \frac{६३}{२}$ वर्ग राजू

मुरज आकृति का घनफल = क्षेत्रफल × गहराई $= \frac{६३}{२} \times ७$ घन राजू

$= \frac{४४१}{२}$ घन राजू

शेष क्षत्र मे यव आकृतियाँ २५ समाती है।

एक यव का क्षेत्रफल $= \left(\frac{१}{२}\text{ राजू} \div २\right) \times \frac{१४}{५}$ वर्ग राजू $= \frac{७}{१०}$ वर्ग राजू

एक यव का घनफल $= \frac{७}{१०} \times ७$ घन राजू $\frac{४९}{१०}$ घन राजू अथवा $\frac{\equiv}{७०}$

२५ यवो का घन $= \frac{४९}{१०} \times २५$ घन राजू अथवा २५ $\frac{\equiv}{७०}$

(५) यव मध्य क्षेत्र—बाहल्य ७ राजू वाली यह आकृति आधे मुरज के समान होती है। इसमे मुख १ राजू, भूमि पुनः ७ राजू है, जैसा कि यवमुरज क्षेत्र होता है, किन्तु इसमे मुरज न डालकर केवल अर्द्धयवो से पूरित करते हैं। इस प्रकार इसमे ३५ अर्द्ध यव इस यवमध्य क्षेत्र मे समाते है।

एक अर्द्ध यव का क्षेत्रफल $= \frac{१}{२} \times \frac{१४}{५}$ वर्गराजू $= \frac{७}{५}$ वर्गराजू

एक अर्द्ध यव का घनफल $= \frac{७}{५} \times ७$ घनराजू $= \frac{४९}{५}$ घनराजू

इस प्रकार ३५ अर्द्ध यवों का घनफल $= \frac{४९}{५} \times ३५$ घनराजू = ३४३ घनराजू

इस प्रकार यव मध्य क्षेत्र का घनफल ३४३ घनराजू होता है। संदृष्टि मे $\frac{\equiv}{३५}$ एक अर्द्धयव का घनफल है। $\equiv|\equiv$ संदृष्टि का अर्थ है कि १४ राजू उत्सेध को पाँच बराबर भागो मे बाँटा जाये।

(६) मन्दराकार क्षेत्र : उपर्युक्त आकृतियों के ही समान आकृति लोक की लेते है जहाँ भूमि ६ राजू, मुख १ राजू, ऊँचाई १४ राजू और मोटाई ७ राजू लेते हैं। समानुपात के सिद्धान्त

पर विभिन्न उत्सेधों पर व्यास निकालकर 'मुहभूमिजोगदले' सूत्र से विभिन्न निर्मित वेत्रासनो के घनफल निकालकर जोड देने पर सम्पूर्ण लोक का घनफल ३४३ घनराजू प्राप्त करते है। इसे सविस्तार ग्रंथ मे देखे, क्योकि बचने वाली शेष आकृतियो को जोडकर पुन: घनफल निकालने की प्रक्रिया अपनाई जाती है।

(७) **दूष्य क्षेत्र :** उपर्युक्त आकृतियो के ही समान लोक का आकृति लेते है, जहाँ भूमि ६ राजू, मुख १ राजू, ऊँचाई १४ राजू लेते है तथा बाहल्य ७ राजू है। इसमे से मध्य मे २ १/२ यव निकालते है, जो मध्य मे १ राजू चौडाई वाले होते है। बाहर १/२ राजू भूमि तथा १/२ राजू मुख वाले दो क्षेत्र निकालने है। बीच मे यव निकल जाने के पश्चात् शेष क्षेत्रो का घनफल भी निकाला जा सकता है। इस प्रकार बाहरी दोनो प्रवण क्षेत्रों का घनफल = ९८ घनराजू।

भीतरी दीर्घ दोनो प्रवण क्षेत्रों का घनफल = १३७ १/५ घनराजू

भीतरी लघु दोनो प्रवण क्षेत्रो का घनफल ५८ ४/५ घनराजू

२ १/२ यव क्षेत्रो का घनफल ४९ घनराजू

इस प्रकार लोक का कुल घनफल ३४३ घनराजू प्राप्त होता है।

(८) **गिरिकटक क्षेत्र :** यह क्षेत्र यवमध्य क्षेत्र जैसा ही माना जा सकता है, जिसमे २० गिरियाँ है, शेष उल्टी गिरियाँ है। इस प्रकार कुल गिरिकटक क्षेत्र मिश्र घनफल मे बना है। इस प्रकार दोनो क्षेत्रो मे विशेष अन्तर दिखाई नही दिया है।

२० गिरियो का घनफल = ४९/५ × २० = १९६ घन राजू

शेष १५ गिरियो का घनफल = ४९/५ × १५ = १४७ घन राजू

इस प्रकार मिश्र घनफल ३४३ घन राजू प्राप्त होता है।

गाथा १/२७० आदि

वातवलया द्वारा वेष्टित लोक का विवरण इन गाथाओ मे है, जहाँ विभिन्न आकृतियो वाले वातवलयो के घनफल निकाले गये है। ये या तो सक्षेप के समच्छिन्नक है, आयतज है, समान्तरानीक है, जिनमे पारम्परिक सूत्रो का उपयोग किया जाता है। सदृष्टियाँ अपने आप में स्पष्ट है। वाता-वरुद्ध क्षेत्र और आठ भूमियो के घनफल को मिलाकर उसे सम्पूर्ण लोक मे से घटाने पर अवशिष्ट शुद्ध आकाश के प्रतीक रूप मे ही उस सदृष्टि को माना जा सकता है। वर्ग राजुओ मे योजन का गुणन बतलाकर घनफल निकाला गया है—उन्हे सदृष्टि रूप में जगप्रतर से योजनो द्वारा गुणित बतलाया गया है।

द्वितीय महाधिकार :

गाथा २/५८

इस गाथा में श्रेणिव्यवहार गणित का उपयोग है, जिसे समान्तर श्रेणि भी कहते हैं। मान लो प्रथम पाथड़े मे बिलों की कुल सख्या a हो और तब प्रत्येक द्वितीयादि पाथड़े में क्रमशः उत्तरोत्तर हानि d हो तो n वें पाथड़े में कुल बिलों की संख्या प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित सूत्र है :

इष्ट nवें पाथड़े में कुल बिलों की संख्या $= \{a - (n - १)\ d\}$

यहाँ $a = ३८९$, $d = ८$ और $n = ४$ है, ∴ चौथे पाथड़े मे श्रेणिबद्ध बिलों की सख्या। $\{३८९ - (४ - १)८\} = ३६५$ होती है।

गाथा २/५९

ग्रन्थकार ने n वे पाथड़े में इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलो की सख्या निकालने के लिए सूत्र दिया है : इष्ट पाथड़े मे इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की सख्या=

$$\left(\frac{a - ५}{d} + १ - n\right) d + ५$$

गाथा २/६० : यदि प्रथम पाथड़े मे इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलों की सख्या a और n वे पाथड़े मे a n मान ली जाये तो n का मान निकालने के लिए सूत्र निम्नलिखित है--

$$n - \left[\frac{a - ५}{d} - \frac{an - ५}{d}\right]$$

गाथा २/६१ : श्रेणिव्यवहार गणित में, किसी श्रेणी मे प्रथम स्थान मे जो प्रमाण रहता है उसे आदि, मुख (वदन) अथवा प्रभव कहते है। अनेक स्थानो मे समान रूप से होने वाली वृद्धि या हानि के प्रमाण को चय या उत्तर कहते हैं। ऐसी वृद्धि हानि वाले स्थानो को गच्छ या पद कहते है। उपर्युक्त को क्रमश first term, Common difference, number of terms कहते हैं।

गाथा २/६४ : सकलित धन को निकालने के लिए सूत्र दिया गया है।

मान लो कुल धन S हो, प्रथम पद a हो, चय d हो, गच्छ n हो तो सूत्र इच्छित श्रेणी में संकलित धन को प्राप्त कराता है .

$$S = \left[\ (n - \text{इच्छा})d + (\text{इच्छा} - १)d + (a\ २)\ \right]\frac{n}{२}$$

इच्छा का मान १ २ आदि हो सकता है।

गाथा २/६५ : इसी प्रकार सकलित धन निकालने का दूसरा सूत्र इस प्रकार है :

$$S = \left[\ \left\{\ \left(\frac{n - १}{२}\right)^{२} + \left(\frac{n - १}{२}\right)\ \right\}\ d + ५\right] n$$

यह समीकरण उपर्युक्त सभी श्रेणियों के लिए साधारण है।

उपर्युक्त मे संख्या ५ महातमःप्रभा के बिलों से सम्बन्धित होनी चाहिए। ५ को अन्तिम पद माना जा सकता है।

अन्तिम पद = a—(४९ – १) d

यदि a का मान ३८९ और d का मान ८ हो तो

अन्तिम पद = ३८९ – (४९ – १) ८ = ५ होता है।

गाथा २/६९ : सम्पूर्ण पृथ्वियो, इन्द्रक सहित श्रेणिबद्ध बिलो के प्रमाण को निकालने के लिए आदि ५, चय ८ और गच्छ का प्रमाण ४९ है।

गाथा २/७० : यहाँ सात पृथ्वियाँ है जिनमे श्रेणियो की सख्या ७ है। अतिम श्रेणी मे एक ही पद ५ है। इन सभी का सकलित धन प्राप्त करने के लिए निम्नलिखित सूत्र ग्रंथकार ने दिया है—

$$S_१ = \frac{N}{२}[\ (N+७)\ D--\ (७+१)\ D+२\ A]$$

$$= \frac{N}{२}[\ २\ A+(N—१)\ D\ ]$$

यहाँ इष्ट ७ है। A, D, N क्रमशः आदि, चय और गच्छ हैं।

गाथा २/७१ : उपर्युक्त के लिए दूसरा सूत्र निम्न प्रकार दिया गया है—

$$S_१ = [\ (\frac{N-१}{२} \times D)+A]\ N$$

$$= \frac{N}{२}[\ २A+(N-\ १)\ D]$$

गाथा २/७४ : यहा भी साधारण सूत्र दिया है—

$$S_२ = \frac{[n^२\ d]+(२\ n\ \ d)—nd}{२}$$

$$= \frac{n}{२}[\ (n-१)d+२d\ ]$$

गाथा २/८१

इद्रको रहित बिलो (श्रेणिबद्ध बिलों) की समस्त पृथ्वियो मे कुल सख्या निकालने के लिए सूत्र दिया गया है। यहाँ आदि ५ नही होकर ४ है क्योकि महातम प्रभा मे केवल एक इन्द्रक और चार श्रेणिबद्ध बिल है। यही आदि अथवा A है, गच्छ N या ४९ है, प्रचय D या ८ है।

सूत्र —

$$S_3 = \frac{(N^२ - N)\ D + (N.A)}{२} + (\frac{A}{२} . N)$$

$$= \frac{N}{२} [२ A + (N - १) D]$$

गाथा २/८२-८३ :

यहाँ आदि A को निकालने हेतु सूत्र दिया है—

$$A = \frac{[S_3 - \frac{n}{२}] + (D\ ७) - [७ - १ + N] D}{२}$$

इसे साधित करने पर पूर्व जैसा सूत्र प्राप्त हो जाता है।

यहाँ इष्ट पृथ्वी ७वी है, जिसका आदि निकालना इष्ट था।

७ के स्थान पर और कोई भी इच्छाराशि हो सकती है।

गाथा २/८४ :

चय अर्थात् D को निकालने के लिए ग्रन्थकार ने सूत्र दिया है—

$$D = S_3 \div ([N - १]^{N}_{२}) - (A \div \frac{N - १}{२})$$

गाथा २/८५ : ग्रन्थकार ने रत्नप्रभा प्रथम पृथ्वो के सकलित धन (श्रेणिबद्ध बिलो की कुल सख्या) को लेकर पद १३ को निकालने हेतु निम्नलिखित सूत्र का उपयोग किया है, जहाँ $n =$ १३, $S_2 =$ ४४२०, $d =$ ८ और $a =$ २९२ आदि है।

$$n = \left\{ \frac{\sqrt{(S_2\ \frac{d}{२}) + \frac{(a - \frac{d}{२})^२}{२}} - \frac{(a - \frac{d}{२})}{२}}{} \right\} - \frac{d}{२}$$

इसे भी साधित करने पर पूर्ववत् समीकरण प्राप्त होता है।

गाथा २/८६ :

उपर्युक्त के लिए दूसरा सूत्र भी निम्नलिखित रूप मे दिया गया है

$$n = \{\sqrt{(२\ d.S_2) + (a - \frac{d}{२})^२} - (a - \frac{d}{२})\} \div d$$

इसे साधित करने पर पूर्ववत् समीकरण प्राप्त होता है।

गाथा २/१०५ : यहाँ प्रचय ग्रथवा d को निकालने का सूत्र दिया है जब ग्रन्तिम पद मानलो l हो :

$$d = \frac{a - l}{(n - १)}$$

प्रथम बिल से याद nवें बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो सूत्र यह है :

$$a_n = a - (n - १)\, d,$$

यदि अतिम बिल से nवे बिल का विस्तार प्राप्त करना हो तो सूत्र यह है :

$$b_n = b + (n - १)\, d,$$

जहाँ a_n ग्रौर b_n उन nवें बिलो के विस्तारो के प्रतीक हैं। यहाँ विस्तार का ग्रर्थ व्यास किया जा सकता है।

गाथा २/१५७ : इन बिलो की गहराई (बाहल्य) समान्तर श्रेणी में है। कुल पृथ्वियाँ ७ है। यदि nवी पृथ्वी के इन्द्रक का बाहल्य निकालना हो तो सूत्र यह है—

nवी पृथ्वी के इन्द्रक का बाहल्य $= \frac{(n + १)३}{(७ - १)}$

nवी पृथ्वी के श्रेणिबद्ध बिलो का बाहल्य $= \frac{(n + १) \times ४}{(७ - १)}$

इसी प्रकार, nवी पृथ्वी के प्रकीर्णक बिलो का बाहल्य $= \frac{(n + १) \times ७}{(७ - १)}$

गाथा २/१५८ : दूसरो विधि से बिलों का बाहल्य निकालने हेतु ग्रंथकार ने ग्रादि के प्रमाण क्रमशः ६, ८ ग्रौर १४ लिये हैं। यहाँ भी पृथ्वियों की संख्या ७ है। यदि nवी पृथ्वी के इन्द्रक का बाहल्य निकालना हो तो सूत्र निम्नलिखित है :

n वी पृथ्वी के इन्द्रक का बाहल्य $= \frac{(६ + n \frac{६}{२})}{(७ - १)}$

यहा ६ को ग्रादि लिखे तो दक्षिण पक्ष $= \left(\frac{a + n. \frac{a}{२}}{७ - १}\right)$ होता है।

प्रकीर्णक बिलो के लिए भी यही नियम है।

गाथा २/१९६ : यहाँ घर्मा या रत्नप्रभा के नारकियों की संख्या निकालने के लिए जगश्रेणी ग्रौर घनागुल का उपयोग हुग्रा है। घनागुल को ६ ग्रौर सूच्यंगुल को २ लेकर घर्मा पृथ्वी के नारकियो की संख्या

$$= \text{जगश्रेणी} \times (\text{कुछ कम}) \sqrt{\sqrt{६}} = \text{जगश्रेणी} \times \left[\text{कुछ कम} \sqrt[४]{(२)^{१}} \right]$$

तृतीय महाधिकार :

गाथा ३/७६ : इस गाथा मे गुणसंकलित धन अथवा गुणोत्तर श्रेणी के योग का सूत्र दिया गया है ।

गच्छ=७, मुख=४०००, गुणकार (Common ratio) का प्रमाण २ है ।

मानलो S_n को n पदो का योग माना जाये जबकि प्रथम पद और गुणकार r हो तब

$S_n = \{(r\ r\ r \quad n \text{ पदो तक}) - १\} \div (r - १) \times a$

$$\text{अथवा } S_n = \frac{(r^n - १)a}{-१}$$

विषयानुक्रम

विषय	गाथा/पृ० सं०

द्वितीय महाधिकार [गा० १—३७१] [पृ० १३६-२६४]

तृतीय महाधिकार

[गा. १—२४४]

[पृ. २६५-३३४]

।। श्रीवीतरागाय नमः ।।

शास्त्रस्वाध्याय का प्रारम्भिक मंगलाचरण

ॐ नमः सिद्धेभ्यः ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः ! ॐ नमः सिद्धेभ्यः !

ओंकारं बिन्दुसंयुक्तं, नित्यं ध्यायन्ति योगिनः ।
कामदं मोक्षदं चैव, ॐकाराय नमोनमः ।।
अविरलशब्दघनौघ-प्रक्षालितसकल-भूतलकलङ्का ।
मुनिभिरुपासिततीर्था, सरस्वती हरतु नो दुरितम् ।।
अज्ञानतिमिरान्धानां, ज्ञानाञ्जनशलाकया ।
चक्षुरुन्मीलितं येन, तस्मै श्रीगुरवे नमः ।।

•

श्रीपरमगुरवे नमः, परम्पराचार्यगुरुभ्यो नमः । सकलकलुषविध्वंसकं, श्रेयसां परिवर्धकं, धर्मसम्बन्धकं, भव्यजीवमनःप्रतिबोधकारकं, पुण्यप्रकाशकं, पापप्रणाशकमिदं शास्त्रं 'श्रीतिलोयपण्णत्तीनामधेयं, अस्य मूलग्रन्थकर्तारः श्रीसर्वज्ञदेवास्तदुत्तरग्रन्थकर्तारः श्रीगणधरदेवाः प्रतिगणधरदेवास्तेषां वचोऽनुसारतामासाद्य पूज्यश्रीयतिवृषभाचार्येण विरचितं इदं शास्त्रं । श्रोतारः सावधानतया शृण्वन्तु ।

•

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी ।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम् ।।
सर्वमङ्गलमाङ्गल्यं, सर्वकल्याणकारणम् ।
प्रधानं सर्वधर्माणां, जैनं जयति शासनम् ।।

शुद्धि-पत्र

तिलोय पण्णत्ती प्रथम खंड (तृतीय संस्करण) : .९७ ई०

पृष्ठ संख्या	पंक्ति सख्या	अशुद्ध	शुद्ध
आद्यमिताक्षर १	१६	रूवत्तणण	रूवत्तणेण
आद्यमिताक्षर ५	१७	अशोकनगरस्थ समाधिस्थल पर	अशोक नगर मे
जीवनवृत ११	१३	पर कुछ ऐसी भी हैं	पर कुछ ऐसी भी विभूतियाँ है
जीवनवृत १२	६	आपर्का	आपको
प्रस्तावना २०	७	कमियॉ	त्रुटियॉ
४३	३२	डॉ किरफल	डॉ किरफेल
४५	३२	गुणात्तर	गुणोत्तर
४५	२२	कर्मसिद्धान्त दि	कर्मसिद्धान्तादि
मगलाचरण ७२	९	श्री गुरूवे	श्री गुरवे
प्रथम अधिकार १	१२	धण	घण
९	२	पर पच्चक्खा।	परं, पच्चक्खा।
२१	१३	तृतीय से	तृतीय पल्य से
२२	२३	धातु चउक्कस	धातु-चउक्कस्स
२४	१७	उस्सेह अ-गुलेण	उस्सेह-अगुलेण
२७	१४	१९/२४ प्रमाण	१९/२४ घन योजन प्रमाण
४३	४	घन वतावलय	घनवातवलय
५०	८	प्रमाण ३४३	प्रमाण ३४३ घन राजू
५७	८	=१/७ है	=७/७ है।
६३	८	सौधर्म से	सौधर्म स्वर्ग से
६६	१९	रज्जू आ	रज्जूओ
७५	४	७० से भजित	७० से भाजित
९३	२४	अर्थात् २/४ राजू	अर्थात् ३/४ राजू
९५	२४	अडवी सउ बहत्तरी	अडवीस उणहत्तरि
१०४	१०	४९ और जाता है।	४९ घनराज् घन फल मनों का ९८ घन राज् घन फल मुरज का प्राप्त हो जाता है।
११२	२२	हादि	होदि
११४	१०	अलोक	ब्रह्मलोक

१३०	९	घनफल	योजनघनफल
१५४	१५	स्चट्टेदि	चिट्टेदि
१८९	१७	११०, ८३३३ $\frac{१}{३}$ । ३	११, ०८, ३३३ $\frac{१}{३}$ ।३
२२४	२	$= \frac{१०३}{४} \times \frac{१}{१२}$	$= \frac{११३}{४} \times \frac{५}{१२}$
२३१	१७	तीन से भाजित आठ	तीन से भाजित आँठ(२ $\frac{२}{३}$)
२४८	६	ावसण्णो	विसण्णो
२५६	१२	भीण्ण करा	भिण्णकरा
२७४	५	चेत्त-तरू	चेत्त-तरु
३२७	अन्तिम	प्रवोधन वशीभूत	प्रवोधन के वशीभूत
३३१	५	दे वाण	देत्राणं
३३७	दूसरा कालम १२	उद्धियदिवड्ढ मुख	उद्धिय दिवड्ढमुरव
३४६	दूसरा कालम २३	पत्तयरयणादी	गत्तेय रयणादी

जदिवसह-आइरिय-विरइदा

तिलोयपण्णत्ती

पढमो महाहियारो

[1]मङ्गलाचरण (सिद्ध-स्तवन)

अट्ठ-विह-कम्म-वियला, णिट्ठिय कज्जा पणट्ठ-संसारा ।
दिट्ठ-सयलत्थ-सारा, सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु ॥१॥

अर्थ – आठ प्रकार के कर्मों से रहित, करने योग्य कार्यों को कर चुकने वाले, संसार को नष्ट कर देने वाले और सम्पूर्ण पदार्थों के सार को देखने-वाले[2] सिद्ध-परमेष्ठी मेरे लिए सिद्धि प्रदान करें ॥१॥

अरहन्त-स्तवन

घण-घाइ-कम्म-महणा, तिहुवण-वर-भव्व-कमल-मत्तंडा[3] ।
अरिहा अणंत-णाणा, अणुवम-सोक्खा जयंतु जए ॥२॥

अर्थ—प्रबल घातिया कर्मों का मन्थन करने वाले, तीन लोक के उत्कृष्ट भव्यजीवरूपी कमलों के लिए मार्तण्ड (सूर्य), अनन्तज्ञानी और अनुपम सुख वाले अरहन्त भगवान् जग में जयवन्त होवें ॥२॥

आचार्य-स्तवन

पंच-महव्वय-तुंगा, तक्कालिय-सपर-समय-सुदधारा ।
णाणागुण-गण-भरिया, आइरिया मम पसीदंतु[4] ॥३॥

१. द. ब क ज ठ. ॐ नमः सिद्धेभ्यः। २. दूसरा अर्थ इस प्रकार है - सम्पूर्ण पदार्थों के सार का उपदेश-प्रतिपादन/कथन-करने वाले। ३ द मातडा। ४ द. पसीयतु।

अर्थ—पाँच महाव्रतों से उन्नत, तत्कालीन स्वसमय और परसमय स्वरूप श्रुतधारा (में निमग्न रहने) वाले और नाना गुणो के समूह मे परिपूरित आचार्यगण मेरे लिए आनन्द प्रदान करें ।।३।।

उपाध्याय-स्तवन

अण्णाण-घोर-तिमिरे,[1] दुरंत-तीरम्हि हिंडमाणाणं ।
भवियाणुज्जोययरा[2], उवज्झया वर-मदि वेंतु[3] ।।४।।

अर्थ—दुर्गम-तीर वाले अज्ञान के गहन अन्धकार मे भटकते हुए भव्य जीवो के लिए ज्ञानरूपी प्रकाश प्रदान करने वाले उपाध्याय परमेष्ठी उत्कृष्ट बुद्धि प्रदान करे ।।४।।

साधु-स्तवन

थिर-धरिय-सीलमाला[4], ववगय-राया जसोह-पडहत्था ।
बहु-विणय-भूसियंगा, सुहाइं[5] साहू पयच्छंतु ।।५।।

अर्थ—शीलव्रतो की माला को दृढतापूर्वक धारण-करने वाले, राग से रहित, यश-समूह से परिपूर्ण और विविध प्रकार के विनय से विभूषित अङ्गवाले साधु (परमेष्ठी) सुख प्रदान करे ।।५।।

ग्रन्थ-रचना-प्रतिज्ञा

एवं वर-पंचगुरू, तियरण-सुद्धेण णमसिऊणाहं[6] ।
भव्व-जणाण पदीवं, वोच्छामि तिलोयपण्णत्ति ।।६।।

अर्थ इस प्रकार मै (यतिवृषभाचार्य) तीन-करण (मन, वचन, काय) की शुद्धिपूर्वक श्रेष्ठ पञ्चपरमेष्ठियो को नमस्कार करके भव्य-जनो के लिए प्रदीप-तुल्य "त्रिलोक-प्रज्ञप्ति" ग्रन्थ का कथन करता हूँ ।।६।।

ग्रन्थ के प्रारम्भ मे करने योग्य छह कार्य

मंगल-कारण-हेदू, सत्थस्स पमाण-णाम कत्तारा ।
पढम चिय कहिदव्वा, एसा आइरिय-परिभासा ।।७।।

१. द. तिमिर, ब तिमिर । २. द णुज्जोवयरा । ३. द दितु । ४ ब ज ठ. सिलामाला । ५. द. ज. ठ. सुहाइ । ६. द. क णमसिऊणाह ।

अर्थ—मङ्गल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ता इन छह अधिकारों का शास्त्र के पहले ही व्याख्यान करना चाहिए, ऐसी आचार्य की परिभाषा (पद्धति) है ॥७॥

मङ्गल के पर्यायवाचक शब्द

पुण्णं पूद-पवित्ता, पसत्थ-सिव-भद्द-खेम-कल्लाणा ।
सुह-सोक्खादी सव्वे, णिद्दिट्ठा मंगलस्स पज्जाया ॥८॥

अर्थ—पुण्य, पूत, पवित्र, प्रशस्त, शिव, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ और सौख्य इत्यादिक सब शब्द मङ्गल के ही पर्यायवाची (समानार्थक) कहे गये है ॥८॥

मङ्गल शब्द की निरुक्ति

गालयदि विणासयदे, घादेदि दहेदि हंति सोधयदे ।
विद्धंसेदि मलाइ, जम्हा तम्हा य मंगलं भणिदं ॥९॥

अर्थ—क्योकि यह मल को गलाता है, विनष्ट करता है, घातता है, दहन करता है, मारता है, शुद्ध करता है और विध्वस करता है, इसीलिए मङ्गल कहा गया है ॥९॥

मङ्गल के भेद

दोण्णि वियप्पा होंति हु, मलस्स इह[1] दव्व-भाव-भेएहिं ।
दव्वमलं दुविहप्पं[2], बाहिरमब्भंतरं चेय ॥१०॥

अर्थ—(यथार्थत) द्रव्य और भाव के भेद से मल के दो प्रकार हैं, पुनः द्रव्यमल दो तरह का है—बाह्य और आभ्यन्तर ॥१०॥

द्रव्यमल और भावमल का वर्णन

सेद[3] - जल-रेणु-कद्दम-पहुदी बाहिर-मलं समुद्दिट्ठं ।
घण[4] विढ-जीव-पदेसे, णिबंध-रूवाइ पयडि-ठिदि-आइं ॥११॥
अणुभाग[5] - पदेसाइं, चउहिं पत्तेक्क-भेज्जमाणं तु ।
णाणावरणप्पहुदी-अट्ठ-विहं कम्ममखिल-पावरयं ॥१२॥

१. द. ज. क. ठ. इम । २. ज. ठ. दुवियप्पं । ३. द. ज. क. ठ. सीदजल । ४. द. ज. क. ठ. पुण ।
५. ब ज. क. ठ. अणुभावपदेसाईं ।

अब्भंतर-दव्वमलं, जीव-पदेसे णिबद्धमिदि[1] हेदो ।
भाव-मलं णादव्व, अण्णाणादंसणादि-परिणामो ।।१३।।

अर्थ स्वेद (पसीना), रेणु (धूलि), कर्दम (कीचड) इत्यादि बाह्य द्रव्यमल कहे गये है और दृढ रूप से जीव के प्रदेशों मे एक क्षेत्रावगाहरूप बन्ध को प्राप्त तथा प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश, बन्ध के इन चार भेदो मे से प्रत्येक भेद को प्राप्त होने वाला ऐसा ज्ञानावरणादि आठ प्रकार का सम्पूर्ण कर्मरूपी पाप-रज जो जीव के प्रदेशो मे सम्बद्ध है, (इस हेतु से) वह (ज्ञानावरणादि कर्मरज) आभ्यन्तर द्रव्यमल है। जीव के अज्ञान, अदर्शन इत्यादिक परिणामो को भावमल समझना चाहिए ।।११ - १३।।

मङ्गल शब्द की सार्थकता

अहवा बहु-भेयगयं, णाणावरणादि-दव्व-भाव-मल-भेदा ।
ताइं गालेइ पुढं, जदो तदो मंगलं भणिद ।।१४।।

अर्थ—अथवा ज्ञानावरणादिक द्रव्यमल के और ज्ञानावरणादिक भाव मल के भेद से मल के अनेक भेद हैं, उन्हे चूंकि (मंगल) स्पष्ट रूप से गलाता है अर्थात् नष्ट करता है, इसलिए यह मंगल कहा गया है ।।१४।।

मंगलाचरण की सार्थकता

अहवा मंग[2] सोक्खं, लादि हु गेण्हेदि मंगल तम्हा ।
एदेण[3] कज्ज-सिद्धि, मंगइ गच्छेदि[4] गंथ-कत्तारो ।।१५।।

अर्थ—यह मंग (माद) को एवं सुख को लाता है, इसलिए भी मंगल कहा जाता है । इसी के द्वारा ग्रन्थकर्त्ता कार्यसिद्धि को प्राप्त करता है और आनन्द को उपलब्ध करता है ।।१५।।

पुव्विलाइरिएहिं, मंगं पुण्णत्थ-वाचयं भणियं ।
त लादि हु आदत्ते, जदो तदो मंगलं पवर ।।१६।।

अर्थ—पूर्वाचार्यों के द्वारा मंग पुण्यार्थवाचक कहा गया है, यह यथार्थ मे उसी (मंगल) को लाता है एवं ग्रहण कराता है, इसीलिए यह मंगल श्रेष्ठ है ।।१६।।

१. द. ब. ज क ठ णिबधमिदि । २ द. क मगल । ३ द ज. क ठ एदाण । ४ द गत्थेदिगंथ, ब मगलगत्थेदि ।

पावं मलं त्ति भण्णइ, उवयार-सरूवएण जीवाणं ।
तं गालेदि विणासं, णेदि त्ति[1] भणंति मंगलं केई ॥१७॥

अर्थ—जीवों का पाप, उपचार से मल कहा जाता है । मंगल उस (पाप) को गलाता है तथा विनाश को प्राप्त कराता है, इस कारण भी कुछ आचार्य इसे मंगल कहते हैं ॥१७॥

मंगलाचरण के नामादिक छह भेद

णामाणि ठावणाओ, दव्व-खेत्ताणि काल-भावा य ।
इय छब्भेयं भणियं, मंगलमाणंद-संजणणं ॥१८॥

अर्थ आनन्द को उत्पन्न करने वाला मंगल नाम, स्थापना द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के भेद से छह प्रकार का कहा गया है ॥१८॥

नाममंगल

अरिहाणं सिद्धाणं, आइरिय-उवज्झयाइ[2] - साहूण ।
णामाइं णाम-मंगलमुद्दिट्ठं वीयराएहिं ॥१९॥

अर्थ—वीतराग भगवान् ने अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु इनके नामों को नाममङ्गल कहा है ॥१९॥

स्थापना एवं द्रव्य मङ्गल

ठावण-मंगलमेदं, अकट्टिमाकट्टिमाणि जिणबिंबा ।
सूरि-उवज्झय[3] - साहू-देहाणि हु दव्व-मंगलयं ॥२०॥

अर्थ—अकृत्रिम और कृत्रिम जिनबिम्ब स्थापना मङ्गल हैं तथा आचार्य, उपाध्याय और साधु के शरीर द्रव्य-मङ्गल हैं ॥२०॥

क्षेत्रमङ्गल

गुण-परिणदासणं, परिणिक्कमणं केवलस्स णाणस्स ।
उप्पत्ती इय-पहुदी, बहुभेयं खेत्त-मंगलयं ॥२१॥

अर्थ—गुणपरिणत (गुणवान मनुष्यों का निवास) क्षेत्र, परिनिष्क्रमण (दीक्षा) क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति क्षेत्र, इत्यादि रूप से क्षेत्रमङ्गल अनेक प्रकार का है ॥२१॥

---

१. द ज. क. ठ. णेहं त्ति । २. ब. उवज्झायाइ । ३. ब. उवज्झायाइ ।

एवस्स उदाहरणं, पावाणयरुज्जयंत-चंपादी ।
आउट्ठ-हत्थ-पहुदी, पणुवीसब्भहिय-पणसय-धणूणि ॥२२॥

देह-अवट्ठिद-केवलणाणावट्ठद्ध-गयण-देसो वा ।
सेढि[1]-घण-मेत्त अप्पप्पदेस-गद-लोय-पूरणा-पुण्णा[2] ॥२३॥

विस्साणं[3] लोयाण, होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं ।

अर्थ—इस क्षेत्रमङ्गल के उदाहरण - पावानगर, ऊर्जयन्त (गिरनार) और चम्पापुर आदि हैं तथा साढे तीन हाथ से लेकर पाँच सौ पच्चीस धनुष प्रमाण शरीर में स्थित और केवलज्ञान से व्याप्त आकाश-प्रदेश तथा जगच्छ्रेणी के घनमात्र (लोक प्रमाण) आत्मा के प्रदेशो से लोकपूरण-समुद्घात द्वारा पूरित सभी (ऊर्ध्व, मध्य एव अधो) लोको के प्रदेश भी क्षेत्रमङ्गल हैं ॥२१-२३½॥

काल-मगल

जस्सि काले केवलणाणादि-मंगलं परिणमदि ॥२४॥

परिणिक्कमणं केवलणाणुब्भव-णिव्वुदि-प्पवेसादी ।
पावमल-गालणादो, पण्णत्तं काल-मगलं एद ॥२५॥

एवं अणेयमेयं, हवेदि तं काल-मंगलं पवरं ।
जिण-महिमा-संबधं, णंदीसर-दिवस-पहुदीओ[4] ॥२६॥

अर्थ—जिस काल मे जीव केवलज्ञानादिरूप मगलमय पर्याय प्राप्त करता है उसको तथा परिनिष्क्रमण (दीक्षा) काल केवलज्ञान के उद्भव का काल और निर्वृति (मोक्ष के प्रवेश का) काल, इन सब को पापरूपी मल के गलाने का कारण होने से काल-मगल कहा गया है। इसी प्रकार जिन-महिमा से सम्बन्ध रखने वाले वे नन्दीश्वर दिवस (अष्टाह्निका पर्व) आदि भी श्रेष्ठ काल-मगल अनेक प्रकार के है ॥२३½-२६॥

भावमगल

मंगल-पज्जाएहिं, उवलक्खिय-जीव-दव्व-मेत्तं च ।
भावं मंगलमेदं, पढिय[5] सत्थादि-मज्झ-अंतेसु ॥२७॥

१. द. सेढिवणमित्त अप्पपदेसजद । २. ब. पूरण, पुण्ण । ३. द ब क विण्णास । ४. द ज क. ठ. दीव पहुदी ओ । ५. द. पच्चियपच्छादि, ब पच्चियसत्थादि ।

अर्थ—मंगलरूप पर्यायों से परिणत शुद्ध जीवद्रव्य भावमंगल है। यही भावमगल शास्त्र के आदि, मध्य और अन्त मे पढा गया है (करना चाहिए)॥२७॥

मंगलाचरण के आदि, मध्य और अन्त भेद

पुव्विल्लाइरिएहिं, उत्तो सत्थाण मंगलं जो[1] सो।
आइम्मि मज्झ-अवसाणएसु णियमेण कायव्वो ॥२८॥

अर्थ—शास्त्रो के आदि, मध्य और अन्त मे मगल अवश्य करना चाहिए, ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है ॥२८॥

आदि, मध्य और अन्त मगल की सार्थकता

पढमे मगल-करणे[2], सिस्सा सत्थस्स पारगा होंति।
मज्झिम्मे णीविग्घं, विज्जा विज्जाफलं चरिमे ॥२९॥

अर्थ शास्त्र के आदि मे मगल करने पर शिष्यजन शास्त्र के पारगामी होते हैं, मध्य में मगल करने पर विद्या की प्राप्ति निर्विघ्न होती है और अन्त मे मगल करने पर विद्या का फल प्राप्त होता है ॥२९॥

जिननाम-ग्रहण का फल

णासदि विग्घं भेददि, यंहो दुट्ठा सुरा[3] ण लंघंति।
इट्ठो अत्थो[4] लब्भइ, जिण-णामग्गहण-मेत्तेण ॥३०॥

अर्थ—जिनेन्द्र भगवान् का नाम लेने मात्र से विघ्न नष्ट हो जाते है, पाप खण्डित हो जाते है, दुष्ट देव (असुर) लाघते नही है, अर्थात् किसी प्रकार का उपद्रव नही करते और इष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है ॥३०॥

ग्रन्थ मे मंगल का प्रयोजन

सत्थादि-मज्झ-अवसाणएसु जिण-थोत्त मंगलुच्चोसो।
णासइ णिस्सेसाइं, विग्घाइं रवि व्व तिमिराइं ॥३१॥

॥ इदि मंगलं गदं ॥

१. द ब. संठाणमगल घोसो। २. द. ज. क. ठ. वयणे। ३. द. दुट्ठासुत्ताण, ब. दुट्ठासुवाण, क. ज ठ. दुट्ठासुलाण। ४. द. ब. क. ज. ठ. लद्धो।

अर्थ—शास्त्र के आदि, मध्य और अन्त में जिन-स्तोत्ररूप मंगल का उच्चारण सम्पूर्ण विघ्नों को उसी प्रकार नष्ट कर देता है, जिस प्रकार सूर्य अंधकार को (नष्ट कर देता है) ॥३१॥

॥ इस प्रकार मंगल का कथन समाप्त हुआ ॥

ग्रन्थ-अवतार-निमित्त

विविह-वियप्पं लोयं, बहुभेय-णयप्पमाणदो[1] भव्वा ।
जाणंति त्ति णिमित्तं, कहिदं गंथावतारस्स ॥३२॥

अर्थ—नाना भेदरूप लोक को भव्य जीव अनेक प्रकार के नय और प्रमाणों से जानें, यह त्रिलोकप्रज्ञप्तिरूप ग्रन्थ के अवतार का निमित्त कहा गया है ॥३२॥

केवलणाण-दिवायर-किरणकलावादु एत्थ अवदारो[2] ।
गणहरदेवेहिं[3] गंथुप्पत्ति हु सोहं त्ति संजादो[4] ॥३३॥

अर्थ—केवलज्ञानरूपी सूर्य की किरणों के समूह से श्रुत के अर्थ का अवतार हुआ तथा गणधरदेव के द्वारा ग्रन्थ की उत्पत्ति हुई। यह श्रुत कल्याणकारी है ॥३३॥

छद्दव्व-णव-पयत्थे, सुदणाणं दुमणि-किरण-सत्तीए ।
देक्खंतु भव्व-जीवा, अण्णाण-तमेण संछण्णा ॥३४॥

॥ णिमित्तं गदं ॥

अर्थ—अज्ञानरूपी अंधेरे से आच्छादित हुए भव्य जीव श्रुतज्ञानरूपी सूर्य की किरणों की शक्ति से छह द्रव्य और नव-पदार्थों को देखें (यही ग्रन्थावतार का निमित्त है) ॥३४॥

॥ इस प्रकार निमित्त का कथन समाप्त हुआ ॥

हेतु एवं उसके भेद

दुविहो हवेदि हेदू, तिलोयपण्णत्ति-गंथ-अज्झयणे[5] ।
जिणवर-वयणुद्दिट्ठो, पच्चक्ख-परोक्ख-भेएहिं ॥३५॥

अर्थ—त्रिलोकप्रज्ञप्ति ग्रन्थ के अध्ययन में जिनेन्द्रदेव के वचनों से उपदिष्ट हेतु, प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से दो प्रकार का है ॥३५॥

---

१. द. ब ज. क. ठ भेयपमाणदो। २ द. ज क ठ. अवहारो, ब अवहारे। ३. द गणधरदेहे। ४. द. सोहति सजादो, ब सोहति सो जादो। ५. ब गअयज्झयणे।

प्रत्यक्ष हेतु

सक्खा-पच्चक्ख-परंपच्चक्खा दोण्णि होंति[1] पच्चक्खा ।
अण्णाणस्स विणासं, णाण-दिवायरस्स उप्पत्ती ।।३६।।

देव-मणुस्सादीहिं, संततमब्भच्चण - प्पयाराणि ।
पडिसमयमसंखेज्जय - गुणसेढि - कम्म - णिज्जरणं ।।३७।।

इय सक्खा-पच्चक्खं, पच्चक्ख-परंपरं च णादव्वं ।
सिस्स-पडिसिस्स-पहुदीहिं, सददमब्भच्चण-पयारं ।।३८।।

अर्थ—प्रत्यक्ष हेतु, साक्षात् प्रत्यक्ष और परम्परा प्रत्यक्ष के भेद से दो प्रकार का है। अज्ञान का विनाश, ज्ञानरूपी दिवाकर की उत्पत्ति, देव और मनुष्यादिको के द्वारा निरन्तर की जाने वाली विविध प्रकार की अभ्यर्चना (पूजा) और प्रत्येक समय मे असख्यातगुणश्रेणीरूप से होने वाली कर्मो की निर्जरा साक्षात् प्रत्यक्ष हेतु है। शिष्य-प्रतिशिष्य आदि के द्वारा निरन्तर अनेक प्रकार से की जाने वाली पूजा को परम्परा प्रत्यक्ष हेतु जानना चाहिए ।।३६-३८।।

परोक्ष हेतु के भेद एव अभ्युदय सुख का वर्णन

दो-भेदं च परोक्खं, अब्भुदय-सोक्खाइं मोक्ख-सोक्खाइं ।
सादादि-विविह-सु-पसत्थ[2] -कम्म-तिव्वाणुभाग-उदएहिं ।।३९।।

इंद-पडिंद-दिगिंदय-तेत्तीसामर[3] - समाण-पहुदि-सुहं ।
राजाहिराज - महराज - अद्धमंडलिय - मंडलियाणं ।।४०।।

महमंडलियाणं अद्धचक्कि-चक्कहर-तित्थयर-सोक्खं ।।४१/१।।

अर्थ—परोक्ष हेतु भी दो प्रकार का है, एक अभ्युदय सुख और दूसरा मोक्षसुख। सातावेदनीय आदि विविध सुप्रशस्त कर्मों के तीव्र अनुभाग के उदय से प्राप्त हुआ इन्द्र, प्रतीन्द्र, दिगिन्द्र (लोकपाल), त्रायस्त्रिंश एव सामानिक आदि देवों का सुख तथा राजा, अधिराजा, महाराजा, अर्धमण्डलीक, मण्डलीक, महामण्डलीक, अर्धचक्री (नारायण-प्रतिनारायण), चक्रवर्ती और तीर्थंकर इनका सुख अभ्युदय सुख है ।।३९-४१/१।।

१. द. होदि । २ क. ज. ठ. सुपरसत्थ । ३ ब. तेत्तीससायरपमाण ।

राजा का लक्षण

अट्ठारस-मेत्ताणं, सामी - सेणीण[1] भत्ति-जुत्ताणं ।।४१/२।।

वर-रयण-मउडधारी, सेवयमाणाण वंछिदं[2] अत्थं ।
देंता हवेदि राजा, जिदसत्तू समरसंघट्टे ।।४२।।

अर्थ—भक्ति युक्त अठारह-प्रकार की श्रेणियों का स्वामी, उत्कृष्ट रत्नों के मुकुट को धारण करने वाला, सेवकजनों को इच्छित पदार्थ प्रदान करने वाला और समर के संघर्ष में शत्रुओं को जीतने वाला (व्यक्ति) राजा होता है ।।४१/२-४२।।

अठारह-श्रेणियों के नाम

करि-तुरय-रहाहिवई, सेणवइ पदत्ति-सेट्ठि-दंडवई ।
सुद्दक्खत्तिय-वइसा, हवंति तह महयरा पवरा ।।४३।।

गणराय-मंति-तलवर-पुरोहियामत्तया महामत्ता ।
बहुविह-पइण्णया य, अट्ठारस होंति सेणीओ[3] ।।४४।।

अर्थ—हाथी, घोड़े और रथों के अधिपति, सेनापति, पदाति (पादचारी सेना), श्रेष्ठि (सेठ), दण्डपति, शूद्र, क्षत्रिय, वैश्य, महत्तर, प्रवर (ब्राह्मण), गणमन्त्री, राजमन्त्री, तलवर (कोतवाल), पुरोहित, अमात्य और महामात्य एवं बहुत प्रकार के प्रकीर्णक, ऐसी अठारह प्रकार की श्रेणियाँ होती हैं ।।४३-४४।।

अधिराज एवं महाराज का लक्षण

पंचसय-राय-सामी, अहिराजो होदि कित्ति-भरिद-दिसो ।
रायाण जो सहस्सं, पालइ सो होदि महराजो ।।४५।।

अर्थ—कीर्ति से भरित दिशाओं वाला और पाँच सौ राजाओं का स्वामी अधिराजा होता है और जो एक हजार राजाओं का पालन करता है, वह महाराजा है ।।४५।।

१. द. ब. सेणेण । २. द. ज. क. ठ वंति दह मट्ठं, ब. वंति दह मट्टं । ३. द. ब. ज. क. सेणेओ ।

अर्धमण्डलीक एवं मण्डलीक का लक्षण

दु-सहस्स-मउडबद्ध-भुव-वसहो[1] तत्थ अद्धमंडलिओ ।
चउ-राज-सहस्साणं, अहिणाहो होइ मंडलिओ[2] ॥४६॥

अर्थ--दो हजार मुकुटबद्ध भूपों मे वृषभ (प्रधान) अर्धमण्डलीक तथा चार हजार राजाओ का स्वामी मण्डलीक होता है ॥४६॥

महामण्डलीक एवं अर्धचक्री का लक्षण

महमंडलिया णामा, अट्ठ-सहस्साण अहिवई ताणं ।
रायाण अद्धचक्की, सामी सोलस-सहस्स-मेत्ताणं ॥४७॥

अर्थ--आठ हजार राजाओ का अधिपति महामडलीक होता है तथा सोलह हजार राजाओं का स्वामी अर्धचक्री कहलाता है ॥४७॥

चक्रवर्ती और तीर्थंकर का लक्षण

छक्खंड-भरहणाहो, बत्तीस-सहस्स-मउडबद्ध-पहुदीओ ।
होदि हु सयलं चक्की, तित्थयरो सयल-भुवणवई ॥४८॥

॥ अब्भुदय-सोक्खं गदं ॥

अर्थ- छह खण्डरूप भरतक्षेत्र का स्वामी और बत्तीस हजार मुकुटबद्ध राजाओ का तेजस्वी अधिपति सकलचक्री एव समस्त लोको का अधिपति तीर्थंकर होता है ॥४८॥

॥ इस प्रकार अभ्युदय सुख का कथन समाप्त हुआ ॥

मोक्षसुख

सोक्खं तित्थयराणं, सिद्धाणं[3] तह य इंदियादीदं ।
अदिसयमाद-समुत्थं, णिस्सेयसमणुवमं पवरं ॥४९॥

॥ मोक्ख-सोक्ख गदं ॥

१. द. क. ज. ठ बद्धासेवसहो । २. द. ब. ज. क. ठ. मंडलियं । ३. द. पवराण तह इंदियादीद । ज. पयराण तह य इदियादीदं । ठ. पयराण तह य इदियादीहिं । क. कप्पातीदाण तह य इदियादीह ।

अर्थ—तीर्थंकरों (अरिहन्तों) और सिद्धों के अतीन्द्रिय, अतिशयरूप, आत्मोत्पन्न, अनुपम तथा श्रेष्ठ सुख को निःश्रेयस-सुख कहते हैं ।।४९।।

।। इस प्रकार मोक्षसुख का कथन समाप्त हुआ ।।

श्रुतज्ञान की भावना का फल

सुदणाण-भावणाए, णाणं मत्तंड-किरण-उज्जोओ ।
चंदुज्जलं चरित्तं, णियवस-चित्तं हवेदि भव्वाणं ।।५०।।

अर्थ—श्रुतज्ञान की भावना से भव्य जीवों का ज्ञान, सूर्य की किरणों के समान उद्योतरूप अर्थात् प्रकाशमान होता है; चरित्र चन्द्रमा के समान उज्ज्वल होता है तथा चित्त अपने वश मे होता है ।।५०।।

परमागम पढ़ने का फल

कणय-धराधर-धीरं, मूढ-त्तय-विरहिदं [1]हयट्ठमलं ।
जायदि पवयण-पढणे, सम्मद्दंसणमणुवमाणं ।।५१।।

अर्थ—प्रवचन (परमागम) के पढ़ने से सुमेरुपर्वत के समान निश्चल; लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढ़ता, इन तीन (मूढ़ताओं) से रहित और शंका-कांक्षा आदि आठ दोषों से विमुक्त अनुपम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है ।।५१।।

आर्ष वचनों के अभ्यास का फल

सुर-खेयर-मणुवाणं, लब्भंति सुहाइं आरिसब्भासा[2] ।
तत्तो णिव्वाण-सुहं, णिण्णासिद दारुणट्ठमला ।।५२।।

।। एवं हेदु-गदं ।।

अर्थ—आर्ष वचनो के अभ्यास से देव, विद्याधर तथा मनुष्यों के सुख प्राप्त होते हैं और अन्त में दारुण अष्ट कर्ममल से रहित मोक्षसुख की भी प्राप्ति होती है ।।५२।।

।। इस प्रकार हेतु का कथन समाप्त हुआ ।।

श्रुत का प्रमाण

विविहत्थेहिं अणंतं, संखेज्जं अक्खराण गणणाए ।
एदं पमाणमुदिदं, सिस्साणं मइ - वियासयरं ।।५३।।

।। पमाणं गदं ।।

१. द. हय मममल । क. ज. ठ. हयगममलं । म. हवट्ठमय । २. द. ब. आरिसंमासा ।

अर्थ—श्रुत, विविध प्रकार के अर्थों की अपेक्षा अनन्त है और अक्षरो की गणना की अपेक्षा संख्यात है। इस प्रकार शिष्यों की बुद्धि को विकसित करने वाले इस श्रुत का प्रमाण कहा गया है ।।५३।।

।। इस प्रकार प्रमाण का वर्णन हुआ ।।

ग्रन्थनाम कथन

भव्वाण जेण एसा, ते-लोक्क-पयासणे परम-दीवा ।
तेण गुण-णाममुदिद, तिलोयपण्णत्ति णामेणं ।।५४।।

।। णामं गदं ।।

अर्थ—यह (शास्त्र) भव्य जीवो के लिए तीनो लोको का स्वरूप प्रकाशित करने मे उत्कृष्ट दीपक के सदृश है, इसलिए इसका 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' यह सार्थक नाम कहा गया है ।।५४।।

।। इस प्रकार नाम का कथन पूर्ण हुआ ।।

कर्ता के भेद

कत्तारो दुवियप्पो, णायव्वो अत्थ-गंथ-भेदेहिं ।
दव्वादि-चउपयारे, पभासिमो अत्थ-कत्तारं[1] ।।५५।।

अर्थ—अर्थकर्ता और ग्रन्थकर्ता के भेद से कर्ता दो प्रकार के समझना चाहिए। इनमे से हम द्रव्यादिक चार प्रकार से अर्थकर्ता का निरूपण करते हैं ।।५५।।

द्रव्य की अपेक्षा अर्थागम के कर्ता

सेद-रजाइ-मलेणं, रत्तच्छि-कडक्ख-बाण-मोक्खेहिं ।
इय-पहुदि-देह-दोसेहिं, संततमदूसिद-सरीरो (य) ।।५६।।
आदिम-संहणण-जुदो, समचउरस्संग-चारु-संठाणो ।
दिव्व-वर-गंधधारी, पमाण-ठिद-रोम-णह-रूवो ।।५७।।
णिब्भूसणायुहंबर-भीदी सोम्माणणादि-दिव्व-तणू ।
अट्ठब्भहिय - सहस्स - प्पमाण - वर - लक्खणोपेदो ।।५८।।

---

१. ब. अत्थकत्तारो ।

चउविह-उवसग्गेहिं, णिच्च-विमुक्को कसाय-परिहीणो ।
छुह-पहुदि-परिसहेहिं, परिचत्तो राय-दोसेहिं ॥५९॥

जोयण-पमाण-संठिद-तिरियामर-मणुव-णिवह-पडिबोहो ।
मिदु-महुर-गभीरतरा-विसद[1] -विसय-सयल-भासाहिं ॥६०॥

अट्ठरस महाभासा, खुल्लयभासा यि सत्तसय-संखा ।
अक्खर-अणक्खरप्पय, सण्णी-जीवाण सयल-भासाओ ॥६१॥

एदासि भासाणं, तालुव - दंतोट्ठ - कंठ - वावारं ।
परिहरिय एक्क-कालं, भव्व-जणाणंद-कर-भासो ॥६२॥

भावण - वेंतर - जोइसिय - कप्पवासेहिं केसव - बलेहिं ।
विज्जाहरेहिं चक्किप्पमुहेहिं णरेहिं तिरिएहिं ॥६३॥

एदेहिं अण्णेहिं, विरचिद - चरणारविंद - जुग - पूजो ।
दिट्ठ - सयलट्ठ - सारो, महवीरो अत्थ - कत्तारो ॥६४॥

अर्थ—जिनका शरीर पसीना, रज (धूलि) आदि मल से तथा लाल नेत्र और कटाक्ष बाणों को छोड़ना आदि शारीरिक दूषणों से सदा अदूषित है, जो आदि के अर्थात् वज्रर्षभनाराच संहनन और समचतुरस्र-सस्थानरूप सुन्दर आकृति से शोभायमान हैं, दिव्य और उत्कृष्ट सुगन्ध के धारक हैं, रोम और नख प्रमाण से स्थित (वृद्धि से रहित) हैं; भूषण, आयुध, वस्त्र और भीति से रहित हैं, सुन्दर मुखादिक से शोभायमान दिव्य-देह से विभूषित है, शरीर के एक हजार आठ उत्तम लक्षणों से युक्त हैं; देव, मनुष्य, तिर्यंच और अचेतनकृत चार प्रकार के उपसर्गों से सदा विमुक्त हैं, कषायो से रहित हैं, क्षुधादिक बाईस परीषहो एव रागद्वेष से रहित हैं; मृदु, मधुर, अतिगम्भीर और विषय को विशद करने वाली सम्पूर्ण भाषाओ से एक योजन प्रमाण समवसरणसभा मे स्थित तिर्यंच, देव और मनुष्यों के समूह को प्रतिबोधित करने वाले हैं, जो संज्ञी जीवो की अक्षर और अनक्षररूप अठारह महाभाषा तथा सात सौ छोटी भाषाओ मे परिणत हुई और तालु, दन्त, ओठ तथा कण्ठ के हलन-चलनरूप व्यापार से रहित होकर एक ही समय मे भव्यजनो को आनन्द करने वाली भाषा (दिव्यध्वनि) के स्वामी हैं; भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिषी और कल्पवासी देवो के द्वारा तथा नारायण, बलभद्र, विद्याधर और चक्रवर्ती आदि प्रमुख मनुष्यों, तिर्यंचों एवं अन्य भी ऋषि-महर्षियों से जिनके चरणारविन्द युगल की पूजा की गयी है और जिन्होंने सम्पूर्ण पदार्थों के सार का उपदेश किया है, ऐसे महावीर भगवान् (द्रव्य की अपेक्षा) अर्थागम के कर्ता हैं ॥५६-६४॥

१. ब. विसदयसमसयल ।

क्षेत्र की अपेक्षा अर्थ-कर्ता

सुर-खेयर-मण-हरणे, गुणणामे पचसेल-णयरम्मि[1] ।
विउलम्मि पव्वदवरे, वीर-जिणो अत्थ-कत्तारो ॥६५॥

अर्थ—देव एव विद्याधरो के मन को मोहित करने वाले और सार्थक नाम वाले पंचशैल (पाँच पहाडो से सुशोभित) नगर (राजगृही) मे, पर्वतो मे श्रेष्ठ विपुलाचल पर श्री वीरजिनेन्द्र (क्षेत्र की अपेक्षा) अर्थ के कर्ता हुए ॥६५॥

पचशैल

चउरस्सो पुव्वाए, रिसिसेलो[2] दाहिणाए वेभारो ।
णइरिदि-दिसाए विउलो, दोण्णि तिकोणट्ठिदायारा ॥६६॥

अर्थ—(राजगृह नगर के) पूर्व मे चतुष्कोण ऋषिशैल, दक्षिण मे वैभार और नैऋत्यदिशा में विपुलाचल पर्वत हैं; ये दोनो, वैभार एव विपुलाचल पर्वत त्रिकोण आकृति से युक्त हैं ॥६६॥

चाव-सरिच्छो छिण्णो, वरुणाणिल-सोमदिस-विभागेसु ।
ईसाणाए पंडू, वट्टो[3] सव्वे कुसग्ग-परियरणा ॥६७॥

अर्थ—पश्चिम, वायव्य और सोम (उत्तर) दिशा मे फैला हुआ धनुषाकार छिन्न नाम का पर्वत है और ईशान दिशा में पाण्डु नाम का पर्वत है। उपर्युक्त पाँचो ही पर्वत कुशाग्रों से वेष्टित है ॥६७॥

काल की अपेक्षा अर्थकर्ता एव धर्मतीर्थ की उत्पत्ति

एत्थावसप्पिणीए, चउत्थ-कालस्स चरिम-भागम्मि ।
तेत्तीस - वास - अडमास - पण्णरस-दिवस-सेसम्मि ॥६८॥
वासस्स पढम-मासे, सावण-णामम्मि बहुल-पडिवाए ।
अभिजीणक्खत्तम्मि य, उप्पत्ती धम्म-तित्थस्स ॥६९॥

अर्थ—यहाँ अवसर्पिणी के चतुर्थकाल के अन्तिम भाग मे तेंतीस वर्ष, आठ माह और पन्द्रह दिन शेष रहने पर वर्ष के श्रावण नामक प्रथम माह मे कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन अभिजित् नक्षत्र के उदित रहने पर धर्मतीर्थ की उत्पत्ति हुई ॥६८-६९॥

---

१. द. णययम्मि । २. द ब. ज. क. ठ. सिरिसेलो । ३. द ज क. ठ वप्पा ट्टो ।

सावण-बहुले-पाडिव-रुद्दमुहुत्ते[1] सुहोदये[2] रविणो ।
अभिजिस्स पढम-जोए, जुगस्स आदी इमस्स[3] पुढं ॥७०॥

अर्थ—श्रावण कृष्णा प्रतिपदा के दिन रुद्रमुहूर्त के रहते हुए सूर्य का शुभ उदय होने पर अभिजित् नक्षत्र के प्रथम योग में इस युग का प्रारम्भ हुआ, यह स्पष्ट है ॥७०॥

भाव की अपेक्षा अर्थकर्ता

णाणावरणप्पहुदी, णिच्छय-ववहारपाय अतिसयए ।
संजादेण अणंतं, णाणेणं दंसणेण सोक्खेणं ॥७१॥

विरिएण तहा खाइय-सम्मत्तेणं पि दाण-लाहेहिं ।
भोगोपभोग-णिच्छय-ववहारेहिं च परिपुण्णो[4] ॥७२॥

अर्थ—ज्ञानावरणादि चार घातियाकर्मों के निश्चय और व्यवहाररूप विनाश के कारणों का प्रकर्षता होने पर उत्पन्न हुए अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इन चार—अनन्त-चतुष्टय तथा क्षायिकसम्यक्त्व, क्षायिकदान, क्षायिकलाभ, क्षायिकभोग और क्षायिकउपभोग इस प्रकार नवलब्धियो के निश्चय एव व्यवहार स्वरूपो से परिपूर्ण हुए ॥७१-७२॥

दंसणमोहे णट्ठे, घादि-त्तिदए चरित्त-मोहम्मि ।
सम्मत्त-णाण-दंसण-वीरिय चरियाइ होंति खइयाइ ॥७३॥

अर्थ दर्शनमोह, तीन घातियाकर्म (ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय) और चारित्रमोह के नष्ट होने पर क्रम से सम्यक्त्व, ज्ञान, दर्शन, वीर्य और चारित्र, ये पाँच क्षायिकभाव प्राप्त होते हैं ॥७३॥

जादे अणंत-णाणे, णट्ठे छदुमट्ठिदियम्मि[5] णाणम्मि ।
णवविह-पदत्थसारो, दिव्वझुणी कहइ सुत्तत्थं ॥७४॥

अर्थ—अनन्तज्ञान अर्थात् केवलज्ञान की उत्पत्ति और छद्मस्थ अवस्था मे रहने वाले मति, श्रुत, अवधि एवं मनःपर्ययरूप चारों ज्ञानों का अभाव होने पर नौ प्रकार के पदार्थों (सात-तत्त्व और पुण्य-पाप) के सार को विषय करने वाली दिव्यध्वनि सूत्रार्थ को कहती है ॥७४॥

१. द. ब. सुद्दमुहुत्ते । २. ब. सुहोदिए, क. सुहोदए । ३. द आदीइ यिमस्स, क. आदी यिमस्स ।
४. ब. परपुण्णो । ५. द. ब. चदुमट्ठिदिदम्मि ।

अण्णेहिं अणंतेहिं, गुणेहिं जुत्तो विसुद्ध-चारित्तो ।
भव-भय-भंजण-दच्छो, महवीरो अत्थ-कत्तारो ।।७५।।

अर्थ—इसके अतिरिक्त और भी अनन्तगुणो से युक्त, विशुद्ध चारित्र के धारक तथा संसार के भय को नष्ट करने में दक्ष श्रीमहावीर प्रभु (भाव की अपेक्षा) अर्थ-कर्त्ता हैं ।।७५।।

गौतम-गणधर द्वारा श्रुत-रचना

महवीर-भासियत्थो, तस्सिं खेत्तम्मि तत्थ काले य ।
खायोवसम-विवड्ढिद चउरमल[1] - मईहि पुण्णेण ।।७६।।

लोयालोयाण तहा, जीवाजीवाण विविह-विसयेसु ।
संदेह-णासणत्थं, उवगद-सिरि-वीर-चलणमूलेण ।।७७।।

विमले गोदम-गोत्ते, जादेणं [2]इंदभूदि-णामेणं ।
चउ-वेद-पारगेणं, सिस्सेण[3] विसुद्ध-सीलेणं ।।७८।।

भाव-सुदं पज्जाएहिं, परिणदमयिणा[4] अ बारसंगाणं ।
चोद्दस-पुव्वाण तहा, एक्क-मुहुत्तेण विरचणा विहिदा ।।७९।।

अर्थ—भगवान् महावीर के द्वारा उपदिष्ट पदार्थ स्वरूप, उसी क्षेत्र और उसी काल मे, ज्ञानावरण के विशेष क्षयोपशम से वृद्धि को प्राप्त निर्मल चार बुद्धियों (कोष्ठ, बीज, सभिन्न-श्रोतृ और पदानुसारी) से परिपूर्ण, लोक-अलोक और जीवाजीवादि विविध विषयो मे उत्पन्न हुए सन्देह को नष्ट करने के लिए श्री वीर भगवान् के चरण-मूल की शरण मे आये हुए, निर्मल गौतमगोत्र मे उत्पन्न हुए, चारो वेदो मे पारगत, विशुद्ध शील के धारक, भावश्रुतरूप पर्याय से बुद्धि की परिपक्वता को प्राप्त, ऐसे इन्द्रभूति नामक शिष्य अर्थात् गौतम गणधर द्वारा एक मुहूर्त मे बारह अग और चौदह पूर्वों की रचना रूप से श्रुत गु थित किया गया ।।७६-७९।।

कर्त्ता के तीन भेद

इय मूल-तंत-कत्ता, सिरि-वीरो इंदभूदि-विप्प-वरो ।
उवतंते कत्तारो, अणुतंते सेस-आइरिया ।।८०।।

१. ब. चउउर°, क. चउउर । २. ब. यदभूदि°, क. इदिभूदि । ३. ब. मिस्सेण, क. मिरणेण ।
४. [परिणदमइणा य] क. मयेण एयार ।

अर्थ—इस प्रकार श्री वीरभगवान् मूलतंत्रकर्ता, ब्राह्मणों में श्रेष्ठ इन्द्रभूति गणधर उपतन्त्र-कर्ता और शेष आचार्य अनुतन्त्रकर्ता हैं ॥८०॥

सूत्र की प्रमाणता

णिण्णट्ठ-राय-दोसा, महेसिणो [1]दव्व-सुत्त-कत्तारो ।
किं कारणं पभणिदा, कहिदुं सुत्तस्स [2]पामण्णं ॥८१॥

अर्थ—रागद्वेष से रहित गणधरदेव द्रव्यश्रुत के कर्ता हैं, यह कथन यहाँ किस कारण से किया गया है ? यह कथन सूत्र की प्रमाणता का कथन करने के लिए किया गया है ॥८१॥

नय, प्रमाण और निक्षेप के बिना अर्थ निरीक्षण करने का फल

जो ण पमाण-णयेहिं, णिक्खेवेणं णिरक्खदे अत्थं ।
तस्साजुत्तं जुत्तं, जुत्तमजुत्तं च पडिहादि ॥८२॥

अर्थ—जो नय और प्रमाण तथा निक्षेप से अर्थ का निरीक्षण नहीं करता है, उसको अयुक्त पदार्थ युक्त और युक्त पदार्थ अयुक्त ही प्रतीत होता है ॥८२॥

प्रमाण एव नयादि का लक्षण

णाणं होदि पमाणं, णओ वि णादुस्स हिदय-भावत्थो[3] ।
णिक्खेओ वि उवाओ, जुत्तीए अत्थ-पडिगहणं ॥८३॥

अर्थ—सम्यग्ज्ञान को प्रमाण और ज्ञाता के हृदय के अभिप्राय को नय कहते हैं। निक्षेप भी उपायस्वरूप हैं। युक्ति से अर्थ का प्रतिग्रहण करना चाहिए ॥८३॥

रत्नत्रय का कारण

इय णायं अवहारिय, आइरिय-परंपरागदं मणसा ।
पुव्वाइरिया-आराणुसरणं ति-रयण-णिमित्तं ॥८४॥

अर्थ—इस प्रकार आचार्यपरम्परा से प्राप्त हुए न्याय को मन से अवधारण करके पूर्व आचार्यों के आचार का अनुसरण करना रत्नत्रय का कारण है ॥८४॥

१. द. ज. क. ठ. दिव्वसुत्त° । २. क. द. ज. ब. ठ. सामण्णं । ३. ब. णउ वि णादुसहहिदयभावत्थो, क. णउ वि णादुसहहिदयभावत्थो ।

ग्रंथ-प्रतिपादन की प्रतिज्ञा

मंगलपहुदिच्छक्कं, वक्खाणिय विविह-गंथ-जुत्तीहिं ।
जिणवर-मुह-णिक्कंतं, गणहर-देवेहिं [1]गथित-पदमालं ॥८५॥

सासद-पदमावण्णं, पवाह - रुवत्तणेण दोसेहिं ।
णिस्सेसेहिं विमुक्कं, आइरिय-अणुक्कमाआदं ॥८६॥

भव्व-जणाणंदयरं, वोच्छामि अहं तिलोयपण्णत्ति ।
णिब्भर - भत्ति - पसादिद - वर-गुरु - चलणाणुभावेण ॥८७॥

अर्थ—विविध ग्रन्थ और युक्तियो से मंगलादि छह (मगल, कारण, हेतु, प्रमाण, नाम और कर्ता का) व्याख्यान करके जिनेन्द्र भगवान के मुख से निकले हुए, गणधरदेवों द्वारा पदो को (शब्द रचना रूप) माला में गूँथे गये, प्रवाह रूप से शाश्वतपद (अनन्तकालीनता को) प्राप्त सम्पूर्ण दोषों से रहित और आचार्य-परम्परा से आये हुए तथा भव्यजनों को आनन्ददायक 'त्रिलोकप्रज्ञप्ति' शास्त्र को मैं अतिशय भक्ति द्वारा प्रसादित उत्कृष्ट-गुरु के चरणो के प्रभाव से कहता हूँ ॥८५-८७॥

ग्रन्थ के नव अधिकारो के नाम

सामण्ण-जग-सरूवं, तम्मि ठियं णारयाण लोयं च ।
भावण-णर-तिरियाणं, वेंतर-जोइसिय-कप्पवासीणं ॥८८॥

सिद्धाणं लोगो त्ति य, [2]अहियारे पयद-दिट्ठ-णव-भेए ।
तम्मि णिबद्धे जीवे, पसिद्ध-वर-वण्णणा-सहिए ॥८९॥

वोच्छामि [3]सयलभेदे, भव्वजणाणंद-पसर-संजणणं[4]।
जिण-मुह-कमल-विणिग्गय-तिलोयपण्णत्ति-णामाए ॥९०॥

अर्थ—जगत् का सामान्य स्वरूप तथा उसमे स्थित नारकियों का लोक, भवनवासी, मनुष्य, तिर्यंच, व्यन्तर, ज्योतिषी, कल्पवासी और सिद्धों का लोक, इस प्रकार प्रकृत में उपलब्ध भेदरूप नौ अधिकारो तथा उस-उस लोक मे निबद्ध जीवो को, नयविशेषों का आश्रय लेकर उत्कृष्ट वर्णना से

१. क. ज. ठ. गंथित । २. ब. अहिआरो, क. अहिआरे । ३. ब. लय = नयविशेषम्, द. वोच्छामि सयलईए, क. वोच्छामि सयलईए । ४ ब जणाणदएसरस ।

युक्त भव्यजनों को आनन्द के प्रसार का उत्पादक और जिनभगवान् के मुखरूपी कमल से निर्गत यह त्रिलोकप्रज्ञप्ति नामक ग्रन्थ कहता हूँ ॥८८-९०॥

लोकाकाश का लक्षण

जगसेढि-घण-पमाणो, लोयायासो स-पंच-दव्व-ठिदी ।
एस अणंताणंतालोयायासस्स बहुमज्झे ॥९१॥

☰ १६ ख ख ख[1]

अर्थ—यह लोकाकाश (☰) अनन्तानन्त अलोकाकाश (१६ ख ख ख) के बहुमध्यभाग में जीवादि पाँच द्रव्यों से व्याप्त और जगच्छ्रेणी के घन (३४३ घन राजू) प्रमाण है ॥९१॥

विशेष—इस गाथा की संदृष्टि (☰ १६ ख ख ख) का अर्थ इस प्रकार है—

☰, का अर्थ लोक की प्रदेश-राशि एवं धर्माधर्म की प्रदेश राशि ।

१६, सम्पूर्ण जीव राशि ।

१६ ख, सम्पूर्ण पुद्गल (की परमाणु) राशि ।

१६ ख ख, सम्पूर्ण काल (की समय) राशि ।

१६ ख ख ख, सम्पूर्ण आकाश (की प्रदेश) राशि ।

जीवा पोग्गल-धम्माधम्मा काला इमाणि दव्वाणि ।
सव्व [2]लोयायासं, [3]आधूइय पंच [4]चिट्ठंति ॥९२॥

अर्थ—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल, ये पाँचों द्रव्य सम्पूर्ण लोकाकाश को व्याप्त कर स्थित हैं ॥९२॥

एत्तो सेढिस्स घणप्पमाणाणं णिण्णयत्थ परिभासा उच्चदे—

अब यहाँ से आगे श्रेणि के घनप्रमाण लोक का निर्णय करने के लिए परिभाषाएँ अर्थात् पल्योपमादि का स्वरूप कहते हैं—

१. द. ख ख ख × २ । २. द. ब. क. ज. ठ. लोयायासो । ३. द. क. आउवड्ढिदि आधूइय । ४. द. ब. चरंति, क. चिरंति, ज. ठ. चिरंति ।

उपमा प्रमाण के भेद

पल्ल-समुद्दे उवमं, अंगुलयं सूइ-पदर-घण-णामं ।
जगसेढि-लोय-पदरो, अ लोओ अट्ठप्पमाणाणि ।।६३।।

प १ । सा. २ । सू ३ । प्र. ४ । घ. ५ । ज. ६ । लोय प ७ । लोय ८

अर्थ—पल्योपम, सागरोपम, सूच्यंगुल, प्रतरागुल, घनागुल, जगच्छ्रेणी, लोक-प्रतर और लोक ये आठ उपमा प्रमाण के भेद हैं ।।६३।।

१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८
पल्य, सागर, सूच्यगुल, प्रनरागुल, घनागुल, जग० लोक प्र० लोक ।

पल्य के भेद एव उनके विषयों का निर्देश

ववहारुद्धारद्धा, तिय-पल्ला पढमयम्मि संखाओ ।
बिदिए दीव-समुद्दा, तदिए मिज्जेदि कम्म-ठिदी ।।६४।।

अर्थ—व्यवहारपल्य, उद्धारपल्य और अद्धापल्य, ये पल्य के तीन भेद हैं । इनमें प्रथम पल्य से सख्या, द्वितीय से द्वीप-समुद्रादिक और तृतीय से कर्मों की स्थिति का प्रमाण लगाया जाता है ।।६४।।

स्कध, देश, प्रदेश एव परमाणु का स्वरूप

खंदं सयल-समत्थं, तस्स य अद्धं भणंति देसो त्ति ।
अद्धद्धं च पदेसो, अविभागी होदि परमाणू ।।६५।।

अर्थ—सब प्रकार से समर्थ (सर्वांशपूर्ण) स्कध, उसके अर्धभाग को देश और आधे के आधे भाग को प्रदेश कहते हैं । स्कध के अविभागी (जिसके और विभाग न हो सके ऐसे) अश को परमाणु कहते हैं ।।६५।।

परमाणु का स्वरूप

सत्थेण [1]सु-तिक्खेणं, छेत्तुं भेत्तुं च जं किर ण सक्को ।
जल-अणलादिहिं णासं, ण एदि [2]सो होदि परमाणू ।।६६।।

अर्थ—जो अत्यन्त तीक्ष्ण शस्त्र से भी छेदा या भेदा नहीं जा सकता तथा जल और अग्नि आदि के द्वारा नाश को भी प्राप्त नही होता वह परमाणु है ।।६६।।

१. ब. सुतिक्खेण य च्छेत्तु च जं किरस्सक्का । २. द. ब सा, ब ज. ठ. सा ।

एक्क-रस-वण्ण-गंधं, दो पासा सद्द-कारणमसद्दं ।
खंदंतरिदं दव्वं, तं परमाणुं भणंति बुधा ।।९७।।

अर्थ—जिसमे (पाँच रसों मे से) एक रस, (पाँच वर्णों मे से) एक वर्ण, (दो गंधों में से) एक गध और (स्निग्ध-रुक्ष में से एक तथा शीत-उष्ण मे से एक ऐसे) दो स्पर्श (इस प्रकार कुल पाँच गुण) है और जो स्वयं शब्दरूप न होकर भी शब्द का कारण है एवं स्कन्ध के अन्तर्गत है, उस द्रव्य को ज्ञानीजन परमाणु कहते है ।।९७।।

अंतादि-मज्झ-हीणं, अपदेसं इंदिएहिं ण हि [1]गेज्झं ।
जं दव्वं अविभत्तं, तं परमाणुं कहंति जिणा ।।९८।।

अर्थ—जो द्रव्य अन्त, आदि एव मध्य से विहीन, प्रदेशों से रहित (अर्थात् एक प्रदेशी हो), इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नही किया जा सकने वाला और विभाग रहित है, उसे जिन भगवान् परमाणु कहते है ।।९८।।

परमाणु का पुद्गलत्व

पूरंति गलंति जदो, पूरण-गलणेहि पोग्गला तेण ।
परमाणु च्चिय जादा, इय दिट्ठं दिट्ठि-वादम्हि ।।९९।।

अर्थ—क्योकि स्कन्धो के समान परमाणु भी पूरते है और गलते हैं, इसीलिए पूरण-गलन क्रियाओ के रहने से वे भी पुद्गल के अन्तर्गत है, ऐसा दृष्टिवाद अग मे निर्दिष्ट है ।।९९।।

परमाणु पुद्गल ही है

वण्ण-रस-गध-फासे, पूरण-गलणाइ सव्व-कालम्हि ।
खंदं पिव कुणमाणा, परमाणू पुग्गला [2]तम्हा ।।१००।।

अर्थ—परमाणु स्कन्ध की तरह सब कालो मे वर्ण, रस, गन्ध और स्पर्श, इन गुणों मे पूरण-गलन किया करते है, इसलिए वे पुद्गल ही है ।।१००।।

नय-अपेक्षा परमाणु का स्वरूप

आदेस-मुत्तमुत्तो, [3]धातु-चउक्कस्स कारणं जो दु[4] ।
सो णेयो परमाणू, परिणाम-गुणो य खंदस्स ।।१०१।।

१. द. क ज. ठ. सोज्झ । २ द. ज ठ. तस्स । ३. द ज ठ धाउ । ४ द. क. ठ. जादु ।

अर्थ—जो नय विशेष की अपेक्षा कथंचित् मूर्त एवं कथचित् अमूर्त है, चार धातु रूप स्कन्ध का कारण है और परिणमन-स्वभावी है, उसे परमाणु जानना चाहिए ।।१०१।।

उवसन्नासन्न स्कंध का लक्षण

परमाणूहि अणंताणंतेहिं बहु-विहेहि-दव्वेहिं ।
[1]उवसण्णासण्णो त्ति य, सो खंदो होदि णामेण ।।१०२।।

अर्थ—नाना प्रकार के अनन्तानन्त परमाणु-द्रव्यो से उवसन्नासन्न नाम से प्रसिद्ध एक स्कन्ध उत्पन्न होता है ।।१०२।।

सन्नासन्न से अंगुल पर्यन्त के लक्षण

[1]उवसण्णासण्णो वि य, गुणिदो अट्ठेहि होदि णामेण ।
सण्णासण्णो त्ति तदो, दु इदि खंधो पमाणट्ठं ।।१०३।।
[2]अट्ठेहिं गुणिदेहिं, सण्णासण्णेहिं होदि तुडिरेणू ।
तित्तिय - मेत्तहदेहिं, तुडिरेणूहिं पि तसरेणू ।।१०४।।
तसरेणू रथरेणू, उत्तम - भोगावणीए वालग्गं ।
मज्झिम-भोग-खिदीए, वालं पि जहण्ण-भोग-खिदिवालं ।।१०५।।
कम्म-महीए वालं, लिक्खं जूव जवं च अंगुलयं ।
इगि-उत्तरा य भणिदा, पुव्वेहिं अट्ठ - गुणिदेहिं ।।१०६।।

अर्थ—उवसन्नासन्न को भी आठ से गुणित करने पर सन्नासन्न नाम का स्कन्ध होता है अर्थात् आठ उवसन्नासन्नो का एक सन्नासन्न नाम का स्कन्ध होता है । आठ से गुणित सन्नासन्नो अर्थात् आठ सन्नासन्नो से एक त्रुटिरेणु और इतने (आठ) ही त्रुटिरेणुओ का एक त्रसरेणु होता है । त्रसरेणु से पूर्व पूर्व स्कन्धों द्वारा आठ-आठ गुणित क्रमशः रथरेणु, उत्तम भोगभूमि का बालाग्र, मध्यम-भोगभूमि का बालाग्र, जघन्य-भोगभूमि का बालाग्र, कर्म-भूमि का बालाग्र, लीख, जूँ, जौ और अगुल, ये उत्तरोत्तर स्कन्ध कहे गये हैं ।।१०३-१०६।।

अंगुल के भेद एवं उत्सेधांगुल का लक्षण

तिवियप्पमंगुलं तं, उच्छेह-पमाण-अप्प-अंगुलयं ।
परिभासा-णिप्पण्णं, होदि हु [3]उच्छेह-सूइ-अंगुलियं ।।१०७।।

१. द. ज. ठ. ओसण्णासण्णो । २. द. क. अट्ठहं, ज. ठ. अट्ठेदि । ३. द. ब. क. ठ. उदिसेह-सूचि अंगुमयं ।

अर्थ—अंगुल तीन प्रकार का है—उत्सेधांगुल, प्रमाणागुल और आत्मांगुल। ऊपर परिभाषा से सिद्ध किया गया अगुल उत्सेध-सूच्यगुल होता है ॥१०७॥

विशेषार्थ—उत्सेधांगुल के तीन भेद होते हैं—उत्सेध सूच्यगुल, उत्सेध प्रतरांगुल, उत्सेध घनांगुल। इसी तरह प्रमाण सूच्यंगुल, प्रमाण प्रतरांगुल, प्रमाण घनांगुल, ये प्रमाणांगुल के तीन भेद हैं। इसी तरह आत्म सूच्यगुल, आत्म प्रतरांगुल तथा आत्म घनागुल, ये आत्मांगुल के तीन भेद हैं।

प्रमाणांगुल का लक्षण

तं चिय पंच सयाइं, अवसप्पिणि-पढम-भरह-चक्किस्स ।
अगुलमेक्कं चेव य, तं तु पमाणंगुलं णाम ॥१०८॥

अर्थ—पाँच सौ उत्सेधांगुल प्रमाण, अवसर्पिणी काल के प्रथम चक्रवर्ती भरत के एक अंगुल का नाम ही प्रमाणांगुल है ॥१०८॥

आत्मांगुल का लक्षण

जस्सि जस्सि काले, भरहेरावद-महीसु[1] जे मणुवा ।
तस्सि तस्सि ताणं, अंगुलमादंगुलं णाम ॥१०९॥

अर्थ—जिस-जिस काल में भरत और ऐरावत क्षेत्र मे जो-जो मनुष्य हुआ करते है, उस-उस काल में उन्ही मनुष्यो के अगुल का नाम आत्मांगुल है ॥१०९॥

उत्सेधागुल द्वारा माप करने योग्य वस्तुएँ

उस्सेहअं-गुलेणं, सुराण-णर-तिरिय-णारयाणं च ।
[2]उस्सेहस्स-पमाणं, चउदेव-णिगेद-णयराणं[3] ॥११०॥

अर्थ—उत्सेधागुल से देव, मनुष्य, तिर्यंच एवं नारकियो के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण और चारों प्रकार के देवो के निवासस्थान एवं नगरादिक का प्रमाण जाना जाता है ॥११०॥

प्रमाणागुल से मापने योग्य पदार्थ

दीवोवहि-सेलाणं, वेदीण णदीण कुण्ड-जगदीणं ।
[4]वस्साणं च पमाणं, होदि पमाणंगुलेणेव ॥१११॥

१. ब. क. महीस । २. ब. उस्सेह अगुलो ण । ३. ब. णिकेदणणयराणि । ४. द. ब. वंसाणं ज. क. ठ. वमाण ।

अर्थ—द्वीप, समुद्र, कुलाचल, वेदी, नदी, कुण्ड (सरोवर), जगती और भरतादिक क्षेत्र का प्रमाण प्रमाणांगुल से ही होता है ॥१११॥

विशेषार्थ—**जंबूवृक्ष** का वर्णन उत्सेध योजन से है। (ति. प ४-२१७६) **जिनप्रतिमा** का नाप भी उत्सेधांगुल से होगा (रा वा I-२०७)। **तारा विमान** का नाप उत्सेधांगुल से होगा। (धवल ४-१६०-१६१) परन्तु राजवार्तिक (३-३८-६-२०८) के अनुसार तारा विमान का नाप प्रमाणांगुल से होगा। धवलाकार ने भी विकल्प से प्रमाणांगुल से तारा विमान का नाप करना बताया है। **सूर्य विमान** का नाप तो प्रमाणांगुल से ही होता है। (श्लोक वा भाग ५ पृ ५६८,२६६ कुन्थुसागर ग्रन्थमाला, सोलापुर, स सि वचनिका पृ १७५-१७६, अर्थप्रकाशिका पृष्ठ ११२-११३) **स्वर्ग विमानों** के नाप भी बड़े योजनों से ही होंगे। (श्लो वा ५-२७६)। **जिनभवन** का नाप प्रमाणांगुल से होना है। (जंबूदीव पण्णत्ती पृ २३७)।

आत्मांगुल से मापने योग्य पदार्थ

भिंगार-कलस-दप्पण-वेणु-पडह-जुगाण सयण-सगदाणं[1] ।
हल-मुसल-सत्ति-तोमर-सिंहासण-बाण-णालि-अक्खाणं ॥११२॥

चामर-दुंदुहि-पीढच्छत्ताणं णर-णिवास-णयराणं ।
उज्जाण-पहुदियाणं, संखा आदंगुलेणेव ॥११३॥

अर्थ—झारी, कलश, दर्पण, वेणु, भेरी, युग, शय्या, शकट (गाडी), हल, मूसल, शक्ति, तोमर, सिंहासन, बाण, नालि, अक्ष, चामर, दुन्दुभि, पीठ, छत्र, मनुष्यों के निवास-स्थान एवं नगर और उद्यानादिकों की संख्या आत्मांगुल से ही समझनी चाहिए ॥११२-११३॥

पाद से कोस-पर्यंत की परिभाषाएँ

छहि अंगुलेहि पादो, बे पादेहिं विहत्थि-णामा य ।
दोण्णि विहत्थी हत्थो, बे हत्थेहिं हवे रिक्कू ॥११४॥

बे रिक्कूहिं दंडो, दंडसमा [2]जुग धणूणि मुसलं वा ।
तस्स तहा णाली वा, दो-दंड-सहस्सयं कोसं ॥११५॥

अर्थ—छह अंगुलों का पाद, दो पादों की वितस्ति, दो वितस्तियों का हाथ, दो हाथों का रिक्कू, दो रिक्कुओं का दण्ड, दण्ड के बराबर अर्थात् चार हाथ प्रमाण ही धनुष, मूसल तथा नाली और दो हजार दण्ड या धनुष का एक कोस होता है ॥११४-११५॥

१. [सगडाण] २. द. युगधणूणि ।

योजन का माप

चउ-कोसेहिं जोयण, त चिय 'वित्थार-गत्त-समवट्टं ।
तत्तियमेत्तं घण-फल-माणेज्जं करण-कुसलेहिं ॥११६॥

अर्थ—चार कोस का एक योजन होता है । उतने ही अर्थात् एक योजन विस्तार वाले गोल गड्ढे का गणितशास्त्र मे निपुण पुरुषो को घनफल ले आना चाहिए ॥११६॥

गोल क्षेत्र की परिधि का प्रमाण, क्षेत्रफल एवं घनफल

सम-वट्ट-वास-वग्गे, दह-गुणिदे करणि-परिहिम्रो होदि ।
वित्थार-तुरिय[2] - भागे, परिहि-हदे तस्स खेत्तफलं ॥११७॥
उणवीस - जोयणेसुं, चउवीसेहिं तहावहरिदेसुं ।
तिविह-वियप्पे पल्ले, घण-खेत्त[3] - फला हु [4]पत्तेयं ॥११८॥

$\frac{१९}{२४}$ ।

अर्थ—समान गोल (बेलनाकार) क्षेत्र के व्यास के वर्ग को दस से गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो, उसका वर्गमूल निकालने पर परिधि का प्रमाण निकलता है, तथा विस्तार अर्थात् व्यास के चौथे भाग से परिधि को गुणित करने पर उसका क्षेत्रफल निकलता है । तथा उन्नीस योजनो को चौबीस से विभक्त करने पर तीन प्रकार के पल्यो मे से प्रत्येक का घन-क्षेत्रफल होता है ॥११७-११८॥

उदाहरण—एक योजन व्यास वाले गोल क्षेत्र का घनफल—

१ × १ × १० = १०, $\sqrt{१०} = \frac{१९}{६}$ परिधि, $\frac{१९}{६} \times \frac{१}{४} = \frac{१९}{२४}$ क्षेत्रफल, $\frac{१९}{२४} \times १$ $\frac{१९}{२४}$ घनफल ।

विशेषार्थ—यहाँ समान गोल क्षेत्र (कुण्ड) का व्यास १ योजन है, इसका वर्ग (१ यो० × १ यो०) = १ वर्ग योजन हुआ । इसमे १० का गुणा करने से (१ वर्ग यो० × १० =) १० वर्ग योजन हुए । इन १० वर्ग यो० का वर्गमूल ३$\frac{१}{६}$ ($\frac{१९}{६}$) योजन हुआ, यही परिधि का (सूक्ष्म) प्रमाण है । $\frac{१९}{६}$ यो० परिधि को व्यास के चौथाई भाग $\frac{१}{४}$ यो० मे गुणा करने पर ($\frac{१९}{६} \times \frac{१}{४} = $) $\frac{१९}{२४}$ वर्ग यो० (सूक्ष्म) क्षेत्रफल हुआ । इस $\frac{१९}{२४}$ वर्ग यो० क्षेत्रफल को १ यो० गहराई से गुणित करने पर ($\frac{१९}{२४} \times १$ यो० =) $\frac{१९}{२४}$ घन यो० (सूक्ष्म) घनफल प्राप्त होता है ॥११७-११८॥

व्यवहार पल्य के रोमो की सख्या निकालने का विधान तथा उनका प्रमाण

उत्तम-भोग-खिदीए, उप्पण्ण-विजुगल-रोम-कोडीओ ।
एक्कादि-सत्त-दिवसावहिम्मि च्छेत्तूण संगहियं ॥११९॥

१. ब. वित्थार । २. द. ज. क. ठ. तुरिम । ३. [घणखेत्तफ] ४. ब पत्तेका ।

अइवट्ट हिं तेहिं, रोमग्गेहिं णिरंतरं पढमं ।
अच्चंतं णचिदूणं, भरियव्वं जाव भूमिसमं ॥१२०॥

अर्थ उत्तम भोग-भूमि में एक दिन से लेकर सात दिन तक के उत्पन्न हुए मेढे के करोडों रोमां के अविभागी-खण्ड करके उन खण्डित रोमाग्रो से लगातार उस एक योजन विस्तार वाले प्रथम पल्य (गड्ढे) को पृथ्वी के बराबर अत्यन्त सघन भरना चाहिए ॥११९-१२०॥

दंड-पमाणंगुलए, उस्सेहंगुल जव च जूवं च ।
लिक्खं तह कादूणं, वालग्गं कम्म-भूमीए ॥१२१॥

[1]अवरं-मज्झिम-उत्तम-भोग-खिदीणं च वाल-अग्गाइं ।
[2]एक्केक्कमट्ठ-घण-हद - रोमा ववहार-पल्लस्स ॥१२२॥

५० । ९६ । ५०० । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ ।
५० । ९६ । ५०० । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ ।
५० । ९६ । ५०० । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ । ८ ।

[3]पल्ल रोमस्स

अर्थ—ऊपर जो $\frac{१९}{२४}$ प्रमाण घनफल आया है, उसके दण्ड कर प्रमाणागुल कर लेना चाहिए। पुन प्रमाणागुलो के उत्सेधांगुल करना चाहिए। पुन जौ, जूँ, लीख, कर्मभूमि के बालाग्र, जघन्य भोगभूमि के बालाग्र, मध्यम भोगभूमि के बालाग्र, उत्तम भोगभूमि के बालाग्र, इनकी अपेक्षा प्रत्येक को आठ के घन से गुणा करने पर व्यवहार पल्य के रोमो की सख्या निकल आती है ॥१२१-१२२॥ यथा—

$\frac{१९}{२४}$ × ४ × ४ × ४ × २००० × २००० × २००० × ४ × ४ × ४ × २४ × २४ × २४ × ५०० × ५०० × ५०० × ८ = ४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००००।

नोट मूल सदृष्टि के ५० का अर्थ ३ शून्य (०००) है। मूल मे तीन बार ९६, तीन बार ५०० और चौबीस बार ८ के अक आये हैं। हिन्दी अर्थ मे तीन बार ५०० और इक्कीस बार ८ के अंक रखे गये है, तीन बार ९६, तीन बार ८ और ९ शून्य अवशेष रहे। ९६००० को ८ से गुणित करने पर (९६००० × ८) = ७६८००० अगुल प्राप्त होते हैं, जो एक योजन के बराबर हैं। इन अगुलो के कोस आदि बनाने पर ४ कोस, २००० धनुष, ४ हाथ और २४ अगुल होते है। अर्थ मे तीन बार ४, तीन बार २०००, तीन बार ४ और तीन बार २४ इसी के सूचक रखे गये हैं।

१ ब. अवरमज्झिम॰ । २ द. एक्किक्क॰ । ३. [पल्ल] ।

विशेषार्थ—एक योजन के चार कोस, एक कोस के २००० धनुष, एक धनुष के चार हाथ और एक हाथ के २४ अंगुल होते हैं। एक योजन व्यास वाले गड्ढे का घनफल $\frac{१९}{६}$ प्रमाण घन योजन प्राप्त हुआ है, एक प्रमाण योजन के ५०० व्यवहार योजन होते है। "घनराशि का गुणकार या भागहार घनात्मक ही होता है" इस नियम के अनुसार $\frac{१९}{६}$ को तीन बार ५०० से गुणा किया और इन व्यवहार योजनो के रोमखण्ड बनाने हेतु तीन-तीन बार ४ कोस, २००० धनुष, ४ हाथ, २४ अंगुल एव आठ-आठ यव, जूँ आदि के प्रमाग से गुणा किया गया है॥१२१-१२२॥

उपर्युक्त मदृष्टि का गुणनफल

[1]अट्ठारस ठाणेसुं, सुण्णाणि दो णवेक्क दो [2]एक्को।
पण-णव-चउक्क-सत्ता, सग-सत्ता एक्क-तिय-सुण्णा ॥१२३॥

दो अट्ठ सुण्ण-तिअ-णह- [3]तिय-छक्का दोण्णि-पण-चउक्काणि।
[4]तिय एक्क चउक्काणि, अंक कमेण पल्लरोमस्स ॥१२४॥

४१३४५२६३०३०८२०३१७७७४९५१२१९२०००००००००००००००००००।

अर्थ—अन्त के स्थानों मे १८ शून्य, दो, नौ, एक, दो, एक, पाँच, नौ, चार, सात, सात, सात, एक, तीन, शून्य, दो, आठ, शून्य, तीन, शून्य, तीन, छह, दो, पाँच, चार, तीन, एक और चार ये क्रम से पल्य रोम के अक हैं ॥१२३-१२४॥

व्यवहार पल्य का लक्षण

एक्केक्कं रोमग्गं, वस्स-सदे फेडिदम्हि सो पल्लो।
रित्तो होदि स कालो, उद्धार णिमित्त-ववहारो ॥१२५॥

॥ ववहार-पल्लं ॥

अर्थ– सौ-सौ वर्ष में एक-एक रोम-खण्ड के निकालने पर जितने समय मे वह गड्ढा खाली होता है—उतने काल को व्यवहार-पल्योपम कहते हैं। वह व्यवहार पल्य उद्धार-पल्य का निमित्त है ॥१२५॥

॥ व्यवहार-पल्य का कथन समाप्त हुआ ॥

१. द. अट्ठरसताणे। २. द. दोणविक्क। ३. द. तियच्छचपदोण्णिपणचउण्णिति, क. तियच्छं-चउदोण्णिपणचउण्णिति। ४ द. ए एक्क।

उद्धार पल्य का प्रमाण

ववहार-रोम-रासिं, पत्तेक्कमसंख-कोडि-वस्साणं ।
समय-समं छेत्तूणं, बिदिए पल्लम्हि भरिदम्हि ।।१२६।।

समयं पडि[1] एक्केक्कं, वालग्गं फेडिदम्हि सो पल्लो ।
रित्तो होदि स कालो, उद्धारं णाम पल्लं तु ।।१२७।।

।। उद्धार-पल्लं ।।

अर्थ—व्यवहारपल्य की रोम-राशि मे से प्रत्येक रोम-खण्ड के, असंख्यात करोड वर्षों के जितने समय हो उतने खण्ड करके, उनसे दूसरे पल्य को (गड्ढे को) भरकर पुन एक-एक समय मे एक-एक रोम-खण्ड को निकालें। इस प्रकार जितने समय मे वह दूसरा पल्य (गड्ढा) खाली होता है, उतना काल उद्धार नाम के पल्य का है ।।१२६-१२७।।

।। उद्धार-पल्य का कथन समाप्त हुआ ।।

अद्धार या अद्धापल्य के लक्षण आदि

एदेणं पल्लेणं, दीव-समुद्दाण होदि परिमाणं ।
उद्धार-रोम-रासिं, [2]छेत्तूणमसंख-वास-समय-समं ।।१२८।।

पुव्वं व विरचिदेणं, तदियं अद्धार-पल्ल-णिप्पत्ती ।
णारय-तिरिय-णराणं, सुराण-कम्म-ट्ठिदी तम्हि ।।१२९।।

।। अद्धार-पल्लं एवं पल्लं समत्तं ।।

अर्थ—इस उद्धार-पल्य से द्वीप और समुद्रो का प्रमाण जाना जाता है। उद्धार-पल्य की रोम-राशि मे से प्रत्येक रोम-खण्ड के असंख्यात वर्षों के समय-प्रमाण खण्ड करके तीसरे गड्ढे के भरने पर और पहले के समान एक-एक समय में एक-एक रोम-खण्ड को निकालने पर जितने समय में वह गड्ढा रिक्त होता है उतने काल को अद्धार पल्योपम कहते हैं। इस अद्धा पल्य से नारकी, तिर्यंच, मनुष्य और देवों के कर्मों की स्थिति का प्रमाण (जानना चाहिए) ।।१२८-१२९।।

।। अद्धार-पल्य समाप्त हुआ। इस प्रकार पल्य समाप्त हुआ ।।

१. ब. पडियक्केक्क। २. द छेत्तूण सख।

व्यवहार, उद्धार एवं अद्धा सागरोपमों के लक्षण

एदाणं पल्लाणं, दहप्पमाणाउ कोडि-कोडीओ ।
सायर-उवमस्स पुढं, एक्कस्स हवेज्ज परिमाणं ।।१३०।।

।। सायरोपमं समत्तं ।।

अर्थ—इन दस कोड़ाकोडी पल्यों का जितना प्रमाण हो उतना पृथक्-पृथक् एक सागरोपम का प्रमाण होता है। अर्थात् दस कोडाकोडी व्यवहार पल्यो का एक व्यवहार-सागरोपम, दस कोड़ाकोडी उद्धार-पल्यो का एक उद्धार-सागरोपम और दस-कोडाकोड़ी अद्धा-पल्यो का एक अद्धा-सागरोपम होता है ।।१३०।।

।। सागरोपम का वर्णन समाप्त हुआ ।।

सूच्यगुल और जगच्छ्रेणी के लक्षण

अद्धार-पल्ल-छेदे, तस्सासंखेज्ज-भागमेत्ते य ।
पल्ल-घणंगुल-वग्गिद-संवग्गिदयम्हि सूइ-जगसेढी ।।१३१।।

सू० २ । जग०—।

अर्थ—अद्धापल्य के जितने अर्धच्छेद हो उतनी जगह पल्य रखकर परस्पर गुणित करने पर सूच्यंगुल प्राप्त होता है; तथा अद्धापल्य की अर्धच्छेद राशि के असंख्यातवे भाग प्रमाण घनागुल रख कर उन्हें परस्पर गुणित करने पर जगच्छ्रेणी प्राप्त होती है ।।१३१।।

अद्धापल्य के अर्धच्छेद ।
विशेषार्थ—सूच्यगुल = अद्धापल्य

अद्धापल्य के अर्धच्छेद/असंख्यात//
जगच्छ्रेणी = घनागुल

सूच्यगुल आदि का तथा राजू का लक्षण

तं वग्गे पदरंगुल-पदराइ-घणे घणंगुलं लोयो ।
जगसेढीए सत्तम-भागो रज्जू पभासंते ।।१३२।।

४ । = । ६ । ☰ । ७ ।

।। एवं परिभासा गदा ।।

अर्थ—उपर्युक्त सूच्यंगुल का वर्ग करने पर प्रतरागुल और जगच्छ्रेणी का वर्ग करने पर जगत्प्रतर होता है। इसी प्रकार सूच्यगुल का घन करने पर घनांगुल और जगच्छ्रेणी का घन करने पर लोक का प्रमाण होता है। जगच्छ्रेणी के सातवें भागप्रमाण राजू का प्रमाण कहा जाता है ।।१३२।।

प्र. अं ४; ज प्र.= , घ अ ६; घ. लो. ≡ । ७ राजू है।

॥ इस प्रकार परिभाषा का कथन समाप्त हुआ ॥

विशेषार्थ—गाथा १३१ और १३२ मे सूच्यंगुल, प्रतरागुल और घनागुल तथा जगच्छ्रेणी, जगत्प्रतर और लोक एव राजू की परिभाषाएँ कही गयी हैं। अकसदृष्टि से—मानलो, अद्धापल्य का प्रमाण १६ है। इसके अर्धच्छेद ४ हुए (विवक्षित राशि को जितनी बार आधा करते-करते एक का अक रह जाय उतने, उस राशि के अर्धच्छेद कहलाते हैं। जैसे १६ को ४ बार आधा करने पर एक अक रहता है, अत. १६ के ४ अर्धच्छेद हुए)। अतः चार बार पल्य (१६ × १६ × १६ × १६) का परस्पर गुणा करने से सूच्यगुल (६५=अर्थात् ६५५३६) प्राप्त हुआ। इस सूच्यगुल के वर्ग (४२=अर्थात् ६५५३६ × ६५५३६) को प्रतरागुल तथा सूच्यंगुल के घन (६५५३६ × ६५५३६ × ६५५३६ या (६५५३६)^{2} × ६५५३६ = (६५५३६)^{3} को घनागुल कहते हैं।

मानलो—अद्धापल्य का प्रमाण १६, घनांगुल का प्रमाण (६५५३६)^{3} और असख्यात का प्रमाण २ है। अत: पल्य (१६) के अर्धच्छेद ४—२ (असख्यात) = लब्ध २ आया, इसलिए दो बार घनांगुलो { (६५५३६)^{3} × (६५५३६)^{3} } का परस्पर गुणा करने से जगच्छ्रेणी प्राप्त होती है। जगच्छ्रेणी के वर्ग को जगत्प्रतर और जगच्छ्रेणी के घन को लोक कहते है। जगच्छ्रेणी (६५५३६^{4} × ६५५३६^{2}) के सातवे भाग को राजू कहते हैं। यथा—$\frac{\text{जगच्छ्रेणी}}{७}$ = राजू।

लोकाकाश के लक्षण

आदि-णिहणेण हीणो, पयडि-सरूवेण एस संजादो ।
जीवाजीव-समिद्धो, [1]सव्वण्हावलोइओ लोओ ॥१३३॥

अर्थ—सर्वज्ञ भगवान् से अवलोकित यह लोक आदि और अन्त से रहित अर्थात् अनाद्यनन्त है, स्वभाव से ही उत्पन्न हुआ है और जीव एव अजीव द्रव्यो से व्याप्त है ॥१३३॥

धम्माधम्म-णिबद्धा, [2]गदिरगदी जीव-पोग्गलाणं च ।
जेत्तिय-मेत्ताआसे[3], लोयाआसो स णादव्वो ॥१३४॥

अर्थ—जितने आकाश मे धर्म और अधर्म द्रव्य के निमित्त से होने वाली जीव और पुद्गलो की गति एव स्थिति हो, उसे लोकाकाश समझना चाहिए ॥१३४॥

१. द. क. ज. ठ. सव्वणहावअवदो, ब. सव्वणहावलोयदो। २. द. ब. गदिरागदि। ३. द. ब. क. ज मेत्ताथासो।

लोकाकाश एवं अलोकाकाश

लोयायास-ट्ठाणं, सयं-पहाणं स-दव्व-छक्कं हु ।
सव्वमलोयायासं, तं [1]सव्वासं हवे णियमा ।।१३५।।

अर्थ—छह द्रव्यों से सहित यह लोकाकाश का स्थान निश्चय ही स्वयं प्रधान है, इसकी सब दिशाओं में नियम से अलोकाकाश स्थित है ।।१३५।।

लोक के भेद

सयलो एस य लोओ, णिप्पण्णो सेढि-विंद-माणेणं ।
[2]तिवियप्पो णादव्वो, हेट्ठिम-मज्झिल्ल-उड्ढ-भेएण ।।१३६।।

अर्थ—श्रेणीवृन्द के मान से अर्थात् जगच्छ्रेणी के घनप्रमाण से निष्पन्न हुआ यह सम्पूर्ण लोक अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक के भेद से तीन प्रकार का जानना चाहिए ।।१३६।।

तीन लोक की आकृति

हेट्ठिम लोयाआरो, वेत्तासण-सण्णिहो सहावेण ।
मज्झिम-लोयायारो, उब्भिय-मुरअद्ध-सारिच्छो ।।१३७।।

△　▽

उवरिम-लोयाआरो, उब्भिय-मुरवेण होइ सरिसत्तो ।
संठाणो एदाणं, लोयाणं एण्हि साहेमि ।।१३८।।

अर्थ—इनमें से अधोलोक की आकृति स्वभाव से वेत्रासन सदृश और मध्यलोक की आकृति खड़े किये हुए अर्धमृदंग के ऊर्ध्व भाग के सदृश है। ऊर्ध्वलोक की आकृति खड़े किये हुए मृदंग के सदृश है। अब इन तीनों लोकों का आकार कहते हैं ।।१३७-१३८।।

१. ब. त सवास । २. द. तिव्वियप्पो ।

विशेषार्थ—गाथा १३७-१३८ के अनुसार लोक की आकृति निम्नांकित है—

अधोलोक का माप एवं आकार

तं मज्झे मुहमेक्कं, भूमि जहा होदि सत्त रज्जूओ ।
तह छिंदिदम्मि मज्झे, हेट्ठिम - लोयस्स आयारो ।।१३९।।
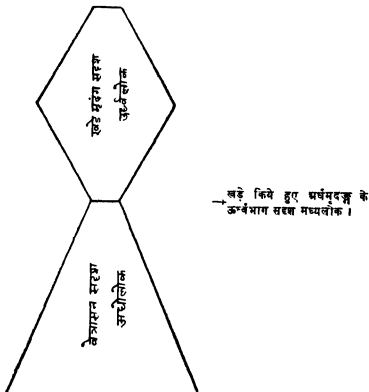
अर्थ—उस सम्पूर्ण लोक के बीच में से जिस प्रकार मुख एक राजू और भूमि सात राजू हो, इस प्रकार मध्य मे छेदने पर अधोलोक का आकार होता है ।।१३९।।

विशेषार्थ—सम्पूर्ण लोक में से अधोलोक को इस प्रकार अलग किया गया है कि जिसका मुख एक राजू और भूमि सात राजू है। यथा—
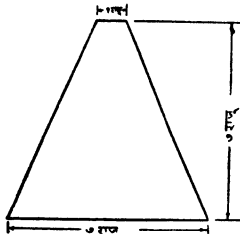
सम्पूर्ण लोक को वर्गाकार आकृति मे लाने का विधान एवं आकृति

दोपक्ख - खेत्त - मेत्तं[1] , उच्चलयंतं पुण-ट्ठवेदूणं।
विवरीदेणं मेलिदे, वासुच्छेहा सत्त रज्जूओ ॥१४०॥

अर्थ—दोनो ओर फैले हुए क्षेत्र को उठाकर अलग रख दे, फिर विपरीत क्रम से मिलाने पर वेस्तार और उत्सेध सात-सात राजू होता है ॥१४०॥

विशेषार्थ—लोक चौदह राजू ऊँचा है। इस ऊँचाई को ठीक बीच मे से काट देने पर लोक के सामान्यतः दो भाग हो जाते हैं, इन क्षेत्रों में से अधोलोक को अलग कर उसके दोनों भागों को और अलग किये हुए ऊर्ध्वलोक के चारो भागो को विपरीत क्रम से रखने पर लोक का उत्सेध और विस्तार दोनो सात-सात राजू प्राप्त होते हैं। यथा—

1. द. क. ज. ठ. उच्चल्लयत।

लोकाकृति

लोक की वर्गाकार आकृति
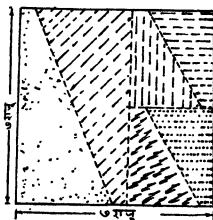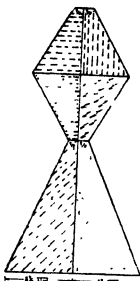
लोक की डेढ मृदंग सदृश आकृति बनाने का विधान

मज्झम्हि पंच रज्जू, कमसो हेट्ठोवरम्हि[1] इगि-रज्जू ।
सग रज्जू उच्छेहो, होदि जहा तह य छेत्तूणं ॥१४१॥

हेट्ठोवरिदं मेलिद-खेत्तायारं तु चरिम-लोयस्स ।
एदे पुव्विल्लस्स य, खेत्तोवरि ठावए पयदं ॥१४२॥

[2]उड्ढिय-दिवड्ढ-मुरव-धजोवमाणो य तस्स आयारो ।
एक्कपदे [3]सग-बहलो, चोद्दस-रज्जूदग्रो तस्स ॥१४३॥

अर्थ—जिस प्रकार मध्य में पाँच राजू, नीचे और ऊपर क्रमशः एक राजू और ऊँचाई सात राजू हो, इस प्रकार खण्डित करने पर नीचे और ऊपर मिले हुए क्षेत्र का आकार अन्तिम लोक अर्थात् ऊर्ध्वलोक का आकार होता है, इसको पूर्वोक्त क्षेत्र अर्थात् अधोलोक के ऊपर रखने पर प्रकृत मे खड़े किये हुए ध्वजयुक्त डेढ़मृदंग के सदृश उस सम्पूर्ण लोक का आकार होता है। इसको एकत्र करने पर उस लोक का बाहल्य सात राजू और ऊँचाई चौदह राजू होती है ॥१४१-१४३॥

१. द.क. वरिम्हि । २. द उड्ढियदिवड्ढमुरवद्ध । ३. द. ब. सव्वहलो ।

तस्स य एक्कम्हि दए, वासो पुव्वावरेण भूमि-मुहे ।
सत्तेक्क-पंच-एक्का, रज्जूवो मज्झ-हाणि-चयं ।।१४४।।

अर्थ—इस लोक की भूमि और मुख का व्यास पूर्व-पश्चिम की अपेक्षा एक ओर क्रमशः सात, एक, पाँच और एक राजू मात्र है, तथा मध्य में हानि-वृद्धि है ।।१४४।।

नोट—गाथा १४१ से १४४ प्रकृत प्रसंग से इतर हैं, क्योंकि गाथा १४० का सम्बन्ध गाथा १४५-१४७ से है ।

सम्पूर्ण लोक को प्रतराकार रूप करने का विधान एवं आकृति

खे-संठिय-चउखंडं, सरिसट्ठाणं [1]आइ घेत्तूणं ।
तमणुब्भोभय-पक्खे, विवरीय-कमेण मेलेज्जो ।।१४५।।

[2]एवज्जिय अवसेसे, खेत्ते गहिऊण पदर-परिमाणं ।
पुव्वं पिव कादूणं, बहलं बहलम्मि मेलेज्जो ।।१४६।।

एव-मवसेस-खेत्तं, जाव [3]समप्पेदि ताव घेत्तव्वं ।
एक्केक्क-पदर-माणं, एक्केक्क-पदेस-बहलेणं ।।१४७।।

अर्थ—आकाश में स्थित, सदृश आकार वाले चारों खण्डों को ग्रहण कर उन्हे विचारपूर्वक उभय पक्ष में विपरीत क्रम से मिलाना चाहिए। इसी प्रकार अवशेष क्षेत्रों को ग्रहण कर और पूर्व के सदृश ही प्रतर-प्रमाण करके बाहल्य को बाहल्य मे मिला दें। जब तक इस क्रम से अवशिष्ट क्षेत्र समाप्त नही हो जाता, तब तक एक-एक प्रदेश की मोटाई से एक-एक प्रतर-प्रमाण को ग्रहण करना चाहिए ।।१४५-१४७।।

विशेषार्थ—१४ इंच ऊँची, ७ इंच मोटी और पूर्व-पश्चिम सात, एक, पाँच और एक इंच चौड़ाई वाली मिट्टी की एक लोकाकृति सामने रखकर उसमें से १४ इंच लम्बी, ७, १, ५, १ इंच चौड़ी और एक इंच मोटी एक परत छीलकर ऊँचाई की ओर से उसके दो-भाग कर गाथा १४० में दर्शायी हुई ७ राजू उत्सेध और ७ राजू विस्तार वाली प्रतराकृति के रूप में बनाकर स्थापित करें। पुनः उस लोकाकृति मे से एक इंच मोटी, १४ इंच ऊँची और पूर्व विस्तार वाली दूसरी परत छीलकर उसे भी प्रतर रूप करके पूर्व-प्रतर के ऊपर स्थापित करें, पुनः इसी प्रमाण वाली तीसरी परत छीलकर उसे भी प्रतर रूप करके पूर्व स्थापित प्रतराकृति के ऊपर ही स्थापित करे। इस प्रकार

१. ब. अइ। २. [एवं चिय]। ३. द. ब. सम पेरि।

करते-करते जब सातों ही परतें प्रतराकार में एक दूसरे पर स्थापित हो जायेंगी तब ७ इंच उत्सेध, ७ इंच विस्तार और सात इंच बाहल्य वाला एक क्षेत्र प्राप्त होगा। यह मात्र दृष्टान्त है किन्तु इसका दार्ष्टान्त भी प्रायः ऐसा ही है। यथा—१४ राजू ऊँचे, ७, १, ५, १ राजू चौड़े और ७ राजू मोटे लोक को एक-एक प्रदेश मोटाई वाली एक-एक परत छीलकर तथा उसे प्रतराकार रूप से स्थापित करने अर्थात् बाहल्य को बाहल्य से मिला देने पर लोकरूप क्षेत्र की मोटाई ७ राजू, उत्सेध ७ राजू और विस्तार ७ राज प्राप्त होता है। यथा—
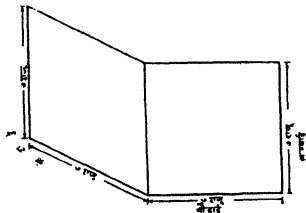
नोट—मूल गाथा १३८ के पश्चात् दी हुई सदृष्टि का प्रयोजन विशेषार्थ से स्पष्ट हो जाता है।

त्रिलोक की ऊँचाई, चौड़ाई और मोटाई के वर्णन की प्रतिज्ञा

एवेण पयारेणं, णिप्पण्णत्ति-लोय-खेत्त-दीहत्तं।
वास - उदयं भणामो, णिस्संदं दिट्ठि - वादादो ॥१४८॥

अर्थ—इस प्रकार से सिद्ध हुए त्रिलोक रूप क्षेत्र की मोटाई, चौड़ाई और ऊँचाई का हम (यतिवृषभ) वैसा ही वर्णन कर रहे हैं जैसा दृष्टिवाद अंग से निकला है ॥१४८॥

दक्षिण-उत्तर सहित लोक का प्रमाण एवं आकृति

सेढि-पमाणायामं, भागेसुं दक्खिणुत्तरेसु पुढं।
पुव्वावरेसु वासं, भूमि-मुहे सत्त एक्क-पंचेक्का ॥१४९॥

—।—।७१।७५।७१।

अर्थ—दक्षिण और उत्तर भाग में लोक का आयाम जगच्छ्रेणी प्रमाण अर्थात् सात राजू है, पूर्व और पश्चिम भाग में भूमि तथा मुख का व्यास, क्रमशः सात, एक, पाँच और एक राजू है।

तात्पर्य यह है कि लोक की मोटाई सर्वत्र सात राजू है और विस्तार क्रमशः अधोलोक के नीचे सात, मध्यलोक मे एक, ब्रह्मस्वर्ग पर पांच और लोक के अन्त मे एक राजू है ।।१४६।।

विशेषार्थ—लोक की उत्तर-दक्षिण मोटाई, पूर्व-पश्चिम चौड़ाई और गाथा १५० के प्रथम चरण में कही जाने वाली ऊँचाई निम्नप्रकार है—
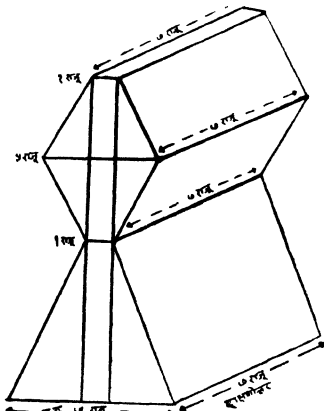
अधोलोक एव ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई मे सदृशता

चोद्दस-रज्जु-पमाणो, उच्छेहो होदि सयल-लोयस्स ।
अद्ध-मुरज्जस्सुदवो, ¹समग्ग-मुरवोदय - सरिच्छो ।।१५०।।

१४ । — । — ।

---

१. ब. सामग्ग ।

अर्थ---सम्पूर्ण लोक की ऊँचाई चौदह राजू प्रमाण होती है। अर्धमृदंग की ऊँचाई, सम्पूर्ण मृदंग की ऊँचाई के सदृश है अर्थात् अर्धमृदग सदृश अधोलोक जैसे सात राजू ऊँचा है, उसी प्रकार पूर्ण मृदंग के सदृश ऊर्ध्वलोक भी सात राजू ऊँचा है ।।१५०।।

तीनो लोकों की पृथक्-पृथक् ऊँचाई

हेट्ठिम-मज्झिम-उवरिम-लोउच्छेहो कमेण रज्जूवो ।
सत्त य जोयण-लक्खं, जोयण-लक्खूण-सग-रज्जू ।।१५१।।

। ७ । जो १०००००। ७ रिण जो. १००००० ।

अर्थ—क्रमश: अधोलोक की ऊँचाई सात राजू, मध्यलोक की ऊँचाई एक लाख योजन और ऊर्ध्वलोक की ऊँचाई एक लाख योजन कम सात राजू है ।।१५१।।

अधोलोक मे स्थित पृथिवियो के नाम एव उनका अवस्थान

इह रयण-सक्करा-वालु-पंक-धूम-तम-महातमादि-पहा ।
मुरवद्धम्मि महीओ, सत्तच्चिय रज्जु-अंतरिदा[1] ।।१५२।।

अर्थ—इन तीनो लोको मे से अर्धमृदगाकार अधोलोक में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, बालुप्रभा पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और महातम:प्रभा, ये सात पृथिवियाँ एक-एक राजू के अन्तराल से हैं ।।१५२।।

विशेषार्थ—ऊपर प्रत्येक पृथिवी के मध्य का अन्तर जो एक राजू कहा है, वह सामान्य कथन है। विशेष रूप से विचार करने पर पहली और दूसरी पृथिवी की मोटाई एक राजू में शामिल है अतएव इन दोनों पृथिवियों का अन्तर दो लाख बारह हजार योजन कम एक राजू होगा। इसी प्रकार आगे भी पृथिवियो की मोटाई प्रत्येक राजू में शामिल है, अतएव मोटाई का जहाँ जितना प्रमाण है उतना-उतना कम, एक-एक राजू अन्तर वहाँ का जानना चाहिए।

---

१. क. ज. ठ. अंतरिया ।

रत्नप्रभादि पृथिवियों के गोत्र नाम

घम्मा-वसा-मेघा-अंजणरिट्ठाण[1] ओज्झ मघवीओ।
माघविया इय ताणं पुढवीणं [2]गोत्त-णामाणि ॥१५३॥

अर्थ--घर्मा, वशा, मेघा, अंजना, अरिष्टा, मघवी और माघवी, ये इन उपर्युक्त पृथिवियों के गोत्र नाम हैं ॥१५३॥

मध्यलोक के अधोभाग से लोक के अन्त-पर्यन्त राजू-विभाग

मज्झिम-जगस्स हेट्ठिम-भागादो णिग्गदो पढम-रज्जू।
[3]सक्कर-पह-पुढवीए, हेट्ठिम-भागम्मि णिट्ठादि ॥१५४॥

७ १ ।

अर्थ—मध्यलोक के अधोभाग से प्रारम्भ होता हुआ पहला राजू शर्कराप्रभा पृथिवी के अधोभाग में समाप्त होता है ॥१५४॥

॥ राजू १ ॥

तत्तो [4]दोइद-रज्जू, वालुव-पह-हेट्ठम्मि समप्पेदि।
तह य तइज्जा रज्जू, [5]पंक-पहे हेट्ठभायम्मि ॥१५५॥

। ७ २ । ७ ३ ।

अर्थ—इसके आगे दूसरा राजू प्रारम्भ होकर बालुकाप्रभा के अधोभाग मे समाप्त होता है, तथा तीसरा राजू पङ्कप्रभा के अधोभाग मे समाप्त होता है ॥१५५॥

राजू २ । राजू ३ ।

धूम-पहाए हेट्ठिम-भागम्मि, समप्पदे तुरिय-रज्जू।
तह पंचमिआ रज्जू, तमप्पहा - हेट्ठिम-पएसे ॥१५६॥

। ७ ४ । ७ ५ ।

अर्थ—इसके अनन्तर चौथा राजू धूमप्रभा के अधोभाग मे और पाँचवाँ राजू तमःप्रभा के अधोभाग में समाप्त होता है ॥१५६॥

१. क. रिट्ठाण उज्झ, ज. ठ. द. रिट्ठा ओज्झ। २ ब. गात्त। ३. द. ब. क. ठ. सक्करसेहु। ज. सकरसेढ। ४. ज. ठ. दुइज्ज, द. क. दोइज्ज। ५. ज. द. क. ठ. पंक पह हेट्ठस्स भागम्मि।

महतम-पहाअ हेट्ठिम-अंते [1]छट्ठी हि समप्पदे रज्जू ।
तत्तो सत्तम - रज्जू, लोयस्स तलम्मि णिट्ठादि ॥१५७॥

। उ ६ । उ ७ ।

अर्थ—पूर्वोक्त क्रम से छठा राजू महातम.प्रभा के नीचे अन्त मे समाप्त होता है और इसके आगे सातवाँ राजू लोक के तलभाग मे समाप्त होता है ॥१५७॥

मध्यलोक के ऊपरी भाग से अनुत्तर विमान पर्यन्त राजू विभाग

मज्झिम-जगस्स उवरिम-भागादु दिवड्ढ-रज्जु-परिमाणं ।
इगि - जोयण - लक्खूणं[2] , सोहम्म-विमाण-धय-दंडे ॥१५८॥

६४ ३ । रि यो १०००००[3]

अर्थ—मध्य लोक के ऊपरी भाग से सौधर्म-विमान के ध्वज-दण्ड तक एक लाख योजन कम डेढ राजू प्रमाण ऊँचाई है ॥१५८॥

विशेषार्थ—मध्यलोक के ऊपरी भाग (चित्रा पृथिवी) से सौधर्म विमान के ध्वज-दण्ड पर्यन्त सुमेरु पर्वत की ऊँचाई एक लाख योजन कम डेढ राजू प्रमाण है।

वच्चदि दिवड्ढ-रज्जू , माहिंद-सणक्कुमार-उवरिम्मि ।
णिट्ठादि - अद्ध[4] - रज्जू , बम्हुत्तर-उड्ढ-भागम्मि ॥१५९॥

। ६४ ३ । ६४ ।

अर्थ—इसके आगे डेढ़राजू , माहेन्द्र और सनत्कुमार स्वर्ग के ऊपरी भाग मे समाप्त होता है। अनन्तर आधा राजू ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के ऊपरी भाग मे पूर्ण होता है ॥१५९॥

रा $\frac{3}{2}$ । $\frac{1}{2}$

अवसादि-अद्ध-रज्जू , काविट्ठस्सोवरिट्ठ[5] - भागम्मि ।
स च्चिय महसुक्कोवरि, सहसारोवरि य सच्चेव ॥१६०॥

। ६४ । ६४ । ६४ ।

१. ब. क. छट्ठीहि। २. द. लक्खोण, क. लक्खाणं। ३. द. ब. ६४ ३ । ६४ ३ । ४. ब. अट्ठरज्जुबमुत्तरं। ५. क. सोवरिमद्ध।

अर्थ— इसके पश्चात् आधा राजू कापिष्ट के ऊपरी भाग में, आधा राजू महाशुक्र के ऊपरी भाग में और आधा राजू सहस्रार के ऊपरी भाग मे समाप्त होता है ॥१६०॥

। राजू $\frac{1}{2}$ । $\frac{1}{2}$ । $\frac{1}{2}$ ।

तत्तो य अद्ध-रज्जू, आणद-कप्पस्स[1] उवरिम-पएसे ।
स य आरणस्स कप्पस्स उवरिम-भागम्मि [2]गेविज्जं ॥१६१॥

। ४२ । ४२ ।

अर्थ—इसके अनन्तर अर्ध ($\frac{1}{2}$) राजू आनत स्वर्ग के ऊपरी भाग में और अर्ध ($\frac{1}{2}$) राजू आरण स्वर्ग के ऊपरी भाग में पूर्ण होता है ॥१६१॥

[3]गेवेज्ज णवाणुद्दिस, पहुडीओ होंति एक्क-रज्जूवो ।
एवं उवरिम - लोए, रज्जु - विभागो समुद्दिट्ठो ॥१६२॥

७ १

अर्थ—तत्पश्चात् एक राजू की ऊँचाई मे नौ ग्रैवेयक, नौ अनुदिश और पाँच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार ऊर्ध्वलोक मे राजू का विभाग कहा गया है ॥१६२॥

कल्प एवं कल्पातीत भूमियो का अन्त

णिय-णिय-चरिमिंदय-धय-दंडग्गं कप्पभूमि-अवसाणं ।
कप्पादीद - महीए, विच्छेदो लोय - किंचूणो[4] ॥१६३॥

अर्थ—अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक ध्वज-दण्ड का अग्रभाग उन-उन कल्पो (स्वर्गों) का अन्त है और कल्पातीत भूमि का जो अन्त है वह लोक के अन्त से कुछ कम है ॥१६३॥

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक सुमेरु पर्वत की चोटी से एक बाल मात्र के अन्तर से प्रारम्भ होकर लोकशिखर पर्यन्त १०००४० योजन कम ७ राजू प्रमाण है, जिसमे सर्वप्रथम ८ युगल (१६ स्वर्ग) हैं, प्रत्येक युगल का अन्त अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक के ध्वजदण्ड के अग्रभाग पर हो जाता है। इसके ऊपर अनुक्रम से कल्पातीत विमान एव सिद्धशिला आदि है। सर्वार्थसिद्धि विमान के ध्वजदण्ड से १२ योजन ऊपर आठ योजन बाहल्य वाली ईषत्प्राग्भार पृथ्वी (सिद्धशिला) है। इस पृथ्वी के

१. द. ब. क. कप्प सो। २ क. ब गेवज्जं। ३ द. क. ब. ज ठ. तत्तो उवरिम-भागे णवाणुत्तरओ। ४. द क. ज. ठ. विच्छेदो।

ऊपर क्रमशः ४००० धनुष, २००० धनुष और १५७५ धनुष मोटे घनोदधिवातवलय, घनवातवलय और तनुवातवलय हैं। इस प्रकार लोक-शिखर से (१२ यो० + ८ यो० + ७५७५ धनुष अर्थात्) ४२५ धनुष कम २१ योजन नीचे कल्पातीत भूमि का अन्त है। इस गाथा के 'लोय-किंचूणो' पद का यही भाव है।

अधोलोक के मुख और भूमि का विस्तार एवं ऊँचाई

सेढीए सत्तंसो, हेट्ठिम-लोयस्स होदि मुहवासो ।
भूमी-वासो सेढी-मेत्ता[1] - अवसाण - उच्छेहो ।।१६४।।

७ । — । — ।

अर्थ—अधोलोक के मुख का विस्तार जगच्छ्रेणी का सातवाँ भाग, भूमि का विस्तार जगच्छ्रेणी प्रमाण और अधोलोक के अन्त तक ऊँचाई भी जगच्छ्रेणी प्रमाण ही है ।।१६४।।

विशेषार्थ—अधोलोक का मुखविस्तार एक राजू, भूमिविस्तार सात राजू और ऊँचाई सात राजू प्रमाण है।

अधोलाक का क्षेत्रफल निकालने की विधि

मुह-भू-समासमद्धिअ[2], गुणिदं पुण तह य वेदेण ।
घण-घणिदं णादव्वं, वेत्तासण-सण्णिए खेत्ते ।।१६५।।

अर्थ—मुख और भूमि के योग को आधा करके पुनः ऊँचाई से गुणा करने पर वेत्रासन सदृश लोक (अधोलोक) का क्षेत्रफल जानना चाहिए ।।१६५।।

विशेषार्थ—अधोलोक का मुख एक राजू और भूमि सात राजू है, इन दोनों के योग को दो से भाजित कर ७ राजू ऊँचाई से गुणित करने पर अधोलोक का क्षेत्रफल प्राप्त होता है। यथा—१ + ७ = ८, ८ ÷ २ = ४, ४ × ७ राजू ऊँचाई = २८ वर्ग राजू अधोलोक का क्षेत्रफल प्राप्त होता है।

पूर्ण अधोलोक एवं उसके अर्धभाग के घनफल का प्रमाण

हेट्ठिम-लोए लोओ, चउ-गुणिदो सग-हिदो य विंदफलं ।
तस्सद्धं[3] सयल-जगो, दो-गुणिदो [4]सत्त-पविहत्तो ।।१६६।।

$\left| \frac{\equiv}{७} ४ \right| \frac{\equiv}{७} २ \left. \right|$

१. द. मेत्ता अ उच्छेहो । २. द. ब. समासमद्दिय । ३. ब. तस्सद्धे सयल-जुदागो । ४. द. ब. क. ज. ठ. सत्तपरिमाणो ।

अर्थ—लोक को चार से गुणित कर उसमें सात का भाग देने पर अधोलोक के घनफल का प्रमाण निकलता है और सम्पूर्ण लोक को दो से गुणित कर प्राप्त गुणनफल मे सात का भाग देने पर अधोलोक सम्बन्धी आधे क्षेत्र का घनफल होता है ॥१६६॥

विशेषार्थ—लोक का प्रमाण ३४३ घनराजू है, अत· ३४३ × ४ = १३७२, १३७२ ÷ ७ = १९६ घनराजू अधोलोक का घनफल है।

३४३ × २ = ६८६, ६८६ ÷ ७ = ९८ घनराजू अर्धअधोलोक का घनफल है।

अधोलोक में त्रसनाली का घनफल

छेत्तूणं तस-णालिं, अण्णत्थं ठाविदूण विदफलं ।
आणेज्ज तप्पमाणं, उणवण्णेहिं विहत्त-लोअ-समं ॥१६७॥

| ≡ / ४९ |

अर्थ—अधोलोक में से त्रसनाली को छेदकर और उसे अन्यत्र रखकर उसका घनफल निकालना चाहिए। इस घनफल का प्रमाण, लोक के प्रमाण मे उनचास का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना होता है ॥१६७॥

विशेषार्थ—अधोलोक में त्रसनाली एक राजू चौड़ी, एक राजू मोटी और सात राजू ऊँची है, अत १ × १ × ७ = ७ घनराजू घनफल प्राप्त हुआ जो ३४३ ÷ ४९ = ७ घनराजू के बराबर है।

त्रसनाली से रहित और उससे सहित अधोलोक का घनफल

सगवीस-गुणिद-लोओ, उणवण्ण-हिदो अ सेस-खिदि-संखा ।
तस-खित्ते सम्मिलिदे, चउ-गुणिदो सग-हिदो लोओ ॥१६८॥

| ≡ / ४९ २७ | ≡ / ७ ४ |[1]

अर्थ—लोक को सत्ताईस से गुणा कर उसमे उनचास का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना त्रसनाली को छोड़ शेष अधोलोक का घनफल समझना चाहिए और लोकप्रमाण को चार से गुणा कर

---

१. द. ≡ / ४९ | ≡ / २७ ४ |

उसमें सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना त्रसनाली से युक्त पूर्ण अधोलोक का घनफल समझना चाहिए ॥१६८॥

विशेषार्थ--३४३ × २७ ÷ ४९ = १८९ घनफल, त्रसनाली को छोड़कर शेष अधोलोक का कहा गया है और सम्पूर्ण अधोलोक का घनफल ३४३ × ४ ÷ ७ = १९६ घनराजू कहा गया है।

ऊर्ध्वलोक के आकार को अधोलोक स्वरूप करने की प्रक्रिया एवं आकृति

मुरजायारं उड्ढं, खेत्तं छेत्तूण मेलिदं सयलं।
पुव्वावरेण जायदि, वेत्तासण-सरिस-संठाणं[1] ॥१६९॥

अर्थ—मृदंग के आकार वाला सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक है। उसे छेदकर एवं मिलाकर पूर्व-पश्चिम से वेत्रासन के सदृश अधोलोक का आकार बन जाता है ॥१६९॥

विशेषार्थ—अधोलोक का स्वाभाविक आकार वेत्रासन सदृश अर्थात् नीचे चौड़ा और ऊपर सँकरा है, किन्तु इस गाथा में मृदंगाकार ऊर्ध्वलोक को छेदकर इस क्रम से मिलाना चाहिए कि वह भी अधोलोक के सदृश वेत्रासनाकार बन जावे। यथा—

१. द. ब ज. क. ठ. संठाणा।
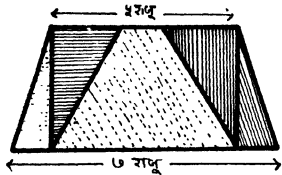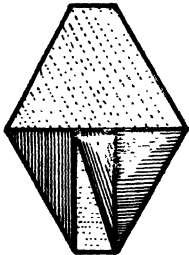
ऊर्ध्वलोक के व्यास एवं ऊँचाई का प्रमाण

सेढीए सत्त-भागो, उवरिम-लोयस्स होदि मुह-वासो ।
पण-गुणिदो तब्भूमी, उस्सेहो तस्स इगि-सेढी ॥१७०॥

। ७ । ७ ५ ।

अर्थ—ऊर्ध्वलोक के मुख का व्यास जगच्छ्रेणी का सातवाँ भाग है और इससे पांच गुणा (५ राजू) उसकी भूमि का व्यास तथा ऊँचाई एक जगच्छ्रेणी प्रमाण है ॥१७०॥

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक के समीप एक राजू, मध्य में ५ राजू और ऊपर एक राजू चौडा एवम् ७ राजू ऊँचा है।

सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक और उसके अर्धभाग का घनफल

तिय-गुणिदो सत्त-हिदो, उवरिम-लोयस्स घणफलं लोओ ।
तस्सद्धे खेत्तफलं, तिगुणो चोद्दस-हिदो लोओ ॥१७१॥

| ≡ ३ | ≡ ३ |
| ७ | १४ |

अर्थ—लोक को तीन से गुणा करके उसमें सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना ऊर्ध्वलोक का घनफल है और लोक को तीन से गुणा करके उसमें चौदह का भाग देने पर लब्धराशि प्रमाण ऊर्ध्वलोक सम्बन्धी आधे क्षेत्र का घनफल होता है ॥१७१॥

विशेषार्थ—३४३ × ३ ÷ ७ = १४७ घन राजू ऊर्ध्वलोक का घनफल ।

३४३ × ३ ÷ १४ = ७३½ घन राजू अर्ध ऊर्ध्वलोक का घनफल ।

ऊर्ध्वलोक में त्रसनाली का घनफल

छेत्तूणं [1]तस-णालिं, [2]अण्णत्थं ठाविदूण [3]विदफलं ।
आणेज्ज तं पमाणं, उणवण्णेहिं विभत्त-लोयसमं ॥१७२॥

| ≡ |
| ४९ |

१ द तस्सणालि । २. द ब अण्णद्ध, ठ. अण्णट्ठ । ३ द क ज. ठ. विदुफल ।

अर्थ—ऊर्ध्वलोक से त्रसनाली को छेद कर और उसे अलग रख कर उसका घनफल निकाले। उस घनफल का प्रमाण ४९ से विभक्त लोक के बराबर होगा ।।१७२।।

३४३ ÷ ४९ = ७ घनराजू त्रसनाली का घनफल।

त्रस नाली रहित एवम् सहित ऊर्ध्वलोक का घनफल

विसदि-गुणिदो लोओ, उणवण्ण-हिदो य सेस-खिदि-संखा ।
तस - खेत्ते सम्मिलिदे, लोओ ति - गुणो अ सत्त - हिदो ।।१७३।।

| ≡ ४९ २० | ≡ ७ ३ |

अर्थ—लोक को बीस से गुणा कर उसमे ४९ का भाग देने पर त्रसनाली को छोड बाकी ऊर्ध्वलोक का घनफल तथा लोक को तिगुणा कर उसमे सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना त्रसनालीयुक्त पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल है ।।१७३।।

विशेषार्थ—३४३ × २० ÷ ४९ = १४० घनराजू त्रसनाली रहित ऊर्ध्वलोक का घनफल।

३४३ × ३ ÷ ७ = १४७ घनराजू त्रसनाली युक्त ऊर्ध्वलोक का घनफल।

सम्पूर्ण लोक का घनफल एव लोक के विस्तार-कथन की प्रतिज्ञा

घण-फलमुवरिम-हेट्ठिम-लोयाणं मेलिदम्मि सेढि-घणं ।
[1]वित्थर-रुइ-बोहत्थं[2], वोच्छं णाणा - वियप्पेहिं ।।१७४।।

अर्थ—ऊर्ध्व एवं अधोलोक के घनफल को मिला देने पर वह श्रेणी के घनप्रमाण (लोक) होता है। अब विस्तार मे अनुराग रखने वाले शिष्यो को समझाने के लिए अनेक विकल्पों द्वारा भी इसका कथन करता हूँ ।।१७४।।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक का घनफल १४७ + १९६ अधोलोक का = ३४३ घनराजू सम्पूर्ण लोक का घनफल है। अथवा

७ × ७ × ७ = ३४३ घनराजू, श्रेणी का घनफल है।

---

१. द. ब. क. ज ठ. वित्थररुहि । २. क. ज. ठ. बोहित्थ ।

अधोलोक के मुख एवम् भूमि का विस्तार तथा ऊँचाई

सेढीए सत्त-भागो, हेट्ठिम-लोयस्स होदि मुह-वासो ।
भू-वित्थारो सेढी, सेढि त्ति य [1]तस्स उच्छेहो ॥१७५॥

। ७ । — । — ।

अर्थ—अधोलोक का मुखव्यास श्रेणी के सातवें भाग अर्थात् एक राजू और भूमिविस्तार जगच्छ्रेणी प्रमाण (७ राजू) है, तथा उसकी ऊँचाई भी जगच्छ्रेणी प्रमाण ही है ॥१७५॥

विशेषार्थ—अधोलोक का मुख-व्यास एक राजू, भूमि सात राजू और ऊँचाई सात राजू प्रमाण है।

प्रत्येक पृथिवी के चय निकालने का विधान

भूमीअ मुहं सोहिय, उच्छेह-हिदं मुहाउ भूमीदो ।
सव्वेसुं खेत्तेसुं, पत्तेक्कं वड्ढि-हाणीओ ॥१७६॥

$\frac{६}{७}$

अर्थ—भूमि के प्रमाण मे से मुख का प्रमाण घटाकर शेष मे ऊँचाई के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना सब भूमियों में से प्रत्येक पृथिवी क्षेत्र की, मुख की अपेक्षा वृद्धि और भूमि की अपेक्षा हानि का प्रमाण निकलता है ॥१७६॥

विशेषार्थ—आदिप्रमाण का नाम भूमि, अन्तप्रमाण का नाम मुख तथा क्रम से घटने का नाम हानिचय और क्रम से वृद्धि का नाम वृद्धिचय है।

मुख और भूमि मे जिसका प्रमाण अधिक हो उसमे से हीन प्रमाण को घटाकर ऊँचाई का भाग देने से भूमि और मुख की हानिवृद्धि का चय प्राप्त होता है। यथा—भूमि ७—१, मुख = ६ ÷ ७ ऊँचाई = $\frac{६}{७}$ वृद्धि और हानि के चय का प्रमाण हुआ।

प्रत्येक पृथिवी के व्यास का प्रमाण निकालने का विधान

तक्खय-वड्ढि-पमाणं, णिय-णिय-उदया-हदं जइच्छाए ।
हीणब्भहिए संते[2], वासाणि हवंति भू-मुहाहिंतो ॥१७७॥

$\frac{४२}{४९}$ ६ ।[3]

---

१. द. क ज. ठ. सत्त। २ द ब मन्ते। ३. द ब $\frac{४२}{४९}$ ६।

अर्थ—विवक्षित स्थान में अपनी-अपनी ऊँचाई से उस वृद्धि और क्षय के प्रमाण [$\frac{६}{७}$] को गुणा करके जो गुणनफल प्राप्त हो, उसको भूमि के प्रमाण में से घटाने पर अथवा मुख के प्रमाण में जोड़ देने पर व्यास का प्रमाण निकलता है ।।१७७।।

विशेषार्थ—कल्पना कीजिये कि यदि हमें भूमि की अपेक्षा चतुर्थ स्थान के व्यास का प्रमाण निकालना है तो हानि का प्रमाण जो छह बटे सात [$\frac{६}{७}$] है, उसे उक्त स्थान की ऊँचाई [३ रा०] से गुणा कर प्राप्त हुए गुणनफल को भूमि के प्रमाण में से घटा देना चाहिए । इस विधि से चतुर्थ स्थान का व्यास निकल आयेगा । इसी प्रकार मुख की अपेक्षा चतुर्थ स्थान के व्यास को निकालने के लिए वृद्धि के प्रमाण [$\frac{६}{७}$] को उक्त स्थान की ऊँचाई (४ राजू) से गुणा करके प्राप्त हुए गुणनफल को मुख में जोड़ देने पर विवक्षित स्थान के व्यास का प्रमाण निकल आयेगा ।

उदाहरण—$\frac{६}{७} \times ३ = \frac{१८}{७}$; भूमि $\frac{४९}{७} - \frac{१८}{७} = \frac{३१}{७}$ भूमि की अपेक्षा चतुर्थ स्थान का व्यास ।

$\frac{६}{७} \times ४ = \frac{२४}{७}$; $\frac{२४}{७}$ । मुख $\frac{७}{७} = \frac{३१}{७}$ मुख की अपेक्षा चतुर्थ स्थान का व्यास ।

अधोलोकगत सात क्षेत्रों का घनफल निकालने हेतु गुणकार एवं आकृति

[1]उणवण्ण-भजिद-सेढी, अट्ठे सु ठाणेसु[2] ठाविदूण कमे ।
[3]वासट्ठं [4]गुणआरा, सत्तादि-छक्क-वड्ढि-गदा ।।१७८।।

$_{४९}$७ । $_{४९}$१३ । $_{४९}$१९ । $_{४९}$२५ । $_{४९}$३१ । $_{४९}$३७ । $_{४९}$४३ । $_{४९}$४९ ।

सत्त-घण-हरिद-लोयं, सत्ते सु ठाणेसु ठाविदूण कमे ।
विदफले गुणयारा, दस-पभवा छक्क-वड्ढि-गदा ।।१७९।।

$\frac{\equiv}{३४३}$ १०	$\frac{\equiv}{३४३}$ १६	$\frac{\equiv}{३४३}$ २२	$\frac{\equiv}{३४३}$ २८	$\frac{\equiv}{३४३}$ ३४	$\frac{\equiv}{३४३}$ ४०	$\frac{\equiv}{३४३}$ ४६

अर्थ—श्रेणी में उनचास का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसे क्रमशः आठ जगह रखकर व्यास के निमित्त गुणा करने के लिए आदि में गुणकार सात हैं । पुनः इसके आगे क्रमशः छह-छह गुणकार की वृद्धि होती गई है ।।१७८।।

श्रेणीप्रमाण राजू ७; यहाँ ऊपर से नीचे तक प्राप्त पृथिवियों के व्यास क्रमशः $\frac{७}{४९} \times ७$; $\frac{७}{४९} \times १३$; $\frac{७}{४९} \times १९$; $\frac{७}{४९} \times २५$; $\frac{७}{४९} \times ३१$; $\frac{७}{४९} \times ३७$; $\frac{७}{४९} \times ४३$; $\frac{७}{४९} \times ४९$ ।।१७८।।

१. ब. उणवणमज्जिद । २. ब. ज. क. ठ. ठाणेण । ३. द. वासद्धं, म. वासत्तं । ४. ब. वासद्धं गुणआए ।

अर्थ - सात के घन अर्थात् तीन सौ नयालीस से भाजित लोक को क्रमशः सात स्थानों पर रखकर अधोलोक के सात क्षेत्रों में से प्रत्येक क्षेत्र का घनफल निकालने के लिए आदि में गुणकार दस और फिर इसके आगे क्रमशः छह-छह की वृद्धि होती गयी है ।।१७९।।

लोक का प्रमाण ३४३, ३४३ ÷ (७)³ = १; तथा उपर्युक्त सात पृथिवियों के घनफल क्रमशः १ × १०, १ × १६, १ × २२; १ × २८, १ × ३४, १ × ४० और १ × ४६ घन राजू प्राप्त होंगे ।।१७९।।

विशेषार्थ—(दोनों गाथाओं का) अधोलोक मे सात पृथ्वियाँ है और एक भूमिक्षेत्र लोक की अन्तिम सीमा का है, इस प्रकार आठों स्थानों का व्यास प्राप्त करने के लिए श्रेणी (७) में ४९ का भाग देकर अर्थात् $\frac{७}{४९}$ को क्रमशः ७, (७ + ६) = १३, (१३ + ६) = १९, (१९ + ६) = २५, (२५ + ६) = ३१, (३१ + ६) = ३७, (३७ + ६) = ४३ और (४३ + ६) = ४९ से गुणित करना चाहिए ।

उपर्युक्त आठ व्यासो के मध्य मे ७ क्षेत्र प्राप्त होते हैं । इन क्षेत्रों का घनफल निकालने के लिए ३४३ से भाजित लोक अर्थात् $(\frac{३४३}{३४३})$ = १ को सात स्थानो पर स्थापित कर क्रमशः १०, १६, २२, २८, ३४, ४० और ४६ से गुणा करना चाहिए, यथा—

पृथ्वियों के घनफल :
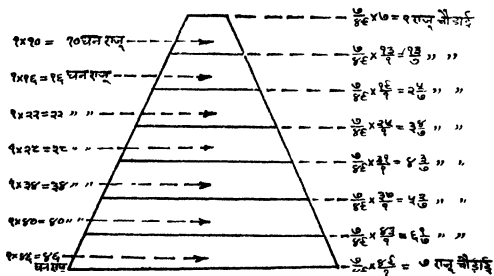
पूर्व-पश्चिम से अधोलोक की ऊँचाई प्राप्त करने का विधान एवं उसकी आकृति

उदओ हवेदि पुव्वावरेहि लोयंत-उभय-पासेसु ।
ति-दु-इगि-रज्जु-पवेसे, सेढी दु-ति- [1]भाग-तिद-सेढीओ ।।१८०।।
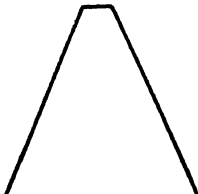
अर्थ – पूर्व और पश्चिम से लोक के अन्त के दोनों पार्श्वभागों में तीन, दो और एक राजू प्रवेश करने पर ऊँचाई क्रमशः एक जगच्छ्रेणी, श्रेणी के तीन भागों में से दो-भाग और श्रेणी के तीन भागों में से एक भाग मात्र है ।।१८०।।

विशेषार्थ – पूर्व दिशा सम्बन्धी लोक के अन्तिम छोर से पश्चिम की ओर ३ राजू जाकर यदि उस स्थान में लोक की ऊँचाई मापी जाय तो ऊँचाइयाँ क्रमश जगच्छ्रेणी प्रमाण अर्थात् ७ राजू, दो राजू जाकर मापी जाय तो $\frac{१४}{३}$ राजू और यदि एक राजू जाकर मापी जाय तो $\frac{७}{३}$ राजू प्राप्त होगी।

पश्चिम दिशा सम्बन्धी लोकान्त से पूर्व की ओर चलने पर भी लोक की यही ऊँचाइयाँ प्राप्त होंगी।

शंका—दो राजू आगे जाकर लोक की ऊँचाई $\frac{१४}{३}$ राजू प्राप्त होती है, यह कैसे जाना

---

१ [दुतिभागतिदियसेढीओ] । २ क. प्रति में :

समाधान— ३ राजू दूरी पर जब ऊँचाई ७ राजू है, तब दो राजू दूरी पर कितनी ऊँचाई प्राप्त होगी ? इस त्रैराशिक नियम से जानी जाती है। यथा—
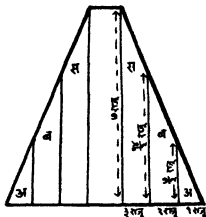
त्रिकोण एवं लम्बे बाहु युक्त क्षेत्र के घनफल निकालने की विधि एव उसका प्रमाण

भुज-पडिभुज-मिलिदद्धं, विंदफलं वासमुदय-वेद-हदं।
[1]एक्कायदत्त - बाहू, वासद्ध - हदा य वेद - हदा ॥१८१॥

अर्थ—[१] भुजा और प्रतिभुजा को मिलाकर आधा करने पर जो व्यास हो, उसे ऊँचाई और मोटाई से गुणा करना चाहिए। ऐसा करने से त्रिकोण क्षेत्र का घनफल निकल आता है।

[२] एक लम्बे बाहु को व्यास के आधे से गुणा कर पुन. मोटाई से गुणा करने पर एक लम्बे बाहु-युक्त क्षेत्र के घनफल का प्रमाण आता है ॥१८१॥

विशेषार्थ— गा० १८० के विशेषार्थ के चित्रण मे "स" नामक विषम चतुर्भुज मे ७ राजू लम्बी रेखा का नाम भुजा और $\frac{14}{3}$ राजू लम्बी रेखा का नाम प्रतिभुजा है। इन दोनो का जोड $(\frac{7}{1}+\frac{14}{3})=\frac{35}{3}$ राजू है। इसको आधा करने पर $(\frac{35}{3}\times\frac{1}{2})=\frac{35}{6}$ राजू प्राप्त होते है। इनमे ऊँचाई और मोटाई का गुणा कर देने पर $(\frac{35}{6}\times\frac{1}{1}\times\frac{7}{1})=\frac{245}{6}$ अर्थात् ४० $\frac{5}{6}$ घनराजू "स" नामक विषम चतुर्भुज का घनफल है।

इसी प्रकार "ब" चतुर्भुज का घनफल भी प्राप्त होगा। यथा : $\frac{14}{3}$ राजू भुजा + $\frac{7}{3}$ राजू प्रतिभुजा $=\frac{21}{3}$ राजू। तत्पश्चात् घनफल $=\frac{21}{3}\times\frac{1}{2}\times\frac{1}{1}\times\frac{7}{1}=\frac{147}{6}$ अर्थात् २४$\frac{1}{2}$ घनराजू "ब" नामक विषम चतुर्भुज का घनफल प्राप्त होता है। यही घनफल गाथा १८२ में दर्शाया गया है।

१. द एक्कायजत्त, ज. क. ठ. एक्कायसत्त।

"अ" क्षेत्र त्रिकोणाकार है अतः उसमे प्रतिभुजा का अभाव है। अ क्षेत्र की भुजा की लम्बाई $\frac{७}{३}$ राजू और क्षेत्र का व्यास एक राजू है। लम्बायमान बाहु ($\frac{७}{३}$) को व्यास के आधे ($\frac{१}{२}$) से और मोटाई से गुणित कर देने पर लम्बे बाहु युक्त त्रिकोण क्षेत्र का क्षेत्रफल प्राप्त हो जाता है। यथा : $\frac{७}{३} \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{१} = \frac{४९}{६}$ अर्थात् $८\frac{१}{६}$ घनराजू "अ" त्रिकोण क्षेत्र का घनफल प्राप्त हुआ। यही क्षेत्रफल गाथा १८२ मे दर्शाया गया है।

अभ्यन्तर क्षेत्रो का घनफल

बावाल-हरिद-लोओ, बिदफलं चोद्दसावहिद-लोओ।
तब्भंतर-खेत्ताणं, पण-हद-लोओ दुदाल-हिदो ॥१८२॥

$$\left| \frac{\equiv}{४२} \right| \frac{\equiv}{१४} \left| \frac{\equiv}{४२} ५ \right|$$

अर्थ—लोक को बयालीस से भाजित करने पर, चौदह से भाजित करने पर और पाँच से गुणित एवं बयालीस से भाजित करने पर क्रमशः (अ ब.स.) अभ्यन्तर क्षेत्रो का घनफल निकलता है ॥१८२॥

विशेषार्थ—$३४३ \div ४२ = ८\frac{१}{६}$ घनराजू "अ" क्षेत्र का घनफल।

$३४३ \div १४ = २४\frac{१}{२}$ घनराजू "ब" क्षेत्र का घनफल।

$३४३ \times ५ \div ४२ = ४०\frac{५}{६}$ घनराजू "स" क्षेत्र का घनफल।

नोट—इन तीनो घनफलो का चित्रण गाथा १८० के विशेषार्थ मे और प्रक्रिया गा० १८१ के विशेषार्थ मे दर्शा दिये गये है।

सम्पूर्ण अधोलोक का घनफल

एवं खेत्त-पमाणं, मेलिद सयलं पि दु-गुणिदं कादुं।
मज्झिम-खेत्ते मिलिदे, [1]चउ-गुणिदो सग-हिदो लोओ ॥१८३॥

$$\left| \frac{\equiv}{७} ४ \right|^{२}$$

१. द. ब. क. ज. ठ. चउगुणिदे सगहिदे। २. ब. $\frac{\equiv}{७} ४ \left| \frac{\equiv}{७} \right| ७ |$

अर्थ—उपर्युक्त घनफलो को मिला कर और सकल को दुगुना कर इसमे मध्यम क्षेत्र के घनफल को जोड़ देने पर चार से गुणित और सात से भाजित लोक के बराबर सम्पूर्ण अधोलोक के घनफल का प्रमाण निकल आता है ॥१८३॥

विशेषार्थ—गा० १८० के चित्रण मे अ, ब और स नाम के दो-दो क्षेत्र हैं, अत: $८\frac{१}{२}$ + $२४\frac{१}{२}$ + $४०\frac{१}{२}$ = $७३\frac{१}{२}$ घनराजू मे २ का गुणा करने से ($७३\frac{१}{२}$ × २) = १४७ घनराजू प्राप्त हुआ। इसमे मध्य क्षेत्र का (७ × १ × ७) = ४९ घनराजू जोड देने से (१४७ + ४९) = १९६ घनराजू पूर्ण अधोलोक का घनफल प्राप्त हुआ, जो संदृष्टि रूप ३४३ × ४ — ७ घनराजू के बराबर है।

लघु भुजाओं के विस्तार का प्रमाण निकालने का विधान एवं आकृति

रज्जुस्स सत्त-भागो, तिय-छ दु-पंचेक्क-चउ-सगेहिं हदा।
खुल्लय-भुजाण रुंदा, वंसादी थंभ-बाहिरए ॥१८४॥

$\frac{३}{७}$ । $\frac{६}{७}$ । $\frac{२}{७}$ । $\frac{५}{७}$ । $\frac{१}{७}$ । $\frac{४}{७}$ । $\frac{७}{७}$ ।

अर्थ—राजू के सातवे भाग को क्रमश तीन, छह, दो, पाँच, एक, चार और सात से गुणित करने पर वंशा आदिक मे स्तम्भो के बाहर छोटी भुजाओं के विस्तार का प्रमाण निकलता है ॥१८४॥

विशेषार्थ—सात राजू चौडे और सात राजू ऊँचे अधोलोक मे एक-एक राजू के अन्तराल से जो ऊँचाई-रूप रेखाएँ डाली जाती है, उन्हे स्तम्भ कहते हैं। स्तम्भो के बाहर वाली छोटी भुजाओं का प्रमाण प्राप्त करने के लिए राजू के सातवे ($\frac{१}{७}$) भाग को तीन, छह, दो, पाँच, एक चार और सात से गुणित करना चाहिए। इसकी सिद्धि इस प्रकार है—

अधोलोक नीचे सात राजू और ऊपर एक राजू चौडा है। भूमि (७ राजू) मे से मुख घटा देने पर (७—१ =) ६ राजू की वृद्धि प्राप्त होती है। जब ७ राजू पर ६ राजू की वृद्धि होती है तब एक राजू पर $\frac{६}{७}$ राजू की वृद्धि होगी। प्रथम पृथिवी की चौडाई $\frac{७}{७}$ अर्थात् एक राजू और दूसरी पृथिवी की ($\frac{७}{७}$ + $\frac{६}{७}$ =) $\frac{१३}{७}$ राजू है। इसी प्रकार तृतीय आदि शेष पृथ्वियो की चौडाई क्रमश $\frac{१९}{७}$, $\frac{२५}{७}$, $\frac{३१}{७}$, $\frac{३७}{७}$ और $\frac{४३}{७}$ राजू है (यह चौडाई गा० १७८, १७९ के चित्रण मे दर्शायी गयी है), अधोलोक की भूमि अन्त मे $\frac{४९}{७}$ अर्थात सात राजू है। दूसरी और तीसरी पृथिवी के मुखो मे से बीच (त्रसनाली) का एक-एक राजू कम कर देने पर क्रमश $\frac{६}{७}$ और $\frac{१२}{७}$ राजू अवशेष रहता है, इसका आधा कर देने पर प्रत्येक दिशा मे $\frac{३}{७}$ और $\frac{६}{७}$ राजू बाहर का क्षेत्र रहता है। चौथी-पाँचवी पृथ्वियो के मुखो मे से बीच के तीन अर्थात् $\frac{२१}{७}$ राजू घटा देने पर शेष ($\frac{२५}{७}$ — $\frac{२१}{७}$) = $\frac{४}{७}$ और ($\frac{३१}{७}$ — $\frac{२१}{७}$) = $\frac{१०}{७}$ राजू

शेष रहता है, इनका आधा करने पर प्रत्येक दिशा मे बाह्य छोटी भुजा का विस्तार क्रमश: $\frac{३}{७}$ और $\frac{५}{७}$ राजू रहता है। ६ ठी और ७ वी पृथ्वियो के मुखां तथा लोक के अन्त में से पांच-पांच राजू निकाल देने पर क्रमश· $(\frac{३७}{७} - \frac{३५}{७}) = \frac{२}{७}$, $(\frac{४३}{७} - \frac{३५}{७}) = \frac{८}{७}$ और $(\frac{४९}{७} - \frac{३५}{७}) = \frac{१४}{७}$ राजू अवशेष रहता है। इनमें से प्रत्येक का आधा करने पर एक दिशा में बाह्य छोटी भुजा का विस्तार क्रमश: $\frac{१}{७}$, $\frac{४}{७}$ और $\frac{७}{७}$ राजू प्राप्त होता है, इसीलिए इस गाथा में $\frac{१}{७}$ को तीन आदि से गुणित करने को कहा गया है। यथा—
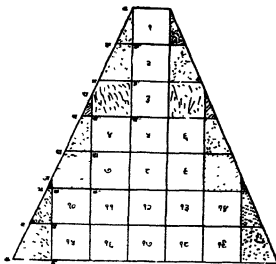
उपर्युक्त चित्रण में —ख खं = $\frac{३}{७}$
ग गं = $\frac{६}{७}$
च चं = $\frac{२}{७}$
छ छं = $\frac{५}{७}$
झ झं = $\frac{१}{७}$
ट टं = $\frac{४}{७}$
ठ ठं = $\frac{७}{७}$

लोयंते रज्जु-घणा, पंच च्चिय अद्ध-भाग-संजुत्ता।
सत्तम-खिदि-पज्जंता, अड्ढाइज्जा हवंति फुडं ॥१८५॥

| ≡ ११ | ≡ ५ |
| ३४३ । २ | ३४३। २ |

अर्थ—लोक के अन्त तक अर्धभाग सहित पांच ($५\frac{१}{२}$) घनराजू और सातवीं पृथिवी तक ढ़ाई घनराजू प्रमाण घनफल होता है ॥१८५॥

$$[(\frac{७}{७}+\frac{४}{७})\div२\times१\times७]=\frac{११}{२}$$ घनराजू; $$[(\frac{४}{७}+\frac{१}{७})\div२\times१\times७]=\frac{५}{२}$$ घनराजू।

विशेषार्थ—गाथा १८४ के चित्रण में ट ठ ठं टं क्षेत्र का घनफल निम्नलिखित प्रकार से है—

लोक के अन्त में ठ ठं भुजा का प्रमाण $\frac{७}{७}$ राजू है और सप्तम पृथिवी पर ट टं भुजा का प्रमाण $\frac{४}{७}$ राजू है। यहाँ गा० १८१ के नियमानुसार भुजा ($\frac{७}{७}$) और प्रतिभुजा ($\frac{४}{७}$) का योग ($\frac{७}{७}+\frac{४}{७}$)$=\frac{११}{७}$ राजू होता है, इसका आधा ($\frac{११}{७}\times\frac{१}{२}$)$=\frac{११}{१४}$ हुआ। इसको एक राजू व्यास और सात राजू मोटाई से गुणित करने पर ($\frac{११}{१४}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}$)$=\frac{११}{२}$ अर्थात् $५\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

सप्तम पृथिवी पर झ ट टं झं क्षेत्र का घनफल भी इसी भाँति है—भुजा ट टं $\frac{४}{७}$ राजू है और प्रतिभुजा झ झं $\frac{१}{७}$ राजू है। इन दोनों भुजाओं का योग ($\frac{४}{७}+\frac{१}{७}$)$=\frac{५}{७}$ राजू हुआ। इसका अर्ध करने पर ($\frac{५}{७}\times\frac{१}{२}$)$=\frac{५}{१४}$ राजू प्राप्त होता है। इसे एक राजू व्यास और ७ राजू मोटाई से गुणित करने पर ($\frac{५}{१४}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}$)$=\frac{५}{२}$ अर्थात् $२\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

उभयेसिं परिमाणं, बाहिम्मि अब्भंतरम्मि रज्जु-घणा।
छट्ठुक्खिदि - पेरंता, तेरस दोरूव - परिहत्ता ॥१८६॥

$$\left|\frac{\equiv}{३४३}\;।\;\frac{१३}{२}\right|$$

बाहिर-छब्भाएसुं[1], अवणीदेसुं हवेदि अवसेसं[2] ।
स-तिभाग-छक्क-मेत्तं, तं चिय अब्भंतरं खेत्तं ॥१८७॥

$$\left|\frac{\equiv}{३४३}\;।\;\frac{१}{६}\right|\frac{\equiv}{३४३}\;।\;\frac{३८}{६}\Big|^{3}$$

अर्थ—छठी पृथिवी तक बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्रों का मिश्रघनफल दो से विभक्त तेरह घनराजू प्रमाण है ॥१८६॥

$$[(\frac{८}{७}+\frac{५}{७})\div२\times१\times७]=\frac{१३}{२}$$ घनराजू।

१. द. ब. क. ज. ठ. बाहिरछब्भासेसुं। २. द. ब. अवसेसुं। ३. द. ब. $\frac{\equiv}{३४३}\Big|\frac{६}{\frac{१}{३}}$

अर्थ—छठी पृथिवी तक जो बाह्यक्षेत्र का घनफल एक बटे छह ($\frac{१}{६}$) घनराजू होता है, उसे उपर्युक्त दोनों क्षेत्रों के जोड़ रूप घनफल ($\frac{१३}{२}$ घनराजू) में से घटा देने पर शेष एक त्रिभाग ($\frac{१}{३}$) सहित छह घनराजू प्रमाण अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल समझना चाहिए ॥१८७॥

($\frac{१}{७}$ ÷ २) × $\frac{१}{३}$ × ७ = $\frac{१}{६}$ घन रा० बाह्यक्षेत्र का घनफल।

$\frac{१३}{२}$ — $\frac{१}{६}$ = $\frac{३८}{६}$ घनराजू अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल ।

विशेषार्थ—छठी पृथिवी पर छ ज झ झे झ' छं बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्र से मिश्रित क्षेत्र का घनफल इस प्रकार है—

झ झ = $\frac{१}{७}$ और झे झे' = $\frac{४}{७}$ है, अतः झ झे' = ($\frac{१}{७}$ + $\frac{४}{७}$) = $\frac{५}{७}$ होता है। और छ छे = $\frac{८}{७}$ है, इन दोनों भुजाओं का योग ($\frac{५}{७}$ + $\frac{८}{७}$) = $\frac{१३}{७}$ राजू हुआ। इसमें पूर्वोक्त क्रिया करने पर ($\frac{१३}{७}$ × $\frac{१}{२}$ × $\frac{१}{१}$ × $\frac{७}{१}$) = $\frac{१३}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है। इसमे से बाह्य त्रिकोण क्षेत्र ज झ झे का घनफल ($\frac{१}{७}$ × $\frac{१}{२}$ × $\frac{१}{३}$ ऊँ × ७) = $\frac{१}{६}$ घनराजू घटा देने पर छ ज झे झे' छे अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल ($\frac{१३}{२}$ — $\frac{१}{६}$) = $\frac{३८}{६}$ अर्थात ६$\frac{१}{३}$ घनराजू प्राप्त होता है।

आहुट्ठं रज्जु-घणं, धूम-पहाए समासमुद्दिट्ठं ।
पंकाए चरिमंते, इगि-रज्जु-घणा ति-भागूणं ॥१८८॥

| ≡ / ३४३ । $\frac{७}{२}$ | ≡ / ३४३ । $\frac{२}{३}$ |

रज्जु-घणा सत्तच्चिय, छब्भागूणा चउत्थ-पुढवीए ।
अब्भंतरम्मि भागे, खेत्त-फलस्स-प्पमाणमिदं ॥१८९॥

| ≡ / ३४३ । $\frac{४१}{६}$ |

अर्थ—धूमप्रभा पर्यन्त घनफल का जोड़ साढ़े-तीन घनराजू बतलाया गया है और पंकप्रभा के अन्तिम भाग तक एक त्रिभाग ($\frac{१}{३}$) कम एक घनराजू प्रमाण घनफल है ॥१८८॥

[($\frac{४}{७}$ + $\frac{३}{७}$) ÷ २ × १ × ७] = $\frac{७}{२}$ घन रा०; ($\frac{२}{७}$ ÷ २) × $\frac{२}{३}$ × ७ = $\frac{२}{३}$ घ० रा० बाह्यक्षेत्र का घनफल।

अर्थ—चौथी पृथिवी पर्यन्त अभ्यन्तर भाग में घनफल का प्रमाण एक बटे छह ($\frac{१}{६}$) कम सात घनराजू है ॥१८९॥

$\left[\left(\frac{६}{७}+\frac{६}{७}\right)-२\times१\times७\right]\div\frac{३}{३}=\frac{४२}{२}$ घनराजू अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल।

विशेषार्थ– पाँचवी पृथिवी पर च छ छ चे क्षेत्र का घनफल इस प्रकार है– भुजा छ छे $\frac{५}{७}$ और प्रतिभुजा च चे $\frac{३}{७}$ है, दोनो का योग $\left(\frac{५}{७}+\frac{३}{७}\right)=\frac{८}{७}$ है। इसपे पूर्वोक्त क्रिया करने पर $\left(\frac{८}{७}\times\frac{१}{२}\times१\times७\right)=\frac{८}{२}$ अर्थात् $३\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल पचम पृथिवी का प्राप्त होता है।

चौथी पृथिवी पर ग घ च चे चे` गे बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्र से मिश्रित क्षेत्र का (बाह्य क्षेत्र का एव अभ्यन्तर क्षेत्र का भिन्न-भिन्न) घनफल इस प्रकार है—च चे $=\frac{३}{७}$ और चे चे` $=\frac{७}{७}$ है, अतः $\left(\frac{७}{७}+\frac{३}{७}\right)=\frac{६}{७}$ भुजा है तथा ग गे $=\frac{६}{७}$ प्रतिभुजा है। $\frac{६}{७}+\frac{६}{७}=\frac{१५}{७}$ राजू प्राप्त हुआ। $\frac{१५}{७}\times\frac{१}{२}\times१\times७=\frac{१५}{२}$ घनराजू बाह्याभ्यन्तर दोनो का मिश्रघनफल होता है। इसमे से बाह्य त्रिकोण क्षेत्र का घनफल $\left(\frac{३}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{३}{३}\text{ ऊँ० }\times७\right)=\frac{३}{३}$ घनराजू घटा देने पर $\left(\frac{१५}{२}-\frac{३}{३}\right)=\frac{४१}{२}$ घनराजू ग घ चे चे` गे अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है।

रज्जु घणद्धं णव-हद-तदियं[1]-खिदीए दुइज्ज-भूमीए।
होदि दिवड्ढा एदो, मेलिय दुगुण घणो कुज्जा ॥१९०॥

| ≡/३४३ ९/२ | ≡/३४३ | ३/२ |

मेलिय दुगुणिदे ≡/३४३ ९३ |

[2]तेत्तीसब्भहिय-सय, सयलं खेत्ताण सव्व-रज्जुघणा।
ते ते सव्वे मिलिदा, दोण्णि सया होंति चउ-हीणा ॥१९१॥

| ≡/३४३ १३३ | मिलिदे | ≡/३४३ १९६ |

अर्थ—अर्ध $\left(\frac{१}{२}\right)$ घनराजू को नौ से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो, उतना तीसरी पृथिवी-पर्यन्त क्षेत्र के घनफल का प्रमाण है और दूसरी पृथिवी पर्यन्त क्षेत्र का घनफल डेढ घनराजू प्रमाण है। इन सब घनफलो को जोडकर दोनो तरफ का घनफल लाने के लिए उसे दुगुना करना चाहिए ॥१९०॥

$\left[\left(\frac{६}{७}+\frac{३}{७}\right)\div२\times१\times७\right]=\frac{९}{२}$ घ०रा० ; $\frac{३}{७}\div२\times१\times७=\frac{३}{२}$ घनराजू।

योग— $\frac{२१}{२}+\frac{५}{२}+\frac{१}{२}+\frac{३८}{२}+\frac{५}{२}+\frac{३}{२}+\frac{४१}{२}+\frac{६}{२}+\frac{३}{२}=\frac{१९८}{२}$

$\frac{१९८}{२}\times\frac{२}{१}=\frac{१९८}{}$ ९३ घनराजू।

1. द. ब तदीय। 2. ब. तेत्तीसमब्भहियछेत्ताण। द ज. क ठ. तेत्तीमब्भहिय मय मयछेत्ताग।

अर्थ—उपर्युक्त घनफल को दुगुना करने पर दोनो (पूर्व-पश्चिम) तरफ का कुल घनफल त्रेसठ घनराजू प्रमाण होता है। इसमे सब अर्थात् पूर्ण एक राजू प्रमाण विस्तार वाले समस्त (१९) क्षेत्रो का घनफल जो एक सौ तेतीस घनराजू है, उसे जोड देने पर चार कम दो सौ अर्थात् एक सौ छयानवै घनराजू प्रमाण कुल अधोलोक का घनफल होता है ॥१९१॥

६३ + १३३ = १९६ घनराजू।

विशेषार्थ—तीसरी पृथिवी पर ख ग गे खे क्षेत्र का घनफल -(भुजा ग गे = $\frac{५}{७}$) + ($\frac{३}{७}$ ख खें प्रतिभुजा) = $\frac{८}{७}$ तथा घनफल = $\frac{८}{७} \times \frac{१}{२} \times १ \times ७ = \frac{८}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

दूसरी पृथिवी पर क ख खे एक त्रिकोण है। इसमे प्रतिभुजा का अभाव है। भुजा - ख खें = $\frac{३}{७}$ तथा घनफल = $\frac{३}{७} \times \frac{१}{२} \times १ \times ७ = \frac{३}{२}$ अर्थात् $१\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

इन सब घनफलो को जोडकर दोनो ओर का घनफल प्राप्त करने के लिए उसे दुगुना करना चाहिए। यथा -

$$\frac{३३}{६} + \frac{१५}{६} + \frac{१}{६} + \frac{३८}{६} + \frac{२१}{६} + \frac{६}{६} + \frac{४१}{६} + \frac{२७}{६} + \frac{९}{६}$$

$$= \frac{३३ + १५ + १ + ३८ + २१ + ६ + ४१ + २७ + ९}{६} \quad \frac{१८९}{६} \times \frac{२}{१} = \frac{३७८}{६} = ६३ \text{ घनराजू}$$

अर्थात् दोनो पार्श्वभागो मे बनने वाले सम्पूर्ण विषम चतुर्भुजो और त्रिकोणो का घनफल ६३ घनराजू प्रमाण है। इसमे एक राजू ऊँचे, एक राजू चौडे और सात राजू मोटे १९ क्षेत्रो का घनफल = (१९ × १ × १ × ७) = १३३ घनराजू और जोड देने पर अधोलोक का सम्पूर्ण घनफल (१३३ + ६३) = १९६ घनराजू प्राप्त हो जाता है।

ऊर्ध्वलोक के मुख तथा भूमि का विस्तार एव ऊँचाई

एक्केक्क-रज्जु-मेत्ता, उवरिम-लोयस्स होंति मुह-वासा।
हेट्ठोवरि भू-वासा, पण रज्जू सेढि-अद्धमुच्छेहो ॥१९२॥

उ। उ। भू। उ५। ३। ३।

अर्थ—ऊर्ध्वलोक के अधो और ऊर्ध्व मुख का विस्तार एक-एक राजू, भूमि का विस्तार पाँच राजू और ऊँचाई (मुख से भूमि तक) जगच्छ्रेणी के अर्धभाग अर्थात् साढे तीन राजू-मात्र है ॥१९२॥

ऊर्ध्वलोक का ऊपर एवं नीचे मुख एक राजू, भूमि पाँच राजू और उत्सेध-भूमि से नीचे ३½ राजू तथा ऊपर भी ३½ राजू है।

ऊर्ध्वलोक में दश स्थानों के व्यासार्थ चय एवं गुणकारों का प्रमाण

भूमीए मुहं सोहिय, उच्छेह-हिदं मुहादु भूमीदो।
खय-वड्ढीण पमाणं, अड-रूवं सत्त-पविहत्तं[1] ॥१६३॥

$\frac{८}{७}$ |

अर्थ—भूमि में से मुख के प्रमाण को घटा कर शेष में ऊंचाई का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना प्रत्येक राजू पर मुख की अपेक्षा वृद्धि और भूमि की अपेक्षा हानि का प्रमाण होता है। वह प्रमाण सात से विभक्त आठ अंक मात्र अर्थात् आठ बटे सात राजू होता है ॥१६३॥

ऊर्ध्वलोक में भूमि ५ राजू, मुख एक राजू और ऊँचाई ३½ अर्थात् $\frac{७}{२}$ राजू है।

५—१ = ४, ४ ÷ $\frac{७}{२}$ = $\frac{८}{७}$ राजू प्रत्येक राजू पर वृद्धि और हानि का प्रमाण।

व्यास का प्रमाण निकालने का विधान

तक्खय-वड्ढि-पमाणं, णिय-णिय-उदया-हद जइच्छाए।
हीणब्भहिए संते, वासाणि हवंति भू-मुहाहितो ॥१६४॥

अर्थ—उस क्षय और वृद्धि के प्रमाण को इच्छानुसार अपनी-अपनी ऊँचाई से गुणा करने पर जो कुछ गुणनफल प्राप्त हो उसे भूमि में से घटा देने अथवा मुख में जोड़ देने पर विवक्षित स्थान में व्यास का प्रमाण निकलता है ॥१६४॥

उदाहरण—सानत्कुमार-माहेन्द्र कल्पका विस्तार—

ऊँचाई ३ राजू, चय $\frac{८}{७}$ राजू और मुख १ राजू है। $\frac{३}{१} \times \frac{८}{७} = \frac{२४}{७}$, तथा $\frac{२४}{७} + १ = \frac{३१}{७}$ अर्थात् ४$\frac{३}{७}$ राजू दूसरे युगल का व्यास प्राप्त हुआ।

भूमि अपेक्षा—दूसरे कल्प की नीचाई $\frac{१}{२}$ राजू, भूमि ५ और चय $\frac{८}{७}$ राजू है $\frac{१}{२} \times \frac{८}{७} = \frac{८}{१४}$।
५ − $\frac{८}{१४}$ = $\frac{६२}{१४}$ या $\frac{३१}{७}$ अर्थात् ४$\frac{३}{७}$ राजू विस्तार प्राप्त हुआ।

१. ब. सत्तपहिहत्थ, द. ज. क. ठ. सत्तपविहत्थ।

ऊर्ध्वलोक के व्यास की वृद्धि-हानि का प्रमाण

अट्ठ-गुणिदेग-सेढी, उणवण्ण - हिदम्मि होदि जं लद्धं ।
स च्चेय[1] वड्ढि-हाणी, उवरिम-लोयस्स वासाणं ॥१९५॥

४९ ८

अर्थ—श्रेणी (७ राजू) को आठ से गुणित कर उसमें ४९ का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना ऊर्ध्वलोक के व्यास की वृद्धि और हानि का प्रमाण है ॥१९५॥

यथा—श्रेणी $=$ ७ $\times$ ८ $=$ ५६ । ५६ $\div$ ४९ $=$ $\frac{८}{७}$ राजू क्षय-वृद्धि का प्रमाण ।

ऊर्ध्वलोक के दश क्षेत्रों का विस्तार एवं उसकी आकृति

रज्जूए सत्त-भागं, दससु ट्ठाणेसु ठाविदूण तदो ।
सत्तोणवीस - इगितीस - पंचतीसेक्कतीसेहिं ॥१९६॥

[2]सत्ताहिय - वीसेहिं, तेवीसेहिं तहोणवीसेण ।
पण्णरस वि सत्तेहिं, तम्मि हदे उवरि वासाणि ॥१९७॥

। ४९ ७ । ४९ १९ । ४९ ३१ । ४९ ३५ । ४९ ३१ । ४९ २७ । ४९ २३ । ४९ १९ । ४९ १५ । ४९ ७ ।

अर्थ—राजू के सातवे भाग को क्रमशः दस स्थानो में रख कर उसको सात, उन्नीस, इकतीस, पैंतीस, इकतीस, सत्ताईस, तेईस, उन्नीस, पन्द्रह और सात से गुणा करने पर ऊपर के क्षेत्रों का व्यास निकलता है ॥१९६-१९७॥

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक के प्रारम्भ से लोक पर्यन्त क्षेत्र के दस भाग होते हैं। उन उपरिम दस क्षेत्रो के विस्तार का क्रम इस प्रकार है—

ब्रह्मलोक के समीप भूमि ५ राजू, मुख एक राजू और ऊँचाई ३$\frac{१}{२}$ राजू है तथा प्रथम युगल की ऊँचाई १$\frac{१}{२}$ राजू है। भूमि ५—१ मुख $=$ ४ राजू अवशेष रहे। जबकि $\frac{७}{२}$ राजू ऊँचाई पर ४ राजू की वृद्धि होती है, तब १$\frac{१}{२}$ राजू पर $(\frac{४}{१} \times \frac{२}{७} \times \frac{३}{२}) = \frac{१२}{७}$ राजू वृद्धि प्राप्त हुई। प्रारम्भ मे ऊर्ध्वलोक का विस्तार एक राजू है, उसमे $\frac{१२}{७}$ राजू वृद्धि जोड़ने से प्रथम युगल के समीप का व्यास $(\frac{७}{७} + \frac{१२}{७}) = \frac{१९}{७}$ राजू प्राप्त होता है। प्रथम युगल से दूसरा युगल भी १$\frac{१}{२}$ राजू ऊँचा है अतः $(\frac{१९}{७} + \frac{१२}{७}) = \frac{३१}{७}$ राजू व्यास सानत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के समीप है। यहां से ब्रह्मलोक $\frac{१}{२}$ राजू

१. ब. क सच्चे य । २. द. क. ज. ठ. सत्तादिय, ब. सत्तादिविसेहि ।

ऊँचा है। जबकि $\frac{७}{२}$ राजू की ऊँचाई पर ४ राजू की वृद्धि होती है, तब $\frac{१}{२}$ राजू पर $(\frac{४}{१} \times \frac{२}{७} \times \frac{१}{२})$ $= \frac{४}{७}$ की वृद्धि होगी। इसे $\frac{३१}{७}$ मे जोड़ देने पर $(\frac{३१}{७} + \frac{४}{७}) = \frac{३५}{७}$ राजू या ५ राजू व्यास तीसरे युगल के समीप प्राप्त होता है।

इसके आगे प्रत्येक युगल $\frac{१}{२}$ राजू की ऊँचाई पर है, अत हानि का प्रमाण भी $\frac{४}{७}$ राजू ही होगा। $\frac{३५}{७} - \frac{४}{७} = \frac{३१}{७}$ राजू व्यास लान्तव-कापिष्ट के समीप $\frac{३१}{७} - \frac{४}{७} = \frac{२७}{७}$ राजू व्यास शुक्र-महाशुक्र के समीप, $\frac{२७}{७} - \frac{४}{७} = \frac{२३}{७}$ राजू व्यास सतार-सहस्रार के समीप, $\frac{२३}{७} - \frac{४}{७} = \frac{१९}{७}$ राजू व्यास आनत-प्राणत के समीप और $\frac{१९}{७} - \frac{४}{७} = \frac{१५}{७}$ राजू व्यास आरण-अच्युत युगल के समीप प्राप्त होता है।

यहाँ से लोक के अन्त तक की ऊँचाई एक राजू है। जब $\frac{७}{२}$ राजू की ऊँचाई पर ४ राजू की हानि है, तब एक राजू की ऊँचाई पर $(\frac{४}{१} \times \frac{२}{७} \times \frac{१}{१}) = \frac{८}{७}$ राजू की हानि प्राप्त हुई। इसे $\frac{१५}{७}$ राजू में से घटाने पर $(\frac{१५}{७} - \frac{८}{७}) = \frac{७}{७}$ अर्थात् लोक के अन्त भाग का व्यास एक राजू प्राप्त होता है। यथा—
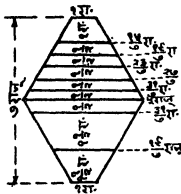
ऊर्ध्वलोक के दशो क्षेत्रो के घनफल का प्रमाण

उणवालं पण्णत्तरि, तेत्तीसं तेत्तियं च उणतीसं ।
[1]पणवीसमेक्कवीसं, [2]सत्तरसं तह य बावीसं ॥१९८॥

एदाणि य पत्तेक्कं, घण-रज्जूए दलेण गुणिदाणि ।
मेरु-तलादो उवरिं, उवरिं जायंति विंदफला ॥१९९॥

१. ब. पणुवीस। २. द. ज ठ सत्तारस।

$\frac{\equiv \; ३९}{३४३ \,।\, २}$ | $\frac{\equiv \; ७५}{३४३ \,।\, २}$ | $\frac{\equiv \; ३३}{३४३ \,।\, २}$ | $\frac{\equiv \; ३३}{३४३ \,।\, २}$ | $\frac{\equiv \; २९}{३४३ \,।\, २}$ | $\frac{\equiv \; २५}{३४३ \,।\, २}$ | $\frac{\equiv \; २१}{३४३ \,।\, २}$ |

$\frac{\equiv \; १७}{३४३ \,।\, २}$ | $\frac{\equiv \; २२}{३४३ \,।\, २}$ |

अर्थ – उनतालीस, पचहत्तर, तेंतीस, तेंतीस उनतीस, पच्चीस, इक्कीस, सत्तरह और बाईस, इनमें से प्रत्येक को घनराजू के अर्धभाग से गुणा करने पर मेरु-तल से ऊपर-ऊपर क्रमशः घनफल का प्रमाण आता है ॥१९८-१९९॥

उदाहरण—'मुहभूमिजोगदले' इत्यादि नियम के अनुसार सौधर्म से सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त क्षेत्रों का घनफल इस प्रकार है—

क्र.	युगलों के नाम	भूमि +	मुख =	योग ×	अर्धभाग =	फल ×	ऊँचाई ×	मोटाई =	घनफल
१	सौधर्मेशान	$\frac{१९}{७}$ +	$\frac{७}{७}$ =	$\frac{२६}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{२६}{१४}$ ×	$\frac{३}{२}$ ×	७ =	$\frac{३९}{२}$ या १९$\frac{१}{२}$ घ०रा०
२	सानत्कुमार-माहेन्द्र	$\frac{४१}{७}$ +	$\frac{१९}{७}$ =	$\frac{६०}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{६०}{१४}$ ×	$\frac{५}{२}$ ×	७ =	$\frac{७५}{२}$ या ३७$\frac{१}{२}$,, ,,
३	ब्रह्मब्रह्मोत्तर	$\frac{३५}{७}$ +	$\frac{३१}{७}$ =	$\frac{६६}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{६६}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{३३}{२}$ या १६$\frac{१}{२}$,, ,,
४	लांतव-का०	$\frac{३५}{७}$ +	$\frac{३१}{७}$ =	$\frac{६६}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{६६}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{३३}{२}$ या १६$\frac{१}{२}$,, ,,
५	शुक्र-महाशुक्र	$\frac{३१}{७}$ +	$\frac{२७}{७}$ =	$\frac{५८}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{५८}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{२९}{२}$ या १४$\frac{१}{२}$,, ,,
६	सतार-सह०	$\frac{२७}{७}$ +	$\frac{२३}{७}$ =	$\frac{५०}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{५०}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{२५}{२}$ या १२$\frac{१}{२}$,, ,,
७	आनत-प्रा०	$\frac{२३}{७}$ +	$\frac{१९}{७}$ =	$\frac{४२}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{४२}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{२१}{२}$ या १०$\frac{१}{२}$,, ,,
८	आरण-अच्युत	$\frac{१९}{७}$ +	$\frac{१५}{७}$ =	$\frac{३४}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{३४}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	७ =	$\frac{१७}{२}$ या ८$\frac{१}{२}$,, ,,
९	उपरिम क्षेत्र	$\frac{१५}{७}$ +	$\frac{७}{७}$ =	$\frac{२२}{७}$ ×	$\frac{१}{२}$ =	$\frac{२२}{१४}$ ×	१ ×	७ =	$\frac{२२}{२}$ या ११ ,, ,,

घनफल योग = $\frac{३९}{२} + \frac{७५}{२} + \frac{३३}{२} + \frac{३३}{२} + \frac{२९}{२} + \frac{२५}{२} + \frac{२१}{२} + \frac{१७}{२} + \frac{२२}{२} = १४७$ घनराजू सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त हुआ।

स्तम्भों की ऊँचाई एवं उसकी आकृति

थंभुच्छेहा[1] पुव्वावरभाए बम्हकप्प-पणिधीसु ।
एक्क-दु-रज्जु-पवेसे, हेट्ठोवरि [2]चउ-दु-गहिदे सेढी ॥२००॥

४ । २ ।

अर्थ—ब्रह्मस्वर्ग के समीप पूर्व-पश्चिम भाग में एक और दो राजू प्रवेश करने पर क्रमशः नीचे-ऊपर चार और दो से भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण स्तम्भों की ऊँचाई है ॥२००॥

स्तम्भोत्सेध—१ राजू के प्रवेश में ७/४ राजू; दो राजू के प्रवेश मे ७/२ राजू ।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक में ब्रह्मस्वर्ग के समीप पूर्व दिशा के लोकान्त भाग से पश्चिम की ओर एक राजू आगे जाकर लम्बायमान (अ ब) रेखा खींचने पर उसकी ऊँचाई ७/४ राजू होती है। इसी प्रकार नीचे की ओर भी (अ स) रेखा की लम्बाई ७/४ राजू प्रमाण है। उसी पूर्व दिशा से दो राजू आगे जाकर ऊपर-नीचे क ख और क ग रेखाओं की ऊँचाई ७/२ राजू प्राप्त होती है। यथा—

१. द. थमुच्छेहो । २. द. चउदगेहि, ज. ठ. चउदगहि, ब. क. चउदुगहिदे ।
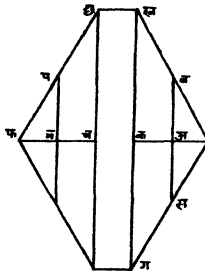
स्तम्भ-अन्तरित क्षेत्रों का घनफल

छप्पण्ण-हरिदो[1] लोओ, [2]ठाणेसु दोसु [3]ठविय गुणिदव्वो ।
एक्क - तिएहिं एवं, थंभंतरिदाण[4] विंदफलं ।।२०१।।

एवं विय[5],

विंदफल संमेलिय, चउ - गुणिदं होदि तस्स कादूण ।
मज्झिम-खेत्ते मिलिदे, तिय-गुणिदो सग-हिदो लोओ ।।२०२।।

| $\frac{\equiv}{५६}$ १ | $\frac{\equiv}{५६}$ ३ | $\frac{\equiv}{७}$ ३ |[6]

अर्थ--छप्पन से विभाजित लोक दो जगह रखकर उसे क्रमशः एक और तीन से गुणा करने पर स्तम्भ-अन्तरित दो क्षेत्रो का घनफल प्राप्त होता है।

इस घनफल को मिलाकर और उसको चार से गुणा कर उसमे मध्य क्षेत्र के घनफल को मिला देने पर पूर्ण ऊर्ध्व लोक का घनफल होता है। यह घनफल तीन से गुणित और सात से भाजित लोक के प्रमाण है ।

$३४३ \div ५६ \times १ = ६\frac{१}{८}$, $३४३ \div ५६ \times ३ = १८\frac{३}{८}$; $३४३ \times ३ \div ७ = १४७$ घनराजू घनफल ।।२०१-२०२।।

विशेषार्थ—गाथा २०० से सम्बन्धित चित्रण में स्तम्भों से अन्तरित एक पार्श्वभाग में ऊपर की ओर सर्वप्रथम प फ और म से वेष्टित त्रिकोण क्षेत्र का घनफल इस प्रकार है—

उपर्युक्त त्रिकोण मे फ म भुजा एक राजू है। इसमें प्रतिभुजा का अभाव है। इस क्षेत्र की ऊँचाई $\frac{७}{४}$ राजू है, अतः $(१ \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{४} \times \frac{७}{१}) = \frac{४९}{८}$ अर्थात् $६\frac{१}{८}$ घनराजू प्रथम क्षेत्र का घनफल हुआ।

उसी पार्श्व भाग में प म च छ जो विषम-चतुर्भुज है, उसकी छ च भुजा $\frac{७}{२}$ और प म प्रतिभुजा $\frac{७}{४}$ है। $\frac{७}{२} + \frac{७}{४} = \frac{२१}{४}$। $\frac{२१}{४} \times \frac{१}{२} \times \frac{१}{१} \times \frac{७}{१} = \frac{१४७}{८}$ अर्थात् $१८\frac{३}{८}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है। इन दोनों घनफलों को मिलाकर योगफल को ४ से गुणित कर देना चाहिए क्योंकि ऊर्ध्वलोक के दोनों

१. क. ब. हरिदलोउ । ज. द. ठ. हरिदलोओ । २. द. ठ. ज. बाणेसु । ३. द. ब. क. ज. रविय । ४. क. पदत्थ भत्तरिदाण । ५. द. ब. एदव्विय । ६. क ६ । $\frac{१}{८}$ । $\frac{\equiv}{७}$ ३ । द. ज. ठ. $\frac{\equiv}{७}$ ३ ।

पार्श्व भागों में इस प्रकार के चार त्रिभुज और चार ही चतुर्भुज हैं। इस गुणनफल में मध्य क्षेत्र का (१×७×७)=४९ घनराजू घनफल और मिला देने पर सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त हो जाता है। यथा—$\frac{४९}{८}+\frac{१४७}{८}=\frac{१९६}{८}\times४=९८$ घनराजू आठ क्षेत्रों का घनफल+४९ घनराजू मध्य-क्षेत्र का घनफल=१४७ घनराजू सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त होता है।

यह घनफल तीन से गुणित और सात से भाजित लोकप्रमाण मात्र है अर्थात् $\frac{३४३}{७}\times३$ = १४७ घनराजू प्रमाण है।

ऊर्ध्वलोक में आठ क्षुद्र-भुजाओं का विस्तार एवं आकृति

सोहम्मीसाणोवरि, छ च्चेय [1]रज्जूउ सत्त-पविभत्ता ।
खुल्लय-भुजस्स रुंदं, इगिपासे होदि लोयस्स ॥२०३॥

। $\frac{६}{७}$ ।

अर्थ—सौधर्म और ईशान स्वर्ग के ऊपर लोक के एक पार्श्वभाग में छोटी भुजा का विस्तार सात से विभक्त छह ($\frac{६}{७}$) राजू प्रमाण है॥२०३॥

माहिंद-उवरिमंते[2], रज्जूओ पंच होंति सत्त-हिदा ।
[3]उणवण्ण हिदा सेढी, सत्त-गुणा बम्ह-परिणधीए ॥२०४॥

। $\frac{५}{७}$ । $\frac{७}{४९}$ ७ ।

अर्थ—माहेन्द्र स्वर्ग के ऊपर अन्त में सात से भाजित पाँच राजू और ब्रह्म स्वर्ग के पास उन-चास से भाजित और सात से गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण छोटी भुजा का विस्तार है॥२०४॥

माहेन्द्र कल्प $\frac{५}{७}$ राजू; ब्रह्मकल्प ज०श्रे०=७ अर्थात् $\frac{७\times७}{४९}-\frac{४९}{४९}$=१ राजू।

कापिट्ठ-उवरिमंते, रज्जूओ पंच होंति सत्त-हिदा ।
सुक्कस्स उवरिमंते, सत्त-हिदा ति-गुणिदो रज्जू ॥२०५॥

। $\frac{५}{७}$ । $\frac{३}{७}$ ।

अर्थ—कापिष्ठ स्वर्ग के ऊपर अन्त में सात से भाजित पाँच राजू और शुक्र के ऊपर अन्त में सात से भाजित और तीन से गुणित राजू प्रमाण छोटी-भुजा का विस्तार है॥२०५॥ का० $\frac{५}{७}$ रा०; शु० $\frac{३}{७}$ रा०।

---

१. द. छच्चेव रज्जूओ। २. द. ब. क. ब. ठ. मेत्तं। ३. द. ब. उणवण्णहिदा रज्जू।

सहसार-उवरिमंते, सग-हिद-रज्जू य खुल्ल-भुजरुंदं ।
पाणद-उवरिम-चरिमे, छ रज्जूओ हवंति सत्त-हिदा ॥२०६॥

अर्थ—सहस्रार के ऊपर अन्त मे सात से भाजित एक राजू प्रमाण और प्राणत के ऊपर अन्त मे सात से भाजित छह राजू प्रमाण छोटी-भुजा का विस्तार है ॥२०६॥ सह० $\frac{१}{७}$ राजू; प्रा० $\frac{६}{७}$ राजू ।

परिणधीसु आरणच्चुद - कप्पाणं चरिम-इंदय-धयाणं ।
खुल्लय-भुजस्स रुंदं, चउ रज्जूओ हवंति सत्त-हिदा ॥२०७॥

७ह ४ ।

अर्थ—आरण और अच्युत स्वर्ग के पास अन्तिम इन्द्रक विमान के ध्वज-दण्ड के समीप छोटी-भजा का विस्तार सात से भाजित चार राजू प्रमाण है ॥२०७॥ आरण-अच्युत $\frac{४}{७}$ राजू ।

विशेषार्थ— गाथा २०३ से २०७ तक का विषय निम्नाकित चित्र के आधार पर समझा जा सकता है -

१. ज. ठ. सदरस्स ।　२. द ४ह । $\frac{६}{४ह}$ ।
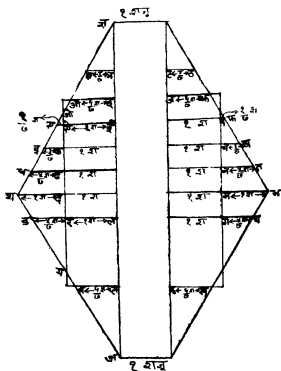
सौधर्मैशान स्वर्ग के ऊपर लोक के एक पार्श्वभाग मे क ख नामक छोटी भुजा का विस्तार $\frac{६}{७}$ राजू है। माहेन्द्र स्वर्ग के ऊपर अन्त मे ग घ भुजा का विस्तार $\frac{५}{७}$ राजू, ब्रह्मस्वर्ग के पास म भ भुजा का विस्तार एक राजू, कापिष्ट स्वर्ग के पास न त भुजाका विस्तार $\frac{५}{७}$ राजू, शुक्र के ऊपर अन्त मे च छ भुजा का विस्तार $\frac{३}{७}$ राजू, सहस्रार के ऊपर अन्त मे प फ छोटी-भुजा का विस्तार $\frac{३}{७}$ राजू, प्राणत के ऊपर अन्त मे ज झ भुजा का विस्तार $\frac{६}{७}$ राजू और आरण-अच्युत स्वर्ग के पास अन्तिम इन्द्रक विमान के ध्वजदण्ड के समीप ट ठ छोटी-भुजा का विस्तार $\frac{४}{७}$ राजू प्रमाण है।

ऊर्ध्वलोक के ग्यारह त्रिभुज एवं चतुर्भुज क्षेत्रों का घनफल

सोहम्मे दलजुत्ता, घणरज्जूओ हवंति चत्तारि ।
अद्धजुदाओ दि तेरस, सणक्कुमारम्मि रज्जूओ ।।२०८।।

अट्ठंसेण जुदाओ, घणरज्जूओ हवंति तिण्णि बाहिं ।
तं मिस्स-सुद्ध-सेस, तेसीदी[1] अट्ठ-पविहत्ता[2] ।।२०९।।

अर्थ—सौधर्मयुगल तक त्रिकोण क्षेत्र का घनफल अर्ध घनराजू से कम पाँच ($४\frac{१}{२}$) घनराजू प्रमाण है। सनत्कुमार युगल तक बाह्य और अभ्यन्तर दोनों क्षेत्रों का मिश्र घनफल साढे तेरह घनराजू प्रमाण है। इस मिश्र घनफल मे से बाह्य त्रिकोण क्षेत्र का घनफल ($\frac{२५}{८}$) कम कर देने पर शेष आठ से भाजित तेरासी घनराजू अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल होता है ।।२०८-२०९।।

संदृष्टि—$\frac{६}{७} \div २ \times \frac{३}{२} \times ७ = \frac{९}{२}$ घनराजू घनफल सौधर्मयुगल तक, $\frac{५}{७} \div २ \times \frac{५}{४} \times ७ = \frac{२५}{८}$ घनराजू घनफल सनत्कुमार कल्प तक बाह्य क्षेत्र का, $[(\frac{१२}{७} + \frac{६}{७}) \div २ \times \frac{३}{२} \times ७] = \frac{२७}{२}$ बाह्य और अभ्यन्तर क्षेत्र का मिश्र घनफल, $\frac{२७}{२} - \frac{२५}{८} = \frac{८३}{८}$ घनराजू अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल है।

विशेषार्थ—गाथा २०३-२०७ से सम्बन्धित चित्रण मे सौधर्मयुगल पर अ ब स से वेष्टित एक त्रिकोण है, जिसमे प्रतिभुजा का अभाव है। भुजा ब स का विस्तार $\frac{६}{७}$ राजू है, अतः $\frac{६}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{३}{२} \times \frac{७}{१} = \frac{९}{२}$ घनराजू घनफल सौधर्मयुगल पर प्राप्त हुआ।

सनत्कुमार युगल पर्यन्त ड य ब स ल बाह्याभ्यन्तर क्षेत्र है। र ल रेखा $\frac{७}{७}$ और ड र रेखा $\frac{५}{७}$ है, अर्थात् ड ल रेखा $(\frac{७}{७} + \frac{५}{७}) = \frac{१२}{७}$ राजू हुई। प्रतिभुजा ब स का विस्तार $\frac{६}{७}$ राजू है, अतः $\frac{१२}{७} + \frac{६}{७} = \frac{१८}{७}$ तथा $\frac{१८}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{३}{२} \times ७ = \frac{२७}{२}$ घनराजू बाह्याभ्यन्तर मिश्रित क्षेत्र का घनफल प्राप्त हुआ। इसमे से ड य र बाह्य त्रिकोण का घनफल $\frac{५}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{५}{४} \times ७ = \frac{२५}{८}$ घनराजू घटा देने पर र य ब स ल अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल $\frac{२७}{२} - \frac{२५}{८} = \frac{८३}{८}$ घनराजू प्राप्त होता है।

१. द. ब. तेसि हदि। २. ब. पविहत्था।

बम्हुत्तर-हेट्ठुवरिं, रज्जु-घणा तिण्णि होंति पत्तेक्कं ।
लंतव-कप्पम्मि दुगं, रज्जु-घणो[1] सुक्क-कप्पम्मि ॥२१०॥

$\frac{\equiv}{३४३}$ ३ | $\frac{\equiv}{३४३}$ ३ | $\frac{\equiv}{३४३}$ २ | $\frac{\equiv}{३४३}$ १ |

अर्थ— ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के नीचे और ऊपर प्रत्येक बाह्य क्षेत्र का घनफल तीन घनराजू प्रमाण है । लांतव स्वर्ग तक दो घनराजू और शुक्र कल्प तक एक घनराजू प्रमाण घनफल है ॥२१०॥

विशेषार्थ—ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के नीचे और ऊपर अर्थात् क्षेत्र थ ड र द और घ थ द ढ समान माप वाले है । इनकी भुजा $\frac{७}{७}$ राजू और प्रतिभुजा $\frac{५}{७}$ राजू प्रमाण है, अत: ब्रह्मोत्तर कल्प के नीचे और ऊपर वाले प्रत्येक क्षेत्र हेतु $\frac{७}{७}+\frac{५}{७}=\frac{१२}{७}$, तथा घनफल $=\frac{१२}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७ = ३$ घनराजू प्रमाण है ।

लांतव-कापिष्ट पर इ ध ढ उ से वेष्टित क्षेत्र हेतु $(\frac{५}{७}+\frac{३}{७})=\frac{८}{७}$ तथा घनफल $=\frac{८}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७ = २$ घनराजू प्रमाण है ।

शुक्र कल्प तक ए इ उ ऐ से वेष्टित क्षेत्र हेतु $(\frac{३}{७}+\frac{१}{७})=\frac{४}{७}$ तथा घनफल $=\frac{४}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७ = १$ घनराजू प्रमाण है ।

अट्ठाणउदि-विहत्तो, लोओ सदरस्स उभय-विंदफलं ।
तस्स य बाहिर-भागे, रज्जु-घणो अट्ठमो अंसो ॥२११॥

२ $\frac{\equiv}{३४३}$ । $\frac{७}{२}$ | $\frac{\equiv}{३४३}$ । $\frac{१}{८}$ |

तम्मिस्स-सुद्ध-सेसे, हवेदि अब्भंतरम्मि विंदफलं ।
[3]सत्तावीसेहि [4]हदं, रज्जू - घणमाणमट्ठ - हिदं ॥२१२॥

| $\frac{\equiv}{३४३}$ । $\frac{२७}{८}$ |

१. द. ब. रज्जुघणा　२. द. $\frac{\equiv}{४९}$, ब. $\frac{\equiv}{३४९}$ ।　३. द. ज. ठ. सत्तावसेहि ।　४. ज. ठ. दोदं ।

अर्थ—शतार स्वर्ग तक उभय अर्थात् अभ्यन्तर और बाह्यक्षेत्र का मिश्र घनफल अट्ठानवे से भाजित लोक के प्रमाण है। तथा इसके बाह्यक्षेत्र का घनफल घनराजू का अष्टमांश है ॥२११॥

अर्थ—उपर्युक्त उभय क्षेत्र के घनफल मे से बाह्यक्षेत्र के घनफल को घटा देने पर जो शेष रहे उतना अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल होता है। वह सत्ताईस से गुणित और आठ से भाजित घनराजू के प्रमाण है ॥२१२॥

विशेषार्थ—शतार स्वर्ग पर्यन्त औ ओ ए ऐ ई ह से वेष्टित बाह्याभ्यन्तर क्षेत्र है। ऐ ई रेखा $\frac{४}{७}$ और ए ऐ रेखा $\frac{१}{७}$ राजू है अर्थात् ए ई रेखा $(\frac{४}{७}+\frac{१}{७})=\frac{५}{७}$ है। प्रतिभुजा औ ह रेखा का विस्तार $\frac{९}{७}$ राजू है, अत $\frac{५}{७}+\frac{९}{७}=\frac{१४}{७}$, तथा $\frac{१४}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७=\frac{७}{२}$ घनराजू उभय क्षेत्रो का घनफल है, इसमे से ओ ए ऐ बाह्य त्रिकोण का घनफल $\frac{१}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{४}\times ७=\frac{१}{८}$ घनराजू घटा देने पर औ ओ ऐ ई ह अभ्यन्तर क्षेत्र का घनफल $(\frac{७}{२}-\frac{१}{८})=\frac{२७}{८}$ अर्थात् $३\frac{३}{८}$ घनराजू प्राप्त होता है, जो २७ से गुणित और ८ से भाजित घनराजू प्रमाण (१ × २७ = २७, तथा २७—८ $३\frac{३}{८}$ घनराजू) है।

रज्जु-घणा ठाण-दुगे, अड्ढाइज्जेहिं दोहि गुणिदव्वा।
सव्वं मेलिय दु-गुणिय, तस्सिं ठावेज्ज जुत्तेण ॥२१३॥

$\left|\frac{\equiv}{३४३}\ \frac{५}{२}\right|\ \frac{\equiv}{३४३}\ २\ \left|\ \frac{\equiv}{३४३}\ ७०\right|$[1]

अर्थ—घनराजू को क्रमश. ढाई और दो से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो, उतना शेष दो स्थानो के घनफल का प्रमाण है। इन सब घनफलो को जोडकर उसे दुगुना कर संयुक्त रूप मे रखना चाहिए ॥२१३॥

विशेषार्थ—आनत कल्प के ऊपर क्ष औ ह त्र क्षेत्र हेतु $(\frac{६}{७}+\frac{४}{७})=\frac{१०}{७}$, तथा घनफल $=\frac{१०}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times ७=\frac{५}{२}$ घनराजू प्रमाण है।

आरण कल्प के उपरिम क्षेत्र अर्थात् ज्ञ क्ष त्र क्षेत्र का घनफल $\frac{४}{७}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}=\frac{४}{२}=२$ घनराजू प्रमाण है। सम्पूर्ण घनफलों का योग इस प्रकार है—

---

१ ज. ठ. $\frac{\equiv}{३४३}$ | ५ | $\frac{\equiv}{३४३}$ ३ | $\frac{\equiv}{३४३}$ ७० | द. $\frac{\equiv}{३४३}$ ५६ | $\frac{\equiv}{३४३}$ ३ | $\frac{\equiv}{३४३}$ ७० | क. $\frac{\equiv}{३४३}\ \frac{५}{२}$ | $\frac{\equiv}{३४३}$ १ | $\frac{\equiv}{३४३}$ ७० |

$\frac{९}{२}+\frac{२५}{८}+\frac{८३}{८}+\frac{६}{२}+\frac{६}{२}+\frac{४}{२}+\frac{३}{३}+\frac{१}{८}+\frac{२७}{८}+\frac{५}{२}+\frac{४}{२}=$

$\frac{३६+२५+८३+२४+२४+१६+८+१+२७+२०+१६}{८}=\frac{२८०}{८}$ घनराजू

त्रिभुज और चतुर्भुज क्षेत्र ऊर्ध्वलोक के दोनों पार्श्व भागों में है, अतः $\frac{२८०}{८}$ घनराजू को दो से गुणित करने पर ($\frac{२८०}{८}\times\frac{२}{१}$) दोनों पार्श्व भागों में स्थित ग्यारह क्षेत्रों का घनफल ७० घनराजू प्रमाण प्राप्त होता है।

आठ आयताकार क्षेत्रों का और मध्यक्षेत्र का घनफल

एत्तो दल-रज्जूणं, घण-रज्जूओ हवंति अडवीसं।
एक्कोणवण्ण-गुणिदा, मज्झिम-खेत्तम्मि रज्जु-घणा ॥२१४॥

| ≡ ३४३ २८ | ≡ ३४३ ४९ |

अर्थ—इसके अतिरिक्त दल (अर्ध) राजुओं का घनफल अट्ठाईस घनराजू और मध्यम-क्षेत्र का घनफल ४९ से गुणित एक घनराजू प्रमाण अर्थात् उनचास घनराजू प्रमाण है ॥२१४॥

विशेषार्थ--ग्यारह क्षेत्रों के अतिरिक्त ऊर्ध्वलोक में एक राजू चौड़े और अर्धराजू ऊँचे विस्तार वाले आठ क्षेत्र हैं, जिनका घनफल ($\frac{१}{१}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१}\times\frac{८}{१}$) = २८ घनराजू प्राप्त होता है। इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक स्थित अवशेष मध्यक्षेत्र का घनफल (१ × ७ × ७) = ४९ घनराजू है।

सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का सम्मिलित घनफल

[1]पुव्व-वण्णिद-खिदीणं, रज्जूए घणा सत्तरी होंति।
एदे तिण्णि वि रासी, सत्तत्तालुत्तर-सयं मेलिदा ॥२१५॥

| ≡ ३४३ ७० | ≡ ३४३ १४७ |[2]

अर्थ—पूर्व में वर्णित इन पृथ्वियों का घनफल सत्तर घनराजू प्रमाण होता है। इस प्रकार इन तीनों राशियों का योग एक सौ सैंतालीस घनराजू है, जो सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल समझना चाहिए ॥२१५॥

१. द. ब. पुव्वणिद। २. द. ≡ ३४३. ७८ | ≡ ३४३ १४७ |

विशेषार्थ—ग्यारह क्षेत्रों का घनफल ७० घनराज, मध्यवर्ती आठ क्षेत्रों का घनफल २८ घनराजू और मध्यक्षेत्र का घनफल ४६ घनराजू है। इन तीनों का योग (७० + २८ + ४६) = १४७ घनराजू होता है। यही सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक का घनफल है।

सम्पूर्ण लोक के आठ भेद एवं उनके नाम

अट्ठ-विहं सव्व-जगं, सामण्णं तह य दोण्णि[1] चउरस्सं।
जवमुरअं जवमज्झं, मंदर-दूसाइ-गिरिगडयं ॥२१६॥

अर्थ—सम्पूर्ण लोक—१ सामान्य, दो चतुरस्र अर्थात् २ आयत-चौरस और ३ तिर्यगायत-चतुरस्र, ४ यवमुरज, ५ यवमध्य, ६ मन्दर, ७ दूष्य और ८ गिरिकटक के भेद से आठ प्रकार का है ॥२१६॥

सामान्य एवं दो चतुरस्र लोकों का घनफल एवं उसकी आकृतियाँ

सामाण्णं सेढि-घणं, आयद-चउरस्स वेद-कोडि-भुजा।
सेढी सेढी-अद्धं, दु-गुणिद-सेढी कमा होंति ॥२१७॥

। ≡ । — । २ । २ ।

अर्थ—सामान्य लोक जगच्छ्रेणी के घनप्रमाण है। आयत-चौरस अर्थात् इसकी चारों भुजाएँ समान प्रमाण वाली हैं। (तिर्यगायत चतुरस्र) क्षेत्र के, वेध, कोटि और भुजा ये तीनों क्रमशः जगच्छ्रेणी (७ राजू), जगच्छ्रेणी के अर्धभाग (३½ राजू) और जगच्छ्रेणी से दुगुने (१४ राजू) प्रमाण हैं ॥२१७॥

विशेषार्थ—सामान्य लोक निम्नांकित चित्रण के अनुसार जगच्छ्रेणी अर्थात् ७ राजू के घन (३४३ घनराजू) प्रमाण है। यथा—

---

१. ब. तह दोण्णि।

१. सामान्य लोक का चित्रण—
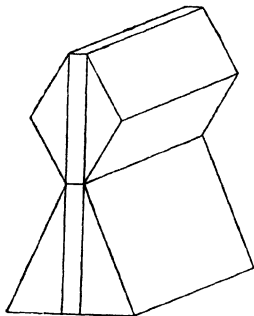
२. आयत-चौरस क्षेत्र निम्नांकित चित्रण के सदृश अर्थात् समान लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई एवं मोटाई को लिये हुए है। यथा—
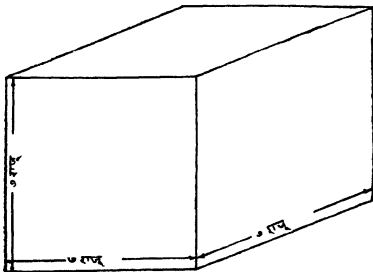
३. तिर्यगायत क्षेत्र का वेध सात राजू, कोटि ३½ राजू और भुजा चौदह-राजू प्रमाण है।
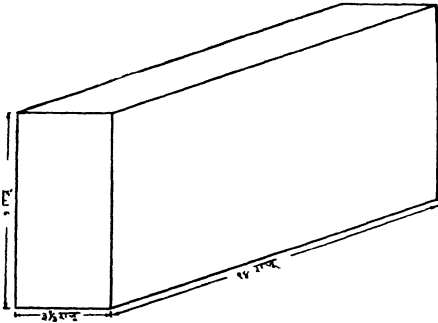
यव का प्रमाण, यवमुरज का घनफल एवं उसकी आकृति

भुजकोडी वेदेसुं, पत्तेक्कं एक्कसेढि परिमाणं ।
समचउरस्स खिदीए, लोगा दोण्हं पि विंदफलं ॥२१८॥

। — । — । ≡ । ≡ ।

सत्तरि हिद-सेढि-घणा, एक्काए जवखिदीए विंदफलं ।
तं पंचवीस पहदं, जवमुरय महीए जवखेत्तं ॥२१९॥

[1]पहदो सत्तेहि लोओ, चोद्दस-भजिदो य मुरव-विंदफलं ।
सेढिस्स घण-पमाणं, उभयं पि [2]हवेदि जव-मुरवे ॥२२०॥

१. द. एद दो, क. ज. ठ. एहदो। २. द. ज. ठ. यवेदि।

$$\left|\frac{\equiv 6}{14}\right|\equiv\right|$$

अर्थ—समचतुरस्र क्षेत्रवाले लोक के भुजा, कोटि एवं वेध ये प्रत्येक एक-एक श्रेणि (—) प्रमाण वाले हैं जिससे (लोक का) घनफल घनश्रेणि (≡) अर्थात् ३४३ घनराजू प्रमाण होता है। इसे दो स्थानो में स्थापित करना चाहिए ॥१२८॥

(इसके पश्चात् प्रथम जगह स्थापित) श्रेणि के घन (≡) को ७० से भजित करने पर एक जव क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है और दूसरी जगह स्थापित लोक [श्रेणिघन (≡) को ७० से भाजित कर लब्धराशि को २५ से गुणित करने पर यवमुरज क्षेत्र मे यवक्षेत्र का घनफल $\frac{\equiv 25}{70}$ अथवा $\frac{\equiv 5}{14}$ प्राप्त होता है ॥२१९॥

नौ से गुणित लोक मे चौदह का भाग देने पर मुरजक्षेत्र का घनफल आता है। इन दोनों के घनफल का जोडने से जगच्छ्रेणी के घनरूप सम्पूर्ण यवमुरज क्षेत्र का घनफल होता है ॥२२०॥

विशेषार्थ—लोक अर्थात् ३४३ घनराजू को यवमुरज की आकृति में लाने के लिए लोक की लम्बाई (ऊँचाई) १४ राजू, भूमि ६ राजू, मध्यम व्यास $3\frac{1}{2}$ राजू और मुख एक राजू मानना होगा, क्योंकि यहा लोक की आकृति से प्रयोजन नही है, उसके घनफल से प्रयोजन है। यथा—

यवमुरजाकृति—
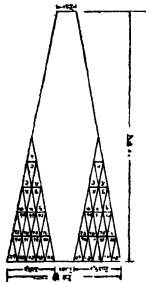
उपर्युक्त आकृति में एक मुरज और दोनों पार्श्व भागों में ५० अर्धयव अर्थात् २५ यव प्राप्त होते हैं। प्रत्येक अर्धयव $\frac{१}{२}$ राजू चौड़ा, $\frac{७}{५}$ राजू ऊँचा और ७ राजू मोटा है। मुरज १४ राजू ऊँची, ऊपर नीचे एक-एक राजू चौडी एवं मध्य में ३$\frac{१}{२}$ राजू चौड़ी है। इसकी मोटाई भी ७ राजू है।

अर्धयव का घनफल $\frac{१}{२} \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{५} \times \frac{७}{१} = \frac{४९}{२०}$ घनराजू है, अतः पूर्ण यव का घनफल $\frac{४९}{२०} \times \frac{२}{१} = \frac{४९}{१०}$ अर्थात् $\frac{३४३}{७०}$ घनराजू प्राप्त होता है। इन पूर्ण यवो की संख्या २५ है इसलिए गाथा में ७० से भाजित लोक को २५ से गुणित करने हेतु कहा गया है।

मुरज की चौडाई मध्य मे ३$\frac{१}{२}$ राजू और अन्त मे एक राजू है। ३$\frac{१}{२}$ + १ = $\frac{९}{२}$ राजू हुआ। इसका आधा करने पर $\frac{९}{२} \times \frac{१}{२}$ $\frac{९}{४}$ राजू मुरज का सामान्य व्यास प्राप्त होता है। इसे मुरज की १४ राजू ऊँचाई और ७ राजू मोटाई से गुणित करने पर $\frac{९}{४} \times \frac{१४}{१} \times \frac{७}{१} = \frac{४४१}{२}$ प्राप्त हुआ। अंश और हर को ७ से गुणित करने पर $\frac{४४१ \times ७}{२ \times ७}$ घनराजू प्राप्त होता है, इसलिए गाथा मे नौ से गुणित लोक में १४ का भाग देने को कहा गया है।

यवमुरज का सम्मिलित घनफल इस प्रकार है--

जबकि अर्धयव का घनफल $(\frac{१}{२} \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{५} \times \frac{७}{१}) = \frac{४९}{२०}$ घनराजू है, तब दोनों पार्श्व भागों के ५० अर्धयवो का कितना घनफल होगा? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर $\frac{४९}{२०} \times \frac{५०}{१} = \frac{२४५}{२}$ अर्थात् १२२$\frac{१}{२}$ घनराजू प्राप्त हुए।

इसी प्रकार अर्धमुरज हेतु ($\frac{७}{२}$ भूमि + $\frac{१}{१}$ मुख) = $\frac{९}{२}$, तथा घनफल = $\frac{९}{२} \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{१} \times \frac{७}{१} = \frac{४४१}{४}$ घनराजू है। जबकि अर्धमुरज का घनफल $\frac{४४१}{४}$ घनराजू है तब सम्पूर्ण (एक) मुरज का कितना होगा? $\frac{४४१}{४} \times \frac{२}{१}$ $\frac{४४१}{२}$ अर्थात् २२०$\frac{१}{२}$ घनराजू होता है। इन दोनो का योग कर देने से (१२२$\frac{१}{२}$ + २२०$\frac{१}{२}$) = ३४३ घनराजू सम्पूर्ण यवमुरज का घनफल प्राप्त होता है।

यव मध्यक्षेत्र का घनफल एवं उसकी आकृति

घण-फलमेक्कम्मि जवे, [1]पंचत्तीसद्ध-भाजिदो लोओ।
तं पणतीसद्ध[2] - हदं, सेढि-घणं होदि जव-खेत्ते ॥२२१॥

| ≡ ३५ २ | ≡ |

१. द. ब. पंचतीसदुभाजिदो। २. द. ब. तप्पणतीस दुहद।

अर्थ—यवमध्य क्षेत्र मे एक यव का घनफल पैंतीस के आधे साढ़े-सत्तरह से भाजित लोक-प्रमाण है। इसको पैंतीस के आधे साढे सत्तरह से गुणा करने पर जगच्छ्रेणी के घन-प्रमाण सम्पूर्ण यवमध्य क्षेत्र का घनफल निकलता है ॥२२१॥

विशेषार्थ—यवमध्य क्षेत्र की आकृति निम्न प्रकार है। इसकी रचना भी लोक अर्थात् ३४३ घनराजू के प्रमाण को दृष्टि में रखकर की जा रही है। यथा—
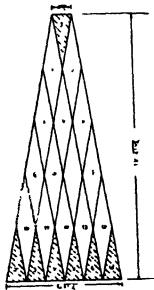
इस आकृति की ऊँचाई १४ राजू, भूमि ६ राजू और मुख एक राजू है। इसमें एक राजू चौड़े, $\frac{१४}{५}$ राजू ऊँचे और ७ राजू मोटाई वाले ३५ अर्धयव बनते हैं, अर्थात् १७ यव पूर्ण और एक यव आधा बनता है इसीलिए गाथा मे लोक (३४३ घनराजू) को १७$\frac{१}{२}$ से भाजित कर एक यव का क्षेत्रफल १९$\frac{३}{५}$ घनराजू निकाला गया है और इसे पुन १७$\frac{१}{२}$ से गुणित करके सम्पूर्ण लोक का घन-फल ३४३ घनराजू निकाला गया है।

एक अर्धयव का घनफल $\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{१४}{५}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{५}$ अर्थात् ९$\frac{४}{५}$ घनराजू है। पूर्ण यव का घनफल $\frac{४९}{५}\times\frac{२}{१}=\frac{९८}{५}$ अर्थात् १९$\frac{३}{५}$ घनराजू है जब एक अर्धयव का घनफल $\frac{४९}{५}$ घनराजू है तब ३५ अर्धयवों का घनफल कितना होगा? ऐसा त्रैराशिक करने पर $\frac{४९}{५}\times\frac{३५}{१}=$ ३४३ घनराजू होगा।

लोक में मन्दर मेरु की ऊँचाई एवं उसकी आकृति

[1]चउ-दु-ति-इगितीसेहिं, तिय-तेवीसेहि गुणिद-रज्जूओ ।
तिय-तिय-दु-छ-दु-छ भजिदा, मंदर-खेत्तस्स उस्सेहो ।।२२२।।

अर्थ— चार, दो, तीन, इकतीस, तीन और तेईस से गुणित, तथा क्रमशः तीन, तीन, दो, छह, दो और छह से भाजित राजू प्रमाण मन्दरक्षेत्र की ऊँचाई है ।।२२२।।

विशेषार्थ—३४३ घनराजू मापवाले लोक की भूमि ६ राजू, मुख एक राजू और ऊँचाई १४ राजू मानकर मन्दराकार अर्थात् लोक में सुदर्शन मेरु की रचना इस प्रकार से की गई है—

१. द. ब. चदुतिइगितीसहिं ।

इस आकृति में ४/३ राजू पृथिवी में सुदर्शन मेरु की नींव (जड़) अर्थात् १००० योजन का, ३/३ राजू भद्रशालवन से नन्दनवन तक की ऊँचाई अर्थात् ५०० योजन का, ३/२ राजू नन्दनवन से ऊपर समरुन्द्र भाग (समान विस्तार) तक का अर्थात् ११००० योजन का, ३१/२ सौमनस वन के प्रमाण अर्थात् ५१५०० योजन का, उसके ऊपर ३/२ राजू समविस्तार अर्थात् ११००० योजन का और उसके बाद २३/२ राजू समविस्तार के अन्त से पाण्डुकवन अर्थात् २५००० योजन का प्रतीक है।

अन्तरवर्ती चार त्रिकोणों मे चूलिका की सिद्धि एव उसका प्रमाण

पण्णरस-हदा रज्जू, छप्पण्ण-हिदा [1]तडाण वित्थारो।
पत्तेक्कं [2]तक्करणे, खंडिद-खेत्तेण चूलिया सिद्धा ॥२२३॥

५६ १५[3]

पणदाल-हदा रज्जू, छप्पण्ण-हिदा हवेदि भू-वासो।
उदओ दिवड्ढ-रज्जू, भूमि-ति-भागेण मुह-वासो ॥२२४॥

अर्थ—पन्द्रह से गुणित और छप्पन से भाजित राजू प्रमाण चूलिका के प्रत्येक तटों का विम्तार है। उस प्रत्येक अन्तरवर्नी करणाकार अर्थात् त्रिकोण खण्डित क्षेत्र से चूलिका सिद्ध होती है ॥२२३॥

चूलिका की भूमि का विस्तार पैंतालीस से गुणित और छप्पन से भाजित एक राजू प्रमाण (४५/५६) राजू) है। उसी चूलिका की ऊँचाई डेढ राजू (१ १/२) और मुख-विस्तार भूमि के विस्तार का तीसरा भाग अर्थात् तृतीयांश (१५/५६) है ॥२२४॥

विशेषार्थ—मन्दराकृति में नन्दन और सौमनस वनो के ऊपरी भाग को समतल करने के लिए दोनों पार्श्व भागों में जो चार त्रिकोण काटे गये हैं, उनमें प्रत्येक की चौड़ाई १५/५६ राजू और ऊँचाई १ १/२ राजू है। इन चारों त्रिकोणों में से तीन त्रिकोणों को सीधा और एक त्रिकोण को पलट-कर उलटा रखने से चूलिका की भूमि का विस्तार (४५/५६) राजू, मुखविस्तार १५/५६ राजू और ऊँचाई १ १/२ राजू प्रमाण प्राप्त होती है।

१. द. ब. क. ठ. तदाण। २. ज. ठ. तक्कारण। ३. द. ब. ५६ ४५। क ५६/१५।

हानि-वृद्धि (चय) एवं विस्तार का प्रमाण

भूमीग्र मुहं[1] सोहिय, उदय-हिदे भूमुहादु हाणि-चया ।
[2]छक्केक्कक्कु-मुह-रज्जू, उस्सेहा दुगुण-सेढीए ॥२२५॥

। ७ ६ । ७ १ । –२ ।

तक्खय-वड्ढि-विमाणं, चोद्दस-भजिदाइ पंच-रूवाणि ।
णिय-णिय-उदए पहदं, श्राणेज्जं[3] तस्स तस्स खिदि-वासं ॥२२६॥

| ५/१४ |

श्रर्थ – भूमि मे मे मुख को घटा कर शेष मे ऊंचाई का भाग देने पर जो लब्ध ग्रावे उतना भूमि की ग्रपेक्षा हानि ग्रौर मुख की ग्रपेक्षा वृद्धि का प्रमाण होता है। यहाँ भूमि का प्रमाण छह राजू, मुख का प्रमाण एक राजू, ग्रौर ऊँचाई का प्रमाण दुगुणित श्रेणी ग्रर्थात् चौदह राजू है ॥२२५॥

ग्रर्थ—हानि ग्रौर वृद्धि का वह प्रमाण चौदह से भाजित पाँच, ग्रर्थात् एक राजू के चौदह भागों मे से पाँच भाग मात्र है। इस क्षय-वृद्धि के प्रमाण को ग्रपनी-ग्रपनी ऊँचाई से गुणा करके विवक्षित पृथिवी (क्षेत्र) के विस्तार को ले ग्राना चाहिए ॥२२६॥

विशेषार्थ—इस मन्दराकृति लोक की भूमि ६ राजू ग्रौर मुख विस्तार एक राजू है। यह मध्य मे किस ग्रनुपात से घटा है उसका चय निकालने के लिए भूमि मे मे मुख को घटाकर शेष (६—१) =५ राजू मे १४ राजू ऊँचाई का भाग देने पर हानि-वृद्धि का $\frac{५}{१४}$ चय प्राप्त होता है। इस चय का ग्रपनी ऊँचाई मे गुणा कर देने से हानि का प्रमाण प्राप्त होता है। उस हानि प्रमाण को पूर्व विस्तार मे से घटा देने पर ऊपर का विस्तार प्राप्त हो जाता है।

मेरु सदृश लोक के सात स्थानो का विस्तार प्राप्त करने हेतु गुणकार एवं भागहार

मेरु-सरिच्छम्मि जगे, सत्त-ट्ठाणेसु ठविय उड्ढुड्ढं ।
रज्जूग्रो रुंदट्ठे, [4]वोच्छं गुणयार-हाराणि ॥२२७॥

१. द. ज. ठ. मुहवासो, ब. क. मुहसोही। २. द. कुमह। ३. द. ब. ज. ठ. ग्रणेज्जथसस्स, क. ग्रणेज्जय मस्स तम्स। ४. द. ज. ठ. रुंदे वोच्छ, ब. क. रुंदे दो वोच्छ।

छब्बीसब्भहिय - सयं, सोलस - एक्कारसाविरित्त - सया ।
[1]इगिवीसेहि विहत्ता, तिसु ट्ठाणेसु हवंति हेट्ठादो ॥२२८॥

$\frac{१२६}{१४७}$ । $\frac{११६}{१४७}$ । $\frac{१११}{१४७}$ ।

एक्कोरण - चउसयाइं, दु-सया-चउदाल-दुसयमेक्कोणं ।
चउसीदी चउठाणे, होदि हु चउसीदि - पविहत्ता ॥२२९॥

। $\frac{३९९}{५८८}$ । $\frac{२४४}{५८८}$ । $\frac{१९९}{५८८}$ । $\frac{८४}{५८८}$ ।

अर्थ– मेरु के सदृश लोक में, ऊपर-ऊपर सात स्थानों मे राजू को रखकर विस्तार को लाने के लिए गुणकार और भागहारो को कहता हूँ ॥२२७॥

अर्थ– नीचे मे तीन स्थानो मे इक्कीस से विभक्त एक सौ छब्बीस, एक सौ सोलह और एक सौ ग्यारह गुणकार है ॥२२८॥

$\frac{७ \times १२६}{१४७} = \frac{१२६}{२१}$, $\frac{७ \times ११६}{१४७} = \frac{११६}{२१}$, $\frac{७ \times १११}{१४७} = \frac{१११}{२१}$ ।

अर्थ—इसके आगे चार स्थानो मे क्रमश चौरासी से विभक्त एक कम चार सौ (३९९), दो सौ चवालीस, एक कम दो सौ (१९९) और चौरासी, ये चार गुणकार है ॥२२९॥

$\frac{७ \times ३९९}{५८८} = \frac{३९९}{८४}$, $\frac{७ \times २४४}{५८८} = \frac{२४४}{८४}$, $\frac{७ \times १९९}{५८८} = \frac{१९९}{८४}$, $\frac{७ \times ८४}{५८८} = \frac{८४}{८४}$ ।

विशेषार्थ– मेरु सदृश लोक का विस्तार तल भाग मे ६ राजू है। इससे $\frac{४}{३}$ राजू ऊपर जाकर लोकमेरु का विस्तार इस प्रकार प्राप्त होता है। यथा—एक राजू ऊपर जाने पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है, अतः $\frac{४}{३}$ राजू की ऊँचाई पर $(\frac{५}{१४} \times \frac{४}{३}) = \frac{१०}{२१}$ राजू की हानि हुई। इसे ६ राजू विस्तार में से घटा देने पर $(\frac{६}{१} - \frac{१०}{२१}) = \frac{११६}{२१}$ राजू भद्रशालवन पर लोकमेरु का विस्तार है। क्योंकि एक राजू पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है, अत. $\frac{२}{३}$ राजू की ऊँचाई पर $(\frac{५}{१४} \times \frac{२}{३}) = \frac{५}{२१}$ राजू की हानि हुई। इसे पूर्ण विस्तार $\frac{११६}{२१}$ मे से घटा देने पर $(\frac{११६}{२१} - \frac{५}{२१}) = \frac{१११}{२१}$ राजू विस्तार नन्दनवन पर लोकमेरु का है। क्योंकि एक राजू पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है अत $\frac{३}{२}$ राजू पर $(\frac{५}{१४} - \frac{३}{२}) = \frac{१५}{२८}$ राजू की हानि प्राप्त हुई। इसे पूर्व विस्तार $\frac{१११}{२१}$ में से घटाने पर $(\frac{१११}{२१} - \frac{१५}{२८}) = \frac{३९९}{८४}$ राजू समविस्तार के

१. ब. क. इगवीसे वि । द. इगवीसे वि तहत्था तिसु ठाणेसु ठविय हवति । ज. ठ. तिहत्ता ।

ऊपर का विस्तार प्राप्त होता है। क्योकि एक राजू की ऊँचाई पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है अतः $\frac{३१}{६}$ राजू पर ($\frac{३१}{६}$ × $\frac{५}{१४}$) = $\frac{१५५}{८४}$ राजू की हानि हुई।

इसे पूर्व विस्तार $\frac{३९९}{८४}$ मे से घटा देने पर ($\frac{३९९}{८४}$ — $\frac{१५५}{८४}$) = $\frac{२४४}{८४}$ राजू सौमनस वन पर लोकमेरु का विस्तार होता है। क्योकि एक राजू पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है अत $\frac{३}{२}$ राजू पर ($\frac{३}{२}$ × $\frac{५}{१४}$) = $\frac{१५}{२८}$ राजू की हानि हुई। इसे पूर्वोक्त विस्तार $\frac{२४४}{८४}$ मे से घटाने पर ($\frac{२४४}{८४}$ — $\frac{१५}{२८}$) = $\frac{१९९}{८४}$ राजू सौमनस वन के समरुन्द्र भाग के ऊपर का विस्तार है। क्योकि एक राजू पर $\frac{५}{१४}$ राजू की हानि होती है अत $\frac{२३}{६}$ राजू पर ($\frac{२३}{६}$ × $\frac{५}{१४}$) = $\frac{११५}{८४}$ राजू की हानि हुई। इसे पूर्वोक्त विस्तार $\frac{१९९}{८४}$ मे से घटा देने पर ($\frac{१९९}{८४}$ — $\frac{११५}{८४}$) = $\frac{८४}{८४}$ अर्थात् पाण्डुकवन पर लोकमेरु का विस्तार एक राजू प्राप्त होता है ॥२२७-२२९॥

घनफल प्राप्त करने हेतु गुणकार एवं भागहार

मंदर-सरिसम्मि जगे, सत्तसु ठाणेसु ठविय रज्जु-घणं।
हेट्ठादु घणफल स य, वोच्छं गुणगार-हाराणि ॥२३०॥

चउसीदि-चउसयाणं, सत्तावीसाधिया य दोण्णि सया।
एक्कोण-चउ-सयाइं, वीस-सहस्सा विहीण-सगसट्ठी ॥२३१॥

एक्कोणा दोण्णि-सया, पण-सट्ठि-सयाइ णव-जुदाणि पि।
पंचत्तालं एदे, गुणगारा सत्त - ठाणेसु ॥२३२॥

अर्थ—मन्दर के सदृश लोक मे घनफल लाने के लिए नीचे से सात स्थानों मे घनराजू को रखकर गुणकार और भागहार कहते है ॥२३०॥

अर्थ—चार सौ चौरासी, दो सौ सत्ताईस, एक कम चार सौ अर्थात् तीन सौ निन्यानवे, सड़सठ कम बीस हजार, एक कम दो सौ, नौ अधिक पैंसठ सौ और पैंतालीस, ये क्रम से सात स्थानों मे सात गुणकार है ॥२३१-२३२॥

विशेषार्थ—लोकमेरु के सात खण्ड किये गये है। इन सातो खण्डो का भिन्न-भिन्न घनफल प्राप्त करने के लिए "मुख-भूमि जोगदले पदहदे" सूत्रानुसार प्रक्रिया करनी चाहिए। यथा—लोकमेरु अर्थात् प्रथम खण्ड की जड की भूमि $\frac{१२५}{२१}$ + $\frac{११७}{२१}$ मुख = $\frac{२४२}{२१}$, तथा घनफल = $\frac{२४२}{२१}$ × $\frac{१}{२}$ × $\frac{४}{३}$ × $\frac{७}{१}$ = $\frac{४८४}{९}$ घनराजू है। [यहाँ भूमि और मुख के योग को आधा करके $\frac{४}{३}$ राजू ऊँचाई और ७ राजू मोटाई से गुणित किया गया है। यही नियम सर्वत्र जानना चाहिए।]

भद्रशालवन से नन्दनवन अर्थात् द्वितीय खण्ड की भूमि $\frac{११५}{२१}+\frac{११२}{२१}$ मुख $=\frac{२२७}{२१}$ तथा घनफल $=\frac{२२७}{२१}\times\frac{१}{२}\times\frac{२}{३}\times\frac{७}{१}=\frac{२२७}{९}$ घनराजू प्राप्त होता है।

नन्दनवन से समविस्तार क्षेत्र तक अर्थात् तृतीय खण्ड की भूमि $\frac{३९९}{८४}+\frac{३९९}{८४}$ मुख, $\frac{७९८}{८४}$, तथा घनफल $=\frac{७९८}{८४}\times\frac{१}{२}\times\frac{३}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{३९९}{८}$ घनराजू तृतीय खण्ड का घनफल है।

समविस्तार से सौमनसवन अर्थात् चतुर्थ खण्ड की भूमि $\frac{३९९}{८४}+\frac{२४४}{८४}$ मुख $=\frac{६४३}{८४}$, तथा घनफल $=\frac{६४३}{८४}\times\frac{१}{२}\times\frac{३१}{६}\times\frac{७}{१}=\frac{१९९३३}{१४४}$ घनराजू चतुर्थ खण्ड का घनफल है।

सौमनसवन के ऊपर सम विस्तार क्षेत्र तक अर्थात् पंचम खण्ड की भूमि $\frac{१९९}{८४}+\frac{१९९}{८४}=\frac{३९८}{८४}$ तथा घनफल $=\frac{३९८}{८४}\times\frac{१}{२}\times\frac{३}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{१९९}{८}$ घनराजू है।

समविस्तार क्षेत्र से ऊपर पाण्डुकवन तक अर्थात् षष्ठ खण्ड की भूमि $\frac{१९९}{८४}+\frac{८४}{८४}$ मुख $=\frac{२८३}{८४}$ तथा घनफल $=\frac{२८३}{८४}\times\frac{१}{२}\times\frac{२३}{६}\times\frac{७}{१}=\frac{६५०९}{१४४}$ घनराजू प्राप्त होता है।

पाण्डुकवन के ऊपर चूलिका अर्थात् सप्तम खण्ड की भूमि $\frac{४५}{५६}+\frac{१५}{५६}$ मुख $=\frac{६०}{५६}$ तथा घनफल $=\frac{६०}{५६}\times\frac{१}{२}\times\frac{३}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{४५}{८}$ घनराजू चूलिका का घनफल है ॥२३०-२३२॥

सप्त स्थानों के भागहार एवं मन्दरमेरु लोक का घनफल

णव णव [1]अट्ठ य बारस-वग्गो अट्ठ सयं च चउदालं।
अट्ठं एदे कमसो, हारा सत्तेसु ठाणेसु ॥२३३॥

$$\left|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{४८४}{९}\right|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{२२७}{९}\left|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{३९९}{८}\right|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{१९९३३}{१४४}\left|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{१९९}{८}\right|$$

$$\left|\frac{\equiv}{३४३}\cdot\frac{६५०९}{१४४}\right|\frac{\equiv}{३४३}\;\frac{४५}{८}\Big|$$

अर्थ—नौ, नौ, आठ, बारह का वर्ग, आठ, एक सौ चवालीस और आठ, ये क्रमशः सात स्थानों में सात—भागहार हैं ॥२३३॥

विशेषार्थ—इन सातों खण्डों के घनफलों का योग इस प्रकार है—

---

1. द. ब. अट्ठं बारसवग्गे णवणव अट्ठय। ज. क. ठ. अट्ठं बारसवग्गे णवणव अट्ठय।

$$\frac{४८४}{९}+\frac{२२७}{९}+\frac{३९९}{८}+\frac{१९९३३}{१४४}+\frac{१९९}{८}+\frac{६५०९}{१४४}+\frac{४५}{८}=$$

$$\frac{७७४४+३६३२+७१८२+१९९३३+३५८२+६५०९+८१०}{१४४}=\frac{४९३९२}{१४४}$$

अर्थात् लोकमन्दर मेरु का सम्पूर्ण घनफल ३४३ घनराजू प्राप्त होता है।

दूष्यलोक का घनफल और उसकी आकृति

[1]सत्त-हिद-दु-गुण-लोगो, विदफलं बाहिरुभय-बाहूणं।
पण-भजि-दु-गुणं लोगो, दूसस्सब्भंतरोभय-भुजाणं ॥२३४॥

| ≡ २ | ≡ २ |
| ७ | ५ |

अर्थ—दूष्य क्षेत्र की बाहरी दोनों भुजाओं का घनफल सात से भाजित और दो से गुणित लोकप्रमाण होता है। तथा भीतरी दोनों भुजाओं का घनफल पांच से भाजित और दो से गुणित लोकप्रमाण है ॥२३४॥

विशेषार्थ—दूष्य नाम डेरे का है। ३४३ घनराजू प्रमाण वाले लोक की रचना दूष्याकार करने पर इसकी आकृति इस प्रकार से होगी—

१. ज. ठ. सत्त हिद दुगु लोगो। द. सत्त हिद दुगु लोगो।
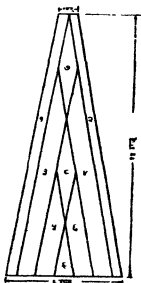
इस लोक दूष्याकार की भूमि ६ राजू, मुख एक राजू, ऊँचाई १४ राजू और वेध ७ राजू है। इस दूष्य क्षेत्र की दोनों बाहरी भुजाओं अर्थात् क्षेत्र संख्या १ और २ का घनफल इस प्रकार है—

सख्या एक और दो के क्षेत्रों में भूमि और मुख का अभाव है। क्षेत्र विस्तार $\frac{१}{२}$ राजू, ऊँचाई १४ राजू और वेध ७ राजू है, अतः $\frac{१}{२} \times \frac{१४}{१} \times \frac{७}{१} \times \frac{२}{१} =$ ९८ घनराजू घनफल दोनों बाहरी भुजाओं वाले क्षेत्रों का है।

भीतरी दोनो भुजाओं का अर्थात् क्षेत्र संख्या ३ और ४ का घनफल इस प्रकार है—इन क्षेत्रों की ऊँचाई में मुख $\frac{४९}{५}$ और भूमि $\frac{४९}{५}$ राजू है। दोनों का योग $\frac{४९}{५} + \frac{४९}{५} = \frac{९८}{५}$ राजू हुआ। इनका विस्तार एक राजू और वेध (मोटाई) ७ राजू है, अतः $\frac{९८}{५} \times \frac{१}{२} \times \frac{१}{१} \times \frac{७}{१} \times \frac{२}{१} = \frac{६८६}{५}$ अर्थात् १३७$\frac{१}{५}$ घनराजू दोनों भीतरी क्षेत्रो का घनफल प्राप्त होता है।

तस्साइं लहु-बाहुं, [1]छग्गुण-लोओ अ पणतीस-हिदो।
विदफलं जव-खेत्ते, लोओ [2]सत्तेहि पविहत्तो ॥२३५॥

$$\left| \frac{\equiv \; ६}{३५} \right| \left. \frac{\equiv}{७} \right|$$

अर्थ– इसी क्षेत्र मे उसके लघु बाहु का घनफल छह से गुणित और पैंतीस से भाजित लोक-प्रमाण, तथा यवक्षेत्र का घनफल सात से विभक्त लोकप्रमाण है ॥२३५॥

विशेषार्थ—अभ्यन्तर लघु बाहुओं अर्थात् क्षेत्र सख्या ५ और ६ का घनफल इस प्रकार है—दोनो क्षेत्रो की भूमि ऊँचाई मे $\frac{१४}{५}$ और मुख $\frac{२८}{५}$ राजू है। दोनो का योगफल $\left(\frac{२८}{५} + \frac{१४}{५}\right) = \frac{४२}{५}$ राजू है, अतः $\frac{४२}{५} \times \frac{१}{२} \times \frac{१}{१} \times \frac{७}{१} \times \frac{२}{१} = \frac{२९४}{५}$ अर्थात् ५८$\frac{४}{५}$ घनराजू हुआ। आकृति के मध्य में बने हुए दो पूर्ण यव और एक अर्धयव अर्थात् क्षेत्र संख्या ७-८ और ९ का घनफल इस प्रकार है—

अर्ध यव की भूमि १ राजू, मुख ०, ऊँचाई $\frac{२८}{५}$ राजू तथा वेध ७ राजू है। आकृति में दो यव पूर्ण एवं एक यव आधा है, अतः $\frac{५}{२}$ से गुणित करने पर घनफल $= \left(\frac{१}{१} + ०\right) \times \frac{१}{२} \times \frac{२८}{५} \times \frac{७}{१} \times \frac{५}{२} =$ ४९ घनराजू यव क्षेत्रो का घनफल प्राप्त होता है। इन चारों क्षेत्रो का अर्थात् दूष्यक्षेत्र का एकत्र घनफल इस प्रकार होगा—

९८ + १३७$\frac{१}{५}$ + ५८$\frac{४}{५}$ + ४९ = ३४३ घनराजू घनफल प्राप्त होता है।

१. द. क. ब. ठ. तग्गुणलोओ अप्पट्टिसहिदाओ। ब. तग्गुणलोओ अ पट्टिसहिदाओ। २. द. ब. क. ज. ठ. सत्ते वि।

गिरिकटक लोक का घनफल और उसकी आकृति

एक्कस्सि गिरिगडए, विदफलं पंचतीस हिद लोगो ।
तं पणतीसप्पहिदं, सेढि-घणं घणफलं तम्हि ॥२३६॥

$$| \frac{\equiv}{३५} | \equiv |$$

अर्थ--एक गिरिकटक का घनफल लोक के घनफल में ३५ का भाग देने पर ($\frac{\equiv}{३५}$ रूप में) प्राप्त होता है। जब इसमें ($\frac{३४३}{३५}$ में) ३५ का गुणा किया जाता है तब (सम्पूर्ण गिरिकटक लोक का) घनफल श्रेणीघन ($\equiv$ रूप मे) प्राप्त हो जाता है ॥२३६॥

विशेषार्थ—३४३ घनराजू प्रमाण वाले लोक का गिरिकटक की रचना के माध्यम से घनफल निकाला गया है। गिरि (पर्वत) नीचे चौड़े और ऊपर सँकरे होते हैं किन्तु कटक इनसे विपरीत अर्थात् नीचे सँकरे और ऊपर चौड़े होते हैं। यथा—
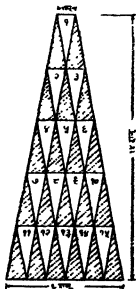
उपर्युक्त लोकगिरिकटक के चित्रण में २० गिरि और १५ कटक प्राप्त होते हैं। इन गिरि और कटक दोनों का विस्तार एवं ऊँचाई आदि सदृश ही हैं। इनका घनफल इस प्रकार है—

एक गिरि या कटक का भूमि-विस्तार १ राजू, मुख ०, ऊँचाई $\frac{१४}{५}$ राजू और वेध ७ राजू है अत $\{ (\frac{१}{१}+०) \div \frac{१}{१} \} \times \frac{१}{२} \times \frac{१४}{५} \times \frac{७}{१} = \frac{४९}{५}$ घनराजू एक गिरि या एक कटक का घनफल प्राप्त हुआ। जब एक गिरि या कटक का घनफल $\frac{३४३}{३५}$ अर्थात् $\frac{४९}{५}$ घनराजू है, तब (२० + १५) = ३५ गिरिकटको का कितना घनफल होगा ? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर $\frac{४९}{५} \times \frac{३५}{१} = ३४३$ घनराजू अर्थात् ३५ गिरिकटको से व्याप्त सम्पूर्ण लोक का घनफल ३४३ घनराजू प्राप्त होता है।

अधोलोक का घनफल कहने की प्रतिज्ञा

एवं अट्ठ-वियप्पा, सयलजगे वण्णिदा समासेण।
एण्हं अट्ठ-पयारं, हेट्ठिम लोयस्स वोच्छामि ।।२३७।।

अर्थ—इस प्रकार आठ विकल्पो मे समस्त लोको का सक्षेप मे वर्णन किया गया है। इसी प्रकार अधोलोक के आठ प्रकारो का वर्णन करूगा ।।२३७।।

सामान्य एव ऊर्ध्वायत (आयत चतुरस्र) अधोलोक का घनफल एव आकृतियाँ

सामण्णे विदफलं, सत्तहिदो होदि चउगुणो लोगो।
विदिए वेद भुजाओ, सेढी कोडी य चउरज्जू ।।२३८।।

$$\left| \frac{\equiv}{७} \; ४ \right| - \left| — \left| \frac{-}{७} \; ४ \right| \right.$$

अर्थ—सामान्य अधोलोक का घनफल लोक के घनफल ($\equiv$) मे ४ का गुणा एव ७ का भाग देने पर प्राप्त होता है और दूसरे आयत चतुरस्र क्षेत्र की भुजा एव वेध श्रेणीप्रमाण तथा कोटि ४ राजू प्रमाण है। अर्थात् भुजा ७ राजू, वेध सात राजू और कोटि चार राजू प्रमाण है ।।२३८।।

विशेषार्थ—१. सामान्य अधोलोक का घनफल –

सामान्य अधोलोक की भूमि ७ राजू और मुख एक राजू है, इन दोनों को जोड़कर उसका आधा करने से जो लब्ध प्राप्त हो उसमें ७ राजू ऊँचाई और ७ राजू वेध का गुणा करने से घनफल प्राप्त होता है। यथा—(७ + १) = ८ ÷ २ = ४ × ७ × ७ = १९६ घनराजू सामान्य अधोलोक का घनफल है। इसका चित्रण इस प्रकार है—

१. सामान्य अधोलोक का चित्रण—
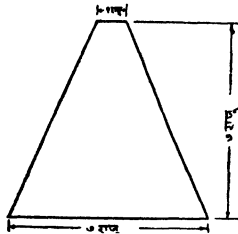
२. आयतचतुरस्र अर्थात् ऊर्द्धायत अधोलोक का घनफल—

ऊर्द्ध ता अर्थात् लम्बे और चौकोर क्षेत्र के घनफल को ऊर्द्धायत घनफल कहते है। सामान्य अधोलोक की चौड़ाई के मध्य मे अ और ब नाम के दो खण्ड कर ब खण्ड के समीप अ खण्ड को उल्टा रख देने से आयत चतुरस्र क्षेत्र बन जाता है। यथा—
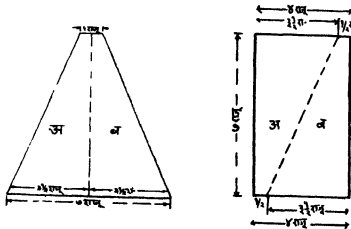
घनफल—इस आयतचतुरस्र (ऊर्द्धायत) क्षेत्र की भुजा, श्रेणी प्रमाण अर्थात् ७ राजू, कोटि ४ राजू और वेध ७ राजू है, अतः ७×४×७=१९६ घनराजू आयतचतुरस्र अधोलोक का घनफल है।

३. तिर्यगायत अधोलोक का घनफल— (त्रिलोकसार गा० ११५ के आधार से)

जिस क्षेत्र की लम्बाई अधिक और ऊँचाई कम हो उसे तिर्यगायत क्षेत्र कहते हैं। अधोलोक की भूमि ७ राजू और मुख १ राजू है। ७ राजू ऊँचाई के समान दो भाग करने पर नीचे (संख्या १) का भाग ३$\frac{१}{२}$ राजू ऊँचा, ७ राजू भूमि, ४ राजू मुख और ७ राजू वेध (मोटाई) वाला हो जाता है। ऊपर के भाग के चौडाई की अपेक्षा दो भाग करने पर प्रत्येक भाग ३$\frac{१}{२}$ राजू ऊँचा, २ राजू भूमि, $\frac{१}{२}$ राजू मुख और ७ राजू वेध वाला प्राप्त होता है। इन दोनों (संख्या २ और संख्या ३) भागों को नीचे वाले (संख्या १) भाग के दायीं और बायीं ओर उलट कर स्थापन करने से ३$\frac{१}{२}$ राजू ऊँचा और आठ राजू लम्बा तिर्यगायत क्षेत्र बन जाता है।
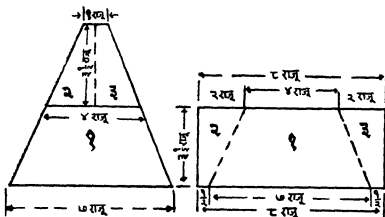
घनफल—यह आयतक्षेत्र ८ राजू लम्बा, ३$\frac{१}{२}$ राजू चौडा और ७ राजू मोटा है, अतः $\frac{८}{१} \times \frac{७}{२} \times \frac{७}{१} = १९६$ घनराजू तिर्यगायत अधोलोक का घनफल प्राप्त हो जाता है।

यवमुरज अधोलोक की आकृति एवं घनफल

खेत्त-जवे विंदफलं, चोद्दस-भजिदो य तिय-गुणो लोओ।
मुरव-मही विंदफलं, चोद्दस भजिदो य पण-गुणो लोओ ॥२३६॥

$$\left| \frac{\equiv}{१४} \; ३ \right| \frac{\equiv}{१४} \; ५ \left| \right.$$

अर्थ—(यव-मुरजक्षेत्र मे) यवाकार क्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित और तीन से गुणित लोक-प्रमाण तथा मुरजक्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित और पाँच से गुणित लोकप्रमाण है ।।२३९।।

विशेषार्थ—४. अधोलोक को यव (जौ अन्न) और मुरज (मृदङ्ग) के आकार में विभक्त करना यवमुरजाकार कहलाता है । इसकी आकृति इस प्रकार है—
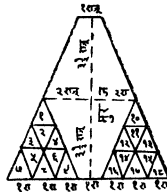
उपर्युक्त चित्रगत अधोलोक मे यवक्षेत्र का घनफल -

अधोलोक के दोनो पार्श्वभागो मे १८ अर्धयव प्राप्त होते है । एक अर्धयव की भूमि १ राजू, मुख०, उत्सेध $\frac{७}{३}$ राजू और वेध ७ राजू है, अत $\frac{१}{२} \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{३} \times \frac{७}{१} = \frac{४९}{१२}$ घनराजू घनफल प्राप्त हुआ । यत: १ अर्धयव का $\frac{४९}{१२}$ घनराजू घनफल है अत १८ अर्धयवो का $\frac{४९}{१२} \times \frac{१८}{१} = \frac{१४७}{२}$ अर्थात् ७३$\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है । लोक (३४३) को १४ से भाजित करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसे ३ से गुणित कर देने पर भी (३४३—१४ = २४$\frac{१}{२}$) × ३ = ७३$\frac{१}{२}$ घनराजू प्राप्त होते है, इसीलिए गाथा मे चौदह से भाजित और तीन से गुणित लोक-प्रमाण घनफल कहा है ।

मुरज का घनफल-- मुरजाकार क्षेत्र को बीच से आधा करने पर अर्धमुरज की भूमि ४ राजू, मुख १ राजू, उत्सेध ३$\frac{१}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है, अतः $(४ + १ = \frac{५}{१}) \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{२} \times \frac{७}{१} = \frac{२४५}{४}$ घनराजू घनफल हुआ । यत: $\frac{१}{२}$ मुरज का घनफल $\frac{२४५}{४}$ घनराजू है अतः सम्पूर्ण मुरज का $\frac{२४५}{४} \times \frac{२}{१} = \frac{२४५}{२}$ अर्थात् १२२$\frac{१}{२}$ घनराजू हुआ । लोक (३४३) को १४ से भाजित कर, लब्ध को ५ से गुणित

करने पर भी (३४३ ÷ १४ = २४½) × ५ = १२२½ घनराजू प्राप्त होता है, इसीलिए गाथा में चौदह से भाजित और पाँच से गुणित मुरज का घनफल कहा है। इस प्रकार ७३½ + १२२½ = १९६ घनराजू यवमुरज अधोलोक का घनफल प्राप्त होता है।

यवमध्य अधोलोक का घनफल एवं आकृति

घणफलमेक्कम्मि जवे, लोओ [1]बादाल-भाजिदो होदि।
त चउवीसप्पहदं, सत्त - हिदो चउ - गुणो लोओ ॥२४०॥

| ≡/४२ | ≡/७ ४ |

अर्थ – यवाकार क्षेत्र मे एक यव का घनफल बयालीस मे भाजित लोकप्रमाण है। उसको चौबीस मे गुणा करने पर सात से भाजित और चार से गुणित लोकप्रमाण समस्त यवमध्यक्षेत्र का घनफल निकलता है ॥२४०॥

विशेषार्थ—५. यवमध्य अधोलोक का घनफल

अधोलोक के सम्पूर्ण क्षेत्र मे यवो की रचना करने को यवमध्य कहते है। सम्पूर्ण अधोलोक मे यवो की रचना करने पर २० पूर्ण यव और ८ अर्धयव प्राप्त होते हैं, जिनकी आकृति इस प्रकार है--

१. क. बादार ए भाजिदो।
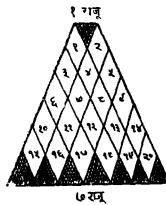
आकृति मे बने हुए ८ अर्धयवो के ४ पूर्ण यव बनाकर सम्पूर्ण अधोलोक मे (२०+४)=२४ पूर्ण यवो की प्राप्ति होती है। प्रत्येक यव के मध्य की चौडाई १ राजू और ऊपर-नीचे की चौडाई शून्य है तथा ऊँचाई $\frac{७}{३}$ राजू और वेध ७ राजू है, अत $\frac{१}{२} \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{३} \times \frac{७}{१} = \frac{४९}{६}$ अर्थात् ८$\frac{१}{६}$ घन-राजू एक यव का घनफल है। लोक (३४३) मे ४२ का भाग देने पर भी ($\frac{३४३}{४२}$)=८$\frac{१}{६}$ प्राप्त होते है, इसीलिए गाथा मे एक यव का घनफल बयालीस से भाजित लोकप्रमाण कहा गया है।

एक यव का घनफल $\frac{४९}{६}$ घनराजू है अत २४ यवो का घनफल $\frac{४९}{६} \times \frac{२४}{१} = १९६$ घनराजू प्राप्त होता है। लोक (३४३) को ७ से भाजित कर ४ से गुणा करने पर भी (३४३ ÷ ७ = ४९ × ४) १९६ घनराजू ही आते है इसीलिए गाथा मे २४ यवो का घनफल सात से भाजित और चार से गुणित लोकप्रमाण कहा गया है।

मन्दरमेरु अधोलोक का घनफल और उसकी आकृति

रज्जूवो ते-भागं,[1] बारस-भागो तहेव सत्त-गुणो।
तेदालं[2] रज्जूओ, बारस-भजिदा हवंति उड्ढुड्ढं ॥२४१॥

$\frac{३}{४}$ । २८ । ७ । $\frac{७}{१२}$ । ७ । $\frac{४३}{१२}$ ।

सत्त-हद-बारसंसा,[3] दिवड्ढ-गरिणदा हवेइ रज्जू य।
मदर - सरिसायामे, उच्छेहा होइ खेत्तम्मि ॥२४२॥

। ८४७ । ९८^{३} ।

अर्थ - मन्दर के सदृश आयाम वाले क्षेत्र मे ऊपर-ऊपर ऊँचाई, क्रम मे एक राजू के चार भागो मे से तीन भाग, बारह भागो मे से सात भाग, बारह से भाजित तेतालीस राजू, राजू के बारह भागो मे से सात भाग और डेढ राजू है ॥२४१-२४२॥

विशेषार्थ – ६. **मन्दरमेरु अधोलोक का घनफल** -

अधोलोक मे सुदर्शन मेरु के आकार की रचना द्वारा घनफल निकालने को मन्दर घनफल कहते है।

अधोलोक सात राजू ऊँचा है, उसमें नीचे से ऊपर की ओर ($\frac{१}{२} + \frac{१}{४}$) = $\frac{३}{४}$ राजू के प्रथम व द्वितीय खण्ड बने है। इनमे $\frac{१}{२}$ राजू, पृथिवी मे सुदर्शन मेरु की जड अर्थात् १००० योजन के और $\frac{१}{४}$

१ द ब ज क ठ तेदाल। २ द. ज. ठ तेत्तत, ब क तेलभ। ३ ब. क. बारससां।

राजू, भद्रशालवन से नन्दनवन तक की ऊँचाई अर्थात् ५०० योजन के प्रतीक हैं। इनके ऊपर का तृतीय खण्ड ७/१२ राजू का है जो नन्दनवन से ऊपर समविस्तार क्षेत्र अर्थात् ११००० का द्योतक है। इसके ऊपर का चतुर्थ खण्ड ४३/१२ राजू का है, जो समविस्तार से ऊपर सौमनस वन तक अर्थात् ५१५०० योजन के स्थानीय है। इसके ऊपर पंचम खण्ड ७/१२ राजू का है जो सौमनस वन के ऊपर वाले समविस्तार अर्थात् ११००० योजन का प्रतीक है। इसके ऊपर षष्ठखण्ड ३/२ राजू का है, जो समविस्तार से ऊपर पाण्डुकवन तक अर्थात् २५००० योजन का द्योतक है। इन समस्त खण्डों का योग ७ राजू होना है।

यथा—१/२ + १/४ + ७/१२ + ४३/१२ + ७/१२ + ३/२ = ८४/१२ ७ राजू।

अट्ठावीस-विहत्ता, सेढी मंदर-समम्मि [1]तड-वासे।
[2]चउ-तड - करणक्खंडिद - खेत्तेणं चूलिया होदि ॥२४३॥

। २८१ ।

अट्ठावीस-विहत्ता, सेढी चूलीय होदि मुह-रुंदं।
तत्तिगुणं भू-वासं, सेढी बारस-हिदा तदुच्छेहो ॥२४४॥

। २८१ । २८३ । १२ ।

अर्थ मन्दर सदृश क्षेत्र में तट भाग के विस्तार में से अट्ठाईस से विभक्त जगच्छ्रेणी प्रमाण चार तटवर्ती करणाकार खण्डित क्षेत्रों में चूलिका होती है। अर्थात् तटवर्ती प्रत्येक त्रिकोण की भूमि (२८१) १/४ राजू प्रमाण है ॥२४३॥

अर्थ—इस चूलिका का मुख विस्तार अट्ठाईस से विभक्त जगच्छ्रेणी (२८१) अर्थात् १/४ राजू, भूमि विस्तार इससे तिगुना (२८३) अर्थात् ३/४ राजू और ऊँचाई बारह से भाजित जगच्छ्रेणी (१२) अर्थात् ७/१२ राजू प्रमाण है ॥२४४॥

विशेषार्थ—दोनों समविस्तार क्षेत्रों के दोनों पार्श्वभागों में चार त्रिकोण काटे जाते है, उनमें से प्रत्येक त्रिकोण की भूमि १/४ राजू और ऊँचाई ७/१२ राजू है। इन चारों त्रिकोणों में से तीन त्रिकोण सीधे और एक त्रिकोण को पलटकर उलटा रखने से चूलिका बन जाती है, जिसकी भूमि २८३१ अर्थात् ३/४ राजू, मुख २८१ अर्थात् १/४ राजू और ऊँचाई ७/१२ राजू प्रमाण है।

इस मन्दराकृति का चित्रण इस प्रकार है—

१. द. ब. ज. क. ठ तलवासे। २. द ब. ज. क ठ.
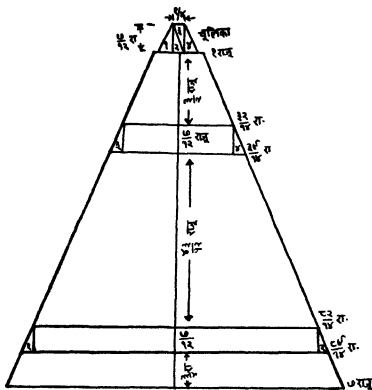
अट्ठाणवदि-विहत्तं, सत्तट्ठाणेसु सेढि उड्ढुड्ढं ।
ठविदूण वास-हेदु, गुणगारं वत्तइस्सामि ।।२४५।।
[1]अडणउदी बाणउदी, उणणवदी तह कमेण बासीदी ।
उणदालं बत्तीसं, चोद्दस इय होंति गुणगारा ।।२४६।।

- ÷ ९८ । - ÷ ९२ । - ÷ ८९ । - ÷ ८२ । - ÷ ३९ । - ÷ ३२ । - ÷ १४ ।

अर्थ—अट्ठानवे से विभक्त जगच्छ्रेणी को ऊपर-ऊपर सात स्थानों में रखकर विस्तार लाने के लिए गुणकार कहता हूँ ।।२४५।।

अर्थ—अट्ठानवे, बानवे, नवासी, बयासी उनतालीस, बत्तीस और चौदह, ये क्रमशः उक्त सात स्थानों मे सात गुणकार है ।।२४६।।

1 क. गुणगारा पणणवदि तह कमेण छासीदी ।

विशेषार्थ—९८ से विभक्त जगच्छ्रेणी अर्थात् $\frac{७}{९८}$ अर्थात् $\frac{१}{१४}$ को ऊपर-ऊपर सात स्थानों पर रखकर क्रम से ९८, ९२, ८९, ८२, ३९, ३२ और १४ का गुणा करने से प्रत्येक क्षेत्र का आयाम प्राप्त हो जाता है। यह आयाम निम्नलिखित प्रक्रिया से भी प्राप्त होता है। यथा—

इस मन्दराकृति अधोलोक की भूमि ७ राजू और मुख १ राजू (७—१) = ६ राजू अवशेष रहा। क्योंकि ७ राजू की ऊँचाई पर ६ राजू की हानि होती है, अतः $\frac{१}{२}$ राजू पर $(\frac{६}{७}\times\frac{१}{२}) = \frac{३}{७}$ राजू की हानि हुई। इसे ७ राजू आयाम में से घटा देने पर $(\frac{७}{१}-\frac{३}{७}) = \frac{४६}{७}$ राजू आयाम $\frac{१}{२}$ राजू की ऊंचाई के उपरितन क्षेत्र का है। [यहाँ $\frac{१}{१४}\times\frac{९८}{१} =$ ७ राजू भूमि विस्तार और $\frac{१}{१४}\times\frac{९२}{१} =$ ६$\frac{४}{७}$ राजू सुमेरु की जड के ऊपर का विस्तार है।] क्योंकि ७ राजू पर ६ राजू की हानि होती है अतः $\frac{१}{४}$ पर $(\frac{६}{७}\times\frac{१}{४}) = \frac{३}{१४}$ राजू की हानि हुई, इसे उपरितन विस्तार $\frac{४६}{७}$ में से घटाने पर $(\frac{४६}{७}-\frac{३}{१४}) = \frac{८९}{१४}$ अर्थात् ६$\frac{५}{१४}$ राजू नन्दनवन की तलहटी का विस्तार है। क्योंकि ७ राजू पर ६ राजू की हानि होती है अतः $\frac{७}{१२}$ राजू पर $(\frac{६}{७}\times\frac{७}{१२}) = \frac{१}{२}$ राजू की हानि हुई। इसे नन्दनवन की तलहटी के विस्तार $\frac{८९}{१४}$ राजू में से घटा देने पर $\frac{८९}{१४}-\frac{१}{२} = \frac{८२}{१४} =$ ५$\frac{६}{७}$ राजू समविस्तार के उपरितन क्षेत्र का आयाम है।

जब ७ राजू की ऊँचाई पर ६ राजू की हानि होती है तब $\frac{४३}{१२}$ राजू पर $(\frac{६}{७}\times\frac{४३}{१२}) = \frac{४३}{१४}$ अर्थात् ३$\frac{१}{१४}$ राजू की हानि हुई। इसे उपरितन आयाम $\frac{८२}{१४}$ राजू में से घटा देने पर $\frac{८२}{१४}-\frac{४३}{१४}=\frac{३९}{१४}$ या २$\frac{११}{१४}$ राजू सौमनसवन के उपरितन क्षेत्र का आयाम है, क्योंकि ७ राजू पर ६ राजू की हानि होती है अतः $\frac{७}{१२}$ राजू पर $(\frac{६}{७}\times\frac{७}{१२}) = \frac{१}{२}$ राजू की हानि हुई। इसे $\frac{३९}{१४}$ राजू में से घटा देने पर $\frac{३९}{१४}-\frac{१}{२}=\frac{३२}{१४}$ अर्थात् २$\frac{२}{७}$ राजू समविस्तार के उपरितन क्षेत्र का आयाम है। क्योंकि ७ राजू पर ६ राजू की हानि होती है अतः $\frac{३}{२}$ राजू पर $(\frac{६}{७}\times\frac{३}{२}) = \frac{९}{७}$ राजू की हानि हुई। इसे उपरिम विस्तार $\frac{३२}{१४}$ राजू में से घटा देने पर $(\frac{३२}{१४}-\frac{९}{७}) = \frac{१४}{१४}$ अर्थात् १ राजू का विस्तार पाण्डुकवन की तलहटी का आयाम है।

हेट्ठादो रज्जु-घणा, सत्तट्ठाणेसु ठविय उड्ढुड्ढे।
[1]गुणगार-भागहारे, विंदफले तण्णिरूवेमो ॥२४७॥

गुणगारा पणणउदी, [2]एक्कासीदेहि जुत्तमेक्क-सयं।
[3]सगसीदेहिं दु-सयं, तियधियदुसया पण-सहस्सा ॥२४८॥

अडवीसंउ णहत्तरि, उणवण्णं उवरि-उवरि हारा य।
चउ चउवग्गं बारस, अडदालं ति-चउक्क-चउवीस ॥२४९॥

१ द ठविदूण वासहेदु, ब. ज ठ ठविदूण वासहेदु, क. ठविदूण वासहेदु गुणगारं वत्त इस्सामि। २. द. ब क. ज ठ एक्कासीदेहि। ३. द ब सगसीसेदि दुस्सतियधियदुसेया।

≡ ९५	≡ १८१	≡ २८७	≡ ५२०३	≡ २८
३४३ । ४	३४३ । १६	३४३ । १२	३४३ । ४८	३४३ । ३

≡ ६९	≡ ४९
३४३ । ४	३४३ । २४

अर्थ—नीचे मे ऊपर-ऊपर सात स्थानो मे घनराजू को रखकर घनफल को जानने के लिए गुणाकार और भागहार को कहता हूँ ॥२४७॥

उक्त सात स्थानो मे पचानवे, एक सौ इक्यासी, दो सौ सतासी, पाँच हजार दो सौ तीन, अट्ठाईस, उनहत्तर और उनचास ये सात गुणकार तथा चार चार का वर्ग (१६), बारह, अडतालीस, तीन, चार और चौबीस ये सात भागहार है ॥२४८-२४९॥

विशेषार्थ--मन्दराकृति अधोलोक के सात खण्ड किये गये है, इन सातो खण्डो का पृथक्-पृथक् घनफल इस प्रकार है –

प्रथम खण्ड—भूमि ७ राजू, मुख $\frac{९२}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{१}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है अत: $(\frac{७}{१}+\frac{९२}{१४})=\frac{१९०}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{९५}{४}$ घनराजू प्रथम खण्ड का घनफल है।

द्वितीय खण्ड—इसकी भूमि $\frac{९२}{१४}$ राजू, मुख $\frac{८९}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{१}{४}$ राजू, वेध ७ राजू है, अत $(\frac{९२}{१४}+\frac{८९}{१४})=\frac{१८१}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{४}\times\frac{७}{१}=\frac{१८१}{१६}$ घनराजू द्वितीय खण्ड का घनफल है।

तृतीय खण्ड—इसकी भूमि $\frac{८२}{१४}$ राजू मुख $\frac{८२}{१४}$ राजू ऊँचाई $\frac{७}{१२}$ राजू और वेध ७ राजू है अत $(\frac{८२}{१४}+\frac{८२}{१४})=\frac{१६४}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१२}\times\frac{७}{१}=\frac{२८७}{१२}$ घनराजू तृतीय खण्ड का घनफल है।

चतुर्थ खण्ड—इसकी भूमि $\frac{८२}{१४}$ राजू, मुख $\frac{३९}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{४३}{१२}$ राजू और वेध ७ राजू है अत $(\frac{८२}{१४}+\frac{३९}{१४})=\frac{१२१}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{४३}{१२}\times\frac{७}{१}=\frac{५२०३}{४८}$ घनराजू चतुर्थ खण्ड का घनफल है।

पचम खण्ड—इसकी भूमि $\frac{३२}{१४}$ राजू मुख $\frac{३२}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{१२}$ राजू और वेध ७ राजू है, अत $(\frac{३२}{१४}+\frac{३२}{१४})=\frac{६४}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१२}\times\frac{७}{१}=\frac{२८}{३}$ घनराजू पचम खण्ड का घनफल है।

नोट—तृतीय और पचम खण्ड की भूमि क्रमश $\frac{८६}{१४}$ राजू और $\frac{३६}{१४}$ राजू थी, किन्तु चार त्रिकोण कट जाने के कारण $\frac{८२}{१४}$ और $\frac{३२}{१४}$ राजू ही ग्रहण किये गये है।

षष्ठ खण्ड—इसकी भूमि $\frac{३२}{१४}$ राजू, मुख $\frac{१४}{१४}$ राजू, ऊँचाई $\frac{३}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है अत $(\frac{३२}{१४}+\frac{१४}{१४})=\frac{४६}{१४}\times\frac{१}{२}\times\frac{३}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{६९}{४}$ घनराजू षष्ठ खण्ड का घनफल है।

सप्तम खण्ड—इसकी भूमि $\frac{२१}{२८}$ राजू, मुख $\frac{७}{२८}$ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{१२}$ राजू और वेध ७ राजू है अत $(\frac{२१}{२८}+\frac{७}{२८})=\frac{२८}{२८}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१२}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{२४}$ घनराजू सप्तम खण्ड अर्थात् चूलिका का घनफल है।

इस प्रकार— $\frac{९५}{४} + \frac{१८१}{१६} + \frac{२८७}{१२} + \frac{५२०३}{४८} + \frac{२८}{३} + \frac{६९}{४} + \frac{४९}{२४}$

$= ११४० + ५४३ + ११४८ + ५२०३ + ४४८ + ८२८ + ९८ = \frac{९४०८}{४८}$

अर्थात् १९६ घनराजू सम्पूर्ण मन्दरमेरु अधोलोक का घनफल है।

दूष्य अधोलोक की आकृति

७. दूष्य अधोलोक का घनफल—दूष्य का अर्थ डेरा [TENT] होता है, अधोलोक के मध्यक्षेत्र मे डेरो की रचना करके घनफल निकालने को दूष्य घनफल कहते हैं। इसकी आकृति इस प्रकार है—
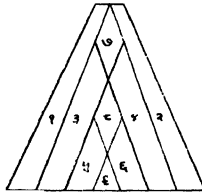
दूष्य अधोलोक का घनफल

चोद्दस-भजिदो [1]ति-गुणो, विंदफलं बाहिरुभय-बाहूणं।
लोओ पंच-विहत्तो[2], दूसस्सब्भंतरोभय-भुजाणं ॥२५०॥

| $\frac{\equiv}{१४}$ ३ | $\equiv$ ५ |

[3]तस्साइं लहु-बाहू, ति-गुणिय लोओ य पणतीस-हिदो।
विंदफलं जव-खेत्ते, चोद्दस-भजिदो हवे लोओ ॥२५१॥

| $\frac{\equiv}{३५}$ ३ | $\frac{\equiv}{१४}$ |

१. द. ब. ज. क. ठ वियदि। २. द. ब. ज. ठ. एक-विहत्त। ३. ब. क. ज. ठ. सत्ताइं।

अर्थ—दूष्य क्षेत्र में १४ से भाजित और ३ से गुणित लोकप्रमाण बाह्य उभय बाहुओं का और पांच से विभक्त लोकप्रमाण अभ्यन्तर दोनो बाहुओ का घनफल है ॥२५०॥

इसी क्षेत्र में लघु बाहुओ का घनफल तीन से गुणित और पैंतीस से भाजित लोकप्रमाण तथा यवक्षेत्र का घनफल चौदह से भाजित लोकप्रमाण है ॥२५१॥

विशेषार्थ- इस दूष्य क्षेत्र को बाह्य भुजा अर्थात् सख्या १ और २ का घनफल निम्न-प्रकार है—

भूमि १ राजू, मुख $\frac{१}{२}$ राजू ऊँचाई ७ राजू और वेध ७ राजू है अत $(\frac{१}{१}+\frac{१}{२})=\frac{३}{२}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{१}\times\frac{७}{१}\times\frac{२}{१}=\frac{१४७}{२}$ अर्थात् ७३$\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल है। लोक (३४३) को १४ से भाजित कर जो लब्ध आवे उसको ३ से गुणित कर देने पर भी $(३४३\div१४=२४\frac{१}{२}\times३)=७३\frac{१}{२}$ घनराजू ही आते हैं इसलिए गाथा मे बाह्य बाहुओ का घनफल चौदह से भाजित और तीन से गुणित (७३$\frac{१}{२}$) कहा है।

अभ्यन्तर दोनो बाहुओ अर्थात् क्षेत्र सख्या ३ और ४ का घनफल इस प्रकार है—(ऊँचाई मे भूमि $\frac{३५}{५}+\frac{२१}{५}$ मुख $=\frac{५६}{५}$) $\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{४}\times\frac{२}{१}=\frac{३४३}{५}$ अर्थात ६८$\frac{३}{५}$ घनराजू घनफल है। इसीलिए गाथा मे पाँच से भाजित लोकप्रमाण घनफल अभ्यन्तर बाहुओं का कहा है।

अभ्यन्तर दोनो लघु-बाहुओ अर्थात् क्षेत्र सख्या ५ और ६ का घनफल इस प्रकार है—(ऊँचाई मे भूमि $\frac{१४}{५}+\frac{७}{५}$ मुख $=\frac{२१}{५}$) $\times\frac{१}{२}\times\frac{१}{१}\times\frac{७}{१}\times\frac{२}{१}=\frac{१४७}{५}=२९\frac{२}{५}$ घनराजू घनफल है। लोक (३४३) को तीन से गुणित करके लब्ध मे ३५ का भाग देने पर भी $(३४३\times३=१०२९\div३५)=२९\frac{२}{५}$ घनराजू ही प्राप्त होते हैं इसलिए गाथा मे तीन मे गुणित और ३५ से भाजित अभ्यन्तर दोनों लघु-बाहुओं का घनफल कहा गया है।

२$\frac{१}{२}$ यवों अर्थात् क्षेत्र सख्या ७, ८ और ९ का घनफल इस प्रकार है—एक यव की भूमि १ राजू, मुख ० ऊँचाई $\frac{१४}{५}$ और वेध ७ है, तथा ऐसे यव $\frac{५}{२}$ हैं, अत $(\frac{१}{१}+०=\frac{१}{१})\times\frac{१}{२}\times\frac{१४}{५}\times\frac{७}{१}\times\frac{५}{२}=\frac{४९}{२}$ अर्थात् २४$\frac{१}{२}$ घनराजू घनफल २$\frac{१}{२}$ यवों का है। लोक को चौदह से भाजित करने पर भी $(३४३\div१४)=२४\frac{१}{२}$ घनराजू ही आते हैं इसीलिए गाथा मे चौदह से भाजित लोक कहा है। इस प्रकार $७३\frac{१}{२}+६८\frac{३}{५}+२९\frac{२}{५}+२४\frac{१}{२}=१९६$ घनराजू घनफल सम्पूर्ण दूष्य अधोलोक का है।

८ गिरि-कटक अधोलोक का घनफल—

गिरि (पहाड़ी) नीचे चौडी और ऊपर सँकरी अर्थात् चोटी युक्त होती है किन्तु कटक इससे विपरीत अर्थात् नीचे सँकरा और ऊपर चौडा होता है। अधोलोक में गिरि-कटक की रचना करने से २७ गिरि और २१ कटक प्राप्त होते हैं। यथा—

गिरिकटक अधोलोक की आकृति
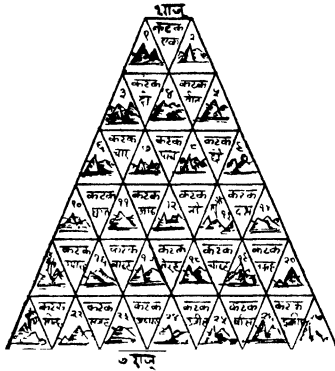
गिरिकटक अधोलोक का घनफल

एक्कस्सिं गिरिगडए,[1] चउसीदी-भाजिदो हवे लोओ ।
तं [2]अट्ठतालपहदं, विदफलं तम्मि खेत्तम्मि ॥२५२॥

| ≡/८४ | ≡/८४ ४८ |

अर्थ—एक गिरिकटक (अर्धयव) क्षेत्र का घनफल चौरासी से भाजित लोकप्रमाण है। इसको अडतालीस से गुणा करने पर कुल गिरिकटक क्षेत्र का घनफल होता है ॥२५२॥

१. द ब गिरिबिडए। क. ज. ठ गिरिविदए। २. क अट्ठमाल।

विशेषार्थ– उपर्युक्त आकृति मे प्रत्येक गिरि एव कटक की भूमि १ राजू, मुख ०, उत्सेध $\frac{७}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है अतः $(\frac{१}{१}+०=\frac{१}{१}) \times \frac{१}{२}\times\frac{७}{२}\times\frac{७}{३}=\frac{४९}{१२}$ घनराजू प्राप्त है। लोक (३४३) को ८४ से भाजित करने पर भी $(३४३ \div ८४)=\frac{४९}{१२}$ प्राप्त होते है, इसीलिए गाथा मे लोक को चौरासी से भाजित करने को कहा गया है।

क्योकि एक गिरि का घनफल $\frac{४९}{१२}$ घनराजू है अत २७ पहाड़ियो का घनफल $\frac{४९}{१२}\times\frac{२७}{१}=\frac{४४१}{४}=११०\frac{१}{४}$ घनराजू होगा। इसी प्रकार जब एक कटक का घनफल $\frac{४९}{१२}$ घनराजू है तब २१ कटकों का घनफल $\frac{४९}{१२}\times\frac{२१}{१}=\frac{३४३}{४}=८५\frac{३}{४}$ घनराजू होना है। इन दोनो घनफलो का योग कर देने पर $(११०\frac{१}{४}+८५\frac{३}{४})$ १९६ घनराजू घनफल सम्पूर्ण गिरिकटक अधोलोक क्षेत्र का प्राप्त होता है।

अधोलोक के वर्णन की समाप्ति एव ऊर्ध्वलोक के वर्णन की सूचना

एवं अट्ठ-वियप्पो,[1] हेट्ठिम-लोओ य वण्णिदो एसो।
एण्हि उवरिम-लोय, अट्ठ-पयारं णिरूवेमो ॥२५३॥

अर्थ—इस प्रकार आठ भेद रूप अधोलोक का वर्णन किया जा चुका है। अब यहाँ से आगे आठ प्रकार के ऊर्ध्व लोक का निरूपण करते हैं ॥२५३॥

विशेषार्थ—इस प्रकार आठ भेद रूप अधोलोक का वर्णन समाप्त करके पूज्य यतिवृषभाचार्य आगे १ सामान्य ऊर्ध्वलोक, २ ऊर्ध्वायत चतुरस्र ऊर्ध्वलोक, ३ तिर्यगायत चतुरस्र ऊर्ध्वलोक, ४. यवमुरज ऊर्ध्वलोक, ५. यवमध्य ऊर्ध्वलोक, ६ मन्दरमेरु ऊर्ध्वलोक, ७ दूष्य ऊर्ध्वलोक और ८ गिरिकटक ऊर्ध्वलोक के भेद मे ऊर्ध्वलोक का घनफल आठ प्रकार मे कहते है।

सामान्य तथा ऊर्ध्वायत चतुरस्र ऊर्ध्वलोक के घनफल एव आकृतियाँ

सामण्णे विंदफलं, सत्त-हिदो होइ ति-गुणिदो[2] लोओ।
बिदिए वेद-भुजाए,[3] सेढी कोडी ति-रज्जूओ ॥२५४॥

$\frac{\equiv}{७}$ ३	—	—	$\frac{-}{७}$ ३

१. द. ब क ज ठ. वियप्पा हेट्ठिम-लोउए। २. द ब तिगुणिदा। ३. द. ब क. ज. ठ भुजासे।

अर्थ—सामान्य ऊर्ध्वलोक का घनफल सात से भाजित और तीन से गुणित लोक के प्रमाण अर्थात् एक सौ सैंतालीस राजू मात्र है।

द्वितीय ऊर्ध्वायत चतुरस्र क्षेत्र में वेध और भुजा जगच्छ्रेणी प्रमाण तथा कोटि तीन राजू मात्र है ।।२५४।।

विशेषार्थ—१ सामान्य ऊर्ध्वलोक की आकृति

सामान्य ऊर्ध्वलोक ब्रह्म स्वर्ग के समीप ५ राजू विस्तार वाला एवं ऊपर नीचे एक-एक राजू विस्तार वाला है अतः ५ राजू भूमि, १ राजू मुख, $\frac{७}{२}$ राजू ऊँचाई और ७ राजू वेध वाले इस ऊर्ध्वलोक के दो भाग कर लेने पर इसका घनफल इस प्रकार होता है—

(भूमि ५ + १ मुख = $\frac{६}{१}$) $\times \frac{१}{२} \times \frac{७}{२} \times \frac{७}{१} \times \frac{२}{१}$ १४७ घनराजू सामान्य ऊर्ध्वलोक का घनफल है।

२ ऊर्ध्वायत चतुरस्र ऊर्ध्वलोक का घनफल—

ऊर्ध्वायत चतुरस्र क्षेत्र की भुजा जगच्छ्रेणी (७ राजू), वेध ७ राजू और कोटि ३ राजू प्रमाण है। यथा—

(चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये)
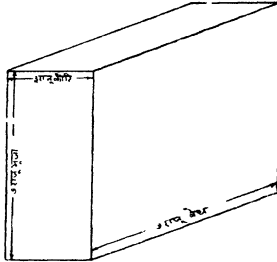
भुजा ७ राजू × कोटि ३ रा० × वेध ७ रा० = १४७ घनराजू ऊर्ध्वायत चतुरस्र क्षेत्र का घनफल है।

नोट—ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त करते समय सामान्य ऊर्ध्वलोक को छोड़कर शेष आकृतियों में ऊर्ध्वलोक की मूल आकृति से प्रयोजन नहीं रखा गया है।

तिर्यगायत चतुरस्र तथा यवमुरज ऊर्ध्वलोक एवं आकृतियाँ

तदिए [1]भुय-कोडीओ, सेढी वेदो[2] वि तिण्णि रज्जूओ।
बहु-जव-मज्झे मुरये[3], जव-मुरयं होदि तक्खेत्तं ॥२५५॥

। – १ । – १ । ७३ ।

तम्मि जवे विंदफलं, लोओ सत्तेहि भाजिदो होदि।
मुरयम्मि य विंदफलं, सत्त-हिदो दु-गुणिदो लोओ ॥२५६॥

| ≡/७ | ≡/७ २ |

१. द. ब. क. ज. ठ. भुविकोडीओ। २. [वेधो]। ३. द. ब. क. ज. ठ. मुरय।

अर्थ—तीसरे तिर्यगायत चतुरस्र क्षेत्र मे भुजा और कोटि जगच्छ्रेणी प्रमाण तथा वेध तीन राजू मात्र है। बहुत से यवो युक्त मुरज-क्षेत्र मे वह क्षेत्र यव और मुरज रूप होता है। इसमें से यव-क्षेत्र का सात से भाजित लोकप्रमाण और मुरज-क्षेत्र का घनफल सात से भाजित और दो से गुणित लोक के प्रमाण होता है ॥२५५-२५६॥

विशेषार्थ—३ तिर्यगायत चतुरस्र क्षेत्र मे भुजा और कोटि श्रेणी (७ रा०) प्रमाण तथा वेध (मोटाई) तीन राजू प्रमाण है। यथा -
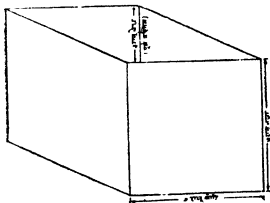
घनफल—यहाँ भुजा अर्थात् ऊँचाई ७ राजू है, उत्तर-दक्षिण कोटि ७ राजू और पूर्व-पश्चिम वेध ३ राजू है, अतः ७×७×३=१४७ घनराजू तिर्यगायत ऊर्ध्वलोक का घनफल प्राप्त होता है।

४. यवमुरज ऊर्ध्वलोक का घनफल—इस यवमुरज क्षेत्र की भूमि ५ राजू, मुख १ राजू और ऊँचाई ७ राजू है। यथा—

(चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये)
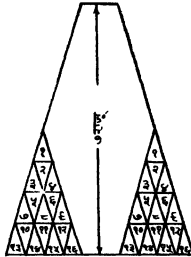
उपर्युक्त आकृति के मध्य में एक मुरज और दोनो पार्श्वभागो मे सोलह-सोलह अर्धयव प्राप्त होते हैं। दोनो पार्श्वभागों के ३२ अर्धयवो के पूर्ण यव १६ होते हैं। एक यव का विस्तार $\frac{१}{२}$ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{४}$ राजू और वेध ७ राजू है, अत. $\frac{१}{२} \times \frac{१}{२}$ (अर्ध किया) $\times \frac{७}{४} \times \frac{७}{१} = \frac{४९}{१६}$ घनराजू घनफल प्राप्त होता है। यत: एक यव का घनफल $\frac{४९}{१६}$ घनराजू है, अत १६ यवों का $(\frac{४९}{१६} \times \frac{१६}{१}) = ४९$ घन-राजू घनफल प्राप्त हुआ।

मुरज के बीच से दो भाग करने पर अर्धमुरज की भूमि ३ राजू, मुख १ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है, इस प्रकार के अर्धमुरज दो हैं, अत $(३+१=\frac{४}{१}) \times \frac{१}{२} \times \frac{७}{२} \times \frac{७}{१} \times \frac{२}{१} = ९८$ घनराजू पूर्ण मुरज का घनफल होता है और दोनो का योग कर देने पर $(४९+९८) = १४७$ घनराजू घनफल यवमुरज ऊर्ध्वलोक का प्राप्त होता है। लोक (३४३) को ७ से भाजित करने पर ४९ और उसी लोक (३४३) को ७ से भाजित कर दो से गुणित कर देने से ९८ घनफल प्राप्त हो जाता है। यही बात गाथा मे दर्शायी गयी है।

यवमध्य ऊर्ध्वलोक का घनफल एवं आकृति

घणफलमेक्कम्मि जवे, अट्ठावीसेहिं भाजिदो लोग्रो।
तं बारसेहि गुणिदं, जव-खेत्ते होदि विंदफलं ॥२५७॥

| ≡ / २८ | ≡ / ७ ३ |

अर्थ—यवमध्य क्षेत्र मे एक यव का घनफल अट्ठाईस से भाजित लोकप्रमाण है। इसको बारह से गुणा करने पर सम्पूर्ण यवमध्य क्षेत्र का घनफल निकलता है ॥२५७॥

विशेषार्थ—५. यवमध्य ऊर्ध्वलोक का घनफल—

५ राजू भूमि, १ राजू मुख और ७ राजू ऊँचाई वाले सम्पूर्ण ऊर्ध्वलोक क्षेत्र में यवो की रचना इस प्रकार है—
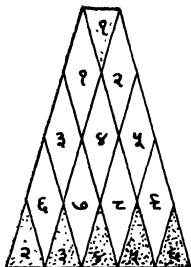
इस आकृति में पूर्ण यव ९ और अर्धयव ६ हैं। ६ अर्धयवो के पूर्ण यव बनाकर पूर्ण यवों में जोड देने पर (९+३)=१२ पूर्ण यव प्राप्त हो जाते है। एक यव का विस्तार १ राजू, ऊँचाई $\frac{७}{२}$ राजू और वेध ७ राजू है अत. $\frac{१}{१}\times\frac{१}{२}\times\frac{७}{२}\times\frac{७}{१}=\frac{४९}{४}$ घनराजू एक यव का घनफल प्राप्त होता है। क्योंकि एक यव का घनफल $\frac{४९}{४}$ घनराजू है अत. १२ यवो का $\frac{४९}{४}\times\frac{१२}{१}=$ १४७ घनराजू सम्पूर्ण यव-मध्य ऊर्ध्वलोक क्षेत्र का घनफल प्राप्त होता है। लोक (३४३) को २८ से भाजित कर १२ से गुणित करने पर भी $(\frac{३४३}{२८}\times\frac{१२}{१})=$ १४७ घनराजू ही प्राप्त होता है। इसीलिए गाथा मे लोक का अट्ठाईस से भाजित कर बारह से गुणा करने को कहा गया है।

६. मन्दर-ऊर्ध्वलोक का घनफल—५ राजू भूमि, १ राजू मुख और ७ राजू ऊँचाई वाले ऊर्ध्वलोक मन्दर (मेरु) की रचना करके घनफल निकाला जायेगा। यथा—

मन्दरमेरु ऊर्ध्वलोक की आकृति
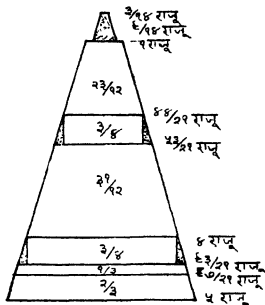
मन्दरमेरु ऊर्ध्वलोक का घनफल

ति-हिदो दु-गुणिद-रज्जू, तिय-भजिदा[1] चउ-हिदा ति-गुण-रज्जू ।
एक्कतीस च रज्जू, बारस - भजिदा हवंति उड्ढुड्ढं ।।२५८।।

चउ - हिद-ति - गुणिद - रज्जू, तेवीसं ताओ बार - पडिहत्ता ।
मंदर - सरिसायारे[2], उस्सेहो उड्ढ - खेत्तम्मि ।।२५९।।

२/३ । १/३ । ३/४ । ३१/१२ । ३/४ । २३/१२ ।

अर्थ—मन्दर सदृश आकार वाले ऊर्ध्व क्षेत्र मे ऊपर-ऊपर ऊँचाई क्रम से तीन से भाजित दो राजू, तीन से भाजित एक राजू, चार से भाजित तीन राजू, बारह से भाजित इकतीस राजू, चार से भाजित तीन राजू और बारह से भाजित तेईस राजू मात्र है ।।२५८-२५९।।

१. ज. ठ भणिदा । २. द सरिसायारो ।

विशेषार्थ—उपर्युक्त आकृति मे ३/५ राजू पृथिवी मे सुदर्शन मेरु की जड अर्थात् १००० योजन का, १/३ राजू भद्रशालवन से नन्दनवन पर्यन्त की ऊँचाई अर्थात् ५०० योजन का, ३/४ राजू नन्दनवन से समविस्तार क्षेत्र अर्थात् ११००० योजन का, ३१/४२ राजू समविस्तार क्षेत्र मे सौमनस वन अर्थात् ५१५०० योजन का, ३/४ राजू सौमनस वन से समविस्तार क्षेत्र अर्थात् ११००० योजन का और उसके ऊपर ३१/१२ राजू समविस्तार मे पाण्डुकवन अर्थात् २५,००० योजन का प्रतीक है।

अट्ठाणवदि-विहत्ता, ति-गुणा सेढी तडाण[1] वित्थारो[2] ।
[3]चउतड - करणक्खंडिद - खेत्तेण चूलिया होदि ॥२६०॥

९८ ³

तिण्णि तडा[4] भू-वासो, ताण ति-भागेण होदि मुह-रुंदं ।
तच्चूलियाए उदओ, चउ-भजिदो ति-गुणिदो रज्जू ॥२६१॥

२८ ³ । ९८ ९ ।

अर्थ—तटों का विस्तार अट्ठानवे से विभक्त और तीन से गुणित जगच्छ्रेणी प्रमाण है। ऐसे चार तटवर्ती करणाकार खण्डित क्षेत्रों से चूलिका होती है, उस चूलिका की भूमि का विस्तार तीन-तटों के प्रमाण, मुख का विस्तार इसका तीसरा भाग तथा ऊँचाई चार से भाजित और तीन से गुणित, राजू मात्र है ॥२६०-२६१॥

विशेषार्थ - मन्दराकृति मे नन्दन और सौमनस वनो के ऊपरी भाग को समविस्तार करने के लिए दोनो पार्श्वभागों मे चार त्रिकोण काटे गये है, उनमे प्रत्येक का विस्तार (७×३/९८ = २१/९८ =) ३/१४ राजू और ऊँचाई ३/४ राजू है। इन चारो त्रिकोणो मे से तीन त्रिकोणो को सीधा और एक त्रिकोण को पलटकर उलटा रखने से पाण्डुकवन के ऊपर चूलिका बन जाती है, जिसका भूमि-विस्तार ९/१४ राजू, मुख ३/१४ राजू, ऊँचाई ३/४ राजू और वेध ७ राजू है।

सत्तट्ठाणे रज्जू, उड्ढुड्ढं एक्कवीस-पविभत्तं ।
ठविदूण वास-हेदुं, गुणगारं तेसु साहेमि ॥२६२॥

१. द. ब. तदाण। २. द विहत्ता गिरे तिण्णि गुणा। ३. द. क. ज. ठ. चउतदकारणखडिद, ब. चउदत्तकारणखडिद। ४ द. ब. तदा।

[1]पंचुत्तर-एक्कसयं, सत्ताणउदी तियधिय-णउदीओ ।
चउसीदी तेवण्णा, चउदालं एक्कवीस गुणगारा ।।२६३।।

ज÷७ १०५ । ज÷७ ९७ । ज÷७ ९३ । ज÷७ ८४ । ज÷७ ५३ । ज÷७ ४४ । ज÷७ २१ ।

अर्थ—सातो स्थानो मे ऊपर-ऊपर इक्कीस से विभक्त राजू रखकर उनमें विस्तार के निमित्तभूत गुणकार कहता हूँ ।।२६२।।

अर्थ—एक सौ पाँच, सत्तानवे, तेरानवे, चौरासी, तिरेपन, चवालीस और इक्कीस उपर्युक्त सात स्थानों मे ये सात गुणकार है ।।२६३।।

विशेषार्थ--इस मन्दराकृति क्षेत्र का भूमि-विस्तार ५ राजू, मुख विस्तार १ राजू और ऊँचाई ७ राजू है । भूमि मे से मुख घटा देने पर (५—१) = ४ राजू हानि ७ राजू ऊँचाई पर होती है अर्थात् प्रत्येक एक-एक राजू की ऊँचाई पर ४/७ राजू की हानि प्राप्त होती है । इस हानि-चय को अपनी-अपनी ऊँचाई से गुणित करने पर हानि का प्रमाण प्राप्त हो जाता है । उस हानि को पूर्व-पूर्व विस्तार मे से घटा देने पर ऊपर-ऊपर का विस्तार प्राप्त होता जाता है । यथा—

तलभाग ५ राजू अर्थात् १०५/२१ राजू, २/३ राजू की ऊँचाई पर ९७/२१ राजू, १/३ राजू की ऊँचाई पर ९३/२१ राजू, ३/४ राजू की ऊँचाई पर ८४/२१ राजू, ३१/१२ राजू की ऊँचाई पर ५३/२१ राजू, ३/४ राजू की ऊँचाई पर ४४/२१ राजू और २३/१२ राजू की ऊँचाई पर २१/२१ राजू विस्तार है ।

उड्ढुड्ढं रज्जु - घणं, सत्तसु ठाणेसु ठविय हेट्ठादो ।
विंदफल - जाणणट्ठं, वोच्छं गुणगार - हाराणि ।।२६४।।

दुजुदाणि दुसयाणि, पंचाणउदी य एक्कवीसं च ।
सत्तत्तालजुदाणि, बादाल - सयाणि एक्करसं ।।२६५।।

पणणवदियधिय-चउदस-सयाणि णव इय हवंति गुणगारा ।
हारा णव णव एक्कं, बाहत्तरि इगि विहत्तरी चउरो ।।२६६।।

≡/३४३ × २०२/९ | ≡/३४३ × ९५/९ | ≡/३४३ × २१/१ | ≡/३४३ × ४२४७/७२ | ≡/३४३ × ११/१ |

≡/३४३ × १४९५/७२ | ≡/३४३ × ९/४

[1] ज. क ठ ब. पचुत्त एक्कसय ।

अर्थ—सात स्थानों में नीचे से ऊपर-ऊपर घनराजू को रख कर घनफल जानने के लिए गुणकार और भागहार कहता हूँ ॥२६४॥

अर्थ—इन सात स्थानों में क्रमशः दो सौ दो, पचानवे, इक्कीस, बयालीस सौ सैंतालीस, ग्यारह, चौदह सौ पचानवे और नौ, ये सात गुणकार हैं तथा भागहार यहाँ नौ, नौ, एक, बहत्तर, एक, बहत्तर और चार है ॥२६५-२६६॥

विशेषार्थ—"मुखभूमिजोगदले-पद-हदे" सूत्रानुसार प्रत्येक खण्ड की भूमि और मुख को जोड़कर, आधा करके उसमें अपनी-अपनी ऊँचाई और ७ रा.जू. वेध से गुणित करने पर प्रत्येक खण्ड का घनफल प्राप्त हो जाता है। यथा —

खण्ड	भूमि +	मुख =	योग ×	अर्धकिया ×	ऊँ ×	मोटाई =	घनफल
प्रथम खण्ड	$\frac{१०५}{२१}$ +	$\frac{९७}{२१}$ =	$\frac{२०२}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{२}{३}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{२०२}{९}$ घनराजू घनफल
द्वितीय खण्ड	$\frac{६७}{२१}$ +	$\frac{६३}{२१}$ =	$\frac{१३०}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{१}{३}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{९५}{९}$ घनराजू घनफल
तृतीय खण्ड	$\frac{८४}{२१}$ +	$\frac{८४}{२१}$ =	$\frac{१६८}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{३}{४}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{२१}{१}$ घनराजू घनफल
चतुर्थ खण्ड	$\frac{८७}{२१}$ +	$\frac{५०}{२१}$ =	$\frac{१३७}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{३१}{१२}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{४२४७}{७२}$ घनराजू घनफल
पञ्चम खण्ड	$\frac{४६}{२१}$ +	$\frac{४२}{२१}$ =	$\frac{८८}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{३}{४}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{११}{१}$ घनराजू घनफल
षष्ठ खण्ड	$\frac{४४}{२१}$ +	$\frac{२१}{२१}$ =	$\frac{६५}{२१}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{२३}{१२}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{१४९५}{७२}$ घनराजू घनफल
सप्तम खण्ड (चूलिका)	$\frac{९}{१४}$ +	$\frac{३}{१४}$ =	$\frac{१२}{१४}$ ×	$\frac{१}{२}$ ×	$\frac{३}{४}$ ×	$\frac{७}{१}$ =	$\frac{९}{४}$ घनराज घनफल

सर्वयोग — $\frac{२०२}{९} + \frac{९५}{९} + \frac{२१}{१} + \frac{४२४७}{७२} + \frac{११}{१} + \frac{१४९५}{७२} + \frac{९}{४} =$

$\frac{१६१६ + ७६० + १५१२ + ४२४७ + ७९२ + १४९५ + १६२}{७२} = \frac{१०५८४}{७२} = १४७$

घनराज मन्दर-ऊर्ध्वलोक का घनफल है।

७ दूष्य ऊर्ध्वलोक का घनफल—

५ राजू भूमि, १ राजू मुख और ७ राजू ऊँचाई प्रमाण वाले ऊर्ध्वलोक में दूष्य की रचना कर घनफल प्राप्त करना है, जिसकी आकृति इस प्रकार है। यथा—
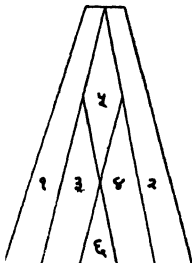
दूष्य क्षेत्र का घनफल एवं गिरि-कटक क्षेत्र कहने की प्रतिज्ञा

चोदस-भजिदो तिगुणो, विंदफलं बाहिरोभय-भुजाणं ।
लोओ दुगुणो चोद्दस-हिदो य अब्भंतरम्मि दूसस्स ।।२६७।।

| ≡/१४ ३ | ≡/१४ २ |

तस्स य जव-खेत्ताणं, लोओ चोद्दस-हिदो-दु-विंदफलं ।
एत्तो [1]गिरिगड - खंडं, वोच्छामो आणुपुव्वीए ।।२६८।।

| ≡/१४ |

अर्थ—दूष्य क्षेत्र की बाहरी उभय भुजाओं का घनफल चौदह से भाजित और तीन से गुणित लोकप्रमाण, तथा अभ्यन्तर दोनों भुजाओं का घनफल चौदह से भाजित और दो से गुणित लोक-प्रमाण है ।।२६७।।

१ द ब. ज क. ठ. गिरिविडखड ।

अर्थ—इस दृष्य क्षेत्र के यव-क्षेत्रो का घनफल चौदह से भाजित लोकप्रमाण है। अब यहाँ से आगे अनुक्रम से गिरिकटक खण्ड का वर्णन करते है ॥२६८॥

विशेषार्थ—इस दृष्य क्षेत्र की बाहरी उभय भुजाओं अर्थात् क्षेत्र संख्या १ और २ का घनफल—[(भूमि १ राजू + मुख $\frac{१}{२}$ रा० = $\frac{३}{२}$) × $\frac{१}{२}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{२}{१}$] = $\frac{१४७}{२}$ घनराजू है। अभ्यन्तर उभय भुजाओ अर्थात् क्षेत्र संख्या ३ और ४ का घनफल [ऊँचाई मे भूमि ($\frac{१४}{३}$ + $\frac{७}{३}$ मुख = $\frac{२१}{३}$) × $\frac{१}{२}$ × $\frac{१}{१}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{२}{६}$] = ४९ घनराजू है। डेढ यवो अर्थात् क्षेत्र संख्या ५ और ६ का घनफल [(भूमि १ रा० + मुख० = $\frac{१}{१}$) × $\frac{१}{२}$ × $\frac{१४}{३}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{३}{२}$] = $\frac{९८}{२}$ घनराजू है। इस प्रकार सम्पूर्ण $\frac{१४७}{२}$ + $\frac{४९}{१}$ + $\frac{९८}{२}$ = $\frac{१४७+९८+४९}{२}$ = $\frac{२९४}{२}$ = १४७ घनराजू दृष्य ऊर्ध्वलोक का घनफल है।

८ गिरि-कटक ऊर्ध्वलोक का घनफल—

भूमि ५ राजू, मुख १ राजू और ७ राजू ऊँचाई वाले ऊर्ध्वलोक मे गिरिकटक की रचना करके घनफल निकाला गया है। इसकी आकृति इस प्रकार है—
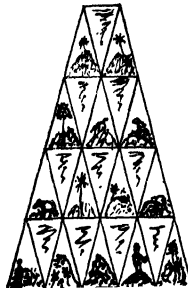
गिरि-कटक ऊर्ध्वलोक का घनफल

छप्पण्ण-हिदो लोओ, एक्कस्सि [1]गिरिगडम्मि विवफलं ।
तं चउवीसप्पहदं, सत्त - हिदो ति-गुणिदो लोओ ।।२६९।।

| ≡/५६ | ≡/७ ३ |

अर्थ—एक गिरि-कटक का घनफल छप्पन से भाजित लोकप्रमाण है। इसको चौबीस से गुणा करने पर सात से भाजित और तीन से गुणित लोकप्रमाण सम्पूर्ण गिरि-कटक क्षेत्र का घनफल आता है ।।२६९।।

विशेषार्थ—उपर्युक्त आकृति में १४ गिरि और १० कटक बने हैं, जिसमें से प्रत्येक गिरि एवं कटक की भूमि १ राजू, मुख ०, उत्सेध ७/४ राजू और वेध ७ राजू है, अतः [(१+०)=१/१] × १/२ × ७/४ × ७/१ = ४९/८ घनराजू घनफल एक गिरि या एक कटक का है। लोक को ५६ से भाजित करने पर भी (३४३/५६) ४९/८ ही प्राप्त होता है, इसलिए गाथा में एक गिरि या कटक का घनफल छप्पन से भाजित लोकप्रमाण कहा है। क्योंकि एक गिरि का घनफल ४९/८ घनराजू है अतः १४ गिरि का (४९/८ × १४/१) = ३४३/४ अर्थात् ८५ ३/४ घनराजू घनफल हुआ।

इसी प्रकार जब एक कटक का घनफल ४९/८ घनराजू है अतः १० कटकों का (४९/८ × १०/१) = २४५/४ अर्थात् ६१ १/४ घनराजू घनफल हुआ। इन दोनों का योग कर देने पर (८५ ३/४ + ६१ १/४) = १४७ घनराजू घनफल सम्पूर्ण गिरिकटक ऊर्ध्वलोक का प्राप्त होता है। लोक (३४३) को ७ से भाजित कर तीन से गुणा करने पर भी (३४३ ÷ ७ = ४९) × ३ = १४७ घनराजू ही आते हैं, इसीलिए गाथा में सात से भाजित और तीन से गुणित लोकप्रमाण सम्पूर्ण गिरिकटक क्षेत्र का घनफल कहा गया है।

वातवलय का आकार कहने की प्रतिज्ञा

अट्ठ-विहप्पं साहिय, सामण्णं हेट्ठ-उड्ढ-होदि जयं ।
एण्हि साहेमि पुढं, संठाणं वादवलयाणं ।।२७०।।

अर्थ—सामान्य, अधः और ऊर्ध्व के भेद से जो तीन प्रकार का जग अर्थात् लोक कहा गया है, उसे आठ प्रकार से कहकर अब वातवलयों के पृथक्-पृथक् आकार का वर्णन करता हूँ ।।२७०।।

१. ज. क ठ गिरिगदम्मि ।

लोक को परिवेष्टित करने वाली वायु का स्वरूप

गोमुत्त-मुग्ग-वण्णा, [1]घणोवधी तह घणाणिलो वाऊ ।
तणु-वादो बहु-वण्णो, रुक्खस्स तयं व वलय-तियं ।।२७१।।

पढमो लोयाधारो, घणोवही इह घणाणिलो तत्तो ।
तप्परदो तणुवादो, अंतम्मि णहं णिआधारं ।।२७२।।

अर्थ – गोमूत्र के सदृश वर्णवाला घनोदधि, मूँग के सदृश वर्णवाला घनवात तथा अनेक वर्णवाला तनुवात इस प्रकार के ये तीनो वातवलय वृक्ष की त्वचा के सदृश (लोक को घेरे हुए) हैं। इनमे से प्रथम घनोदधिवातवलय लोक का आधारभूत है। उसके पश्चात् घनवातवलय, उसके पश्चात् तनुवातवलय और फिर अन्त में निजाधार आकाश है ।।२७१-२७२।।

वातवलयो के बाहल्य (मोटाई) का प्रमाण

जोयण-वीस-सहस्सा, बहलं तम्मारुदाण पत्तेक्कं ।
अट्ठ-खिदीणं हेट्ठे, लोअ-तले उवरि जाव इगि-रज्जू ।।२७३।।

२०००० । २०००० । २०००० ।

अर्थ—आठ पृथिवियो के नीचे, लोक के तल-भाग मे एव एक राजू की ऊँचाई तक उन वायु-मण्डलों मे से प्रत्येक की मोटाई बीस हजार योजन प्रमाण है ।।२७३।।

विशेषार्थ—आठो भूमियो के नीचे, लोकाकाश के अधोभाग मे एव दोनो पार्श्वभागो में नीचे से एक राजू ऊँचाई पर्यन्त तीनो वातवलय बीस-बीस हजार योजन मोटे है।

सग-पण-चउ-जोयणयं, [2]सत्तम-णारयम्मि पुहवि-पणधीए[3] ।
पंच-चउ-तिय-पमाणं, तिरीय-खेत्तस्स पणिधीए ।।२७४।।

। ७ । ५ । ४ । ५ । ४ । ३ ।

सग-पंच-चउ-समाणा, पणिधीए होंति बम्ह-कप्पस्स ।
पण-चउ-तिय-जोयणया, उवरिम-लोयस्स अंतम्मि ।।२७५।।

। ७ । ५ । ४ । ५ । ४ । ३ ।

१. द. ज. ठ. घणदधि । २. द. ज. सत्तमणयमि, ब सत्तमसारयम्मि । ३. द. पणदीए, ब. पणधीए ।

अर्थ—सातवें नरक में पृथिवी के पार्श्वभाग में क्रमशः इन तीनों वातवलयों की मोटाई सात, पाँच और चार योजन तथा इसके ऊपर तिर्यग्लोक (मध्यलोक) के पार्श्वभाग में पाँच, चार और तीन योजन प्रमाण है ॥२७४॥

अर्थ- इसके आगे तीनों वायुओं की मोटाई ब्रह्मस्वर्ग के पार्श्वभाग में क्रमशः सात, पाँच और चार योजन प्रमाण तथा ऊर्ध्वलोक के अन्त (पार्श्वभाग) में पाँच, चार और तीन योजन प्रमाण है ॥२७५॥

विशेषार्थ -दोनों पार्श्वभागों में एक राजू के ऊपर सप्तम पृथिवी के निकट घनोदधिवातवलय सात योजन, घनवातवलय पाँच योजन और तनुवातवलय चार योजन मोटाई वाले हैं। इस सप्तम पृथिवी के ऊपर क्रमशः घटते हुए तिर्यग्लोक के समीप तीनों वातवलय क्रमशः पाँच, चार और तीन योजन बाहल्य वाले तथा यहाँ से ब्रह्मलोक पर्यन्त क्रमशः बढ़ते हुए सात, पाँच और चार योजन बाहल्य वाले हो जाते हैं तथा ब्रह्मलोक से क्रमानुसार हीन होते हुए तीनों वातवलय ऊर्ध्वलोक के निकट तिर्यग्लोक सदृश पाँच, चार और तीन योजन बाहल्य वाले हो जाते हैं।

कोस-दुगमेक्क-कोसं, किंचूणेक्कं च लोय-सिहरम्मि ।
ऊण-पमाणं दंडा, चउस्सया पंच-वीस-जुदा ॥२७६॥

। २ को० । १ को० । १५७५ दंड ।

अर्थ--लोक के शिखर पर उक्त तीनों वातवलयों का बाहल्य क्रमशः दो कोस, एक कोस और कुछ कम एक कोस है। यहाँ तनुवातवलय की मोटाई जो एक कोस से कुछ कम बतलाई है, उस कमी का प्रमाण चार सौ पच्चीस धनुष है ॥२७६॥

विशेषार्थ—लोक के अग्रभाग पर घनोदधिवातवलय की मोटाई २ कोस, घनवातवलय की एक कोस और तनुवातवलय की ४२५ धनुष कम एक कोस अर्थात् १५७५ धनुष प्रमाण है।

लोक के सम्पूर्ण वातवलयों को प्रदर्शित करने वाला चित्र

[चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये]

एक राजू पर होने वाली हानि-वृद्धि का प्रमाण

तिरियक्खेत्तप्पणिधि, गदस्स पवणत्तयस्स बहलत्तं ।
मेलिय [1]सत्तम-पुढवी-पणिधीगय-मरुद-बहलम्मि ॥२७७॥

तं सोधिदूण तत्तो, भजिदव्वं छप्पमाण-रज्जूहि ।
लद्धं पडिप्पदेसं, जायंते हाणि - वड्ढीओ ॥२७८॥

। १६ । १२ । $\frac{४}{६}$ ।[2]

अर्थ—तिर्यक्क्षेत्र (मध्यलोक) के पार्श्वभाग में स्थित तीनों वायुओं के बाहल्य को मिलाकर जो योगफल प्राप्त हो, उसको सातवी पृथिवी के पार्श्वभाग मे स्थित वायुओ के बाहल्य में से घटाकर शेष में छह प्रमाण राजुओ का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतनी सातवी पृथिवी से लेकर मध्य लोक पर्यन्त प्रत्येक प्रदेश क्रमशः एक राजू पर वायु की हानि और वृद्धि होती है ॥२७७-२७८॥

विशेषार्थ—सप्तम पृथिवी के निकट तीनो पवनों का बाहल्य (७ + ५ + ४) = १६ योजन है, यह भूमि है। तथा तिर्यग्लोक के निकट (५ + ४ + ३) = १२ योजन है, यह मुख है। भूमि में से मुख घटाने पर (१६ – १२) = ४ योजन अवशेष रहे। सातवी पृथिवी से तिर्यग्लोक ६ राजू ऊँचा है, अतः अवशेष रहे ४ योजनो में ६ का भाग देने पर $\frac{४}{६}$ योजन प्रतिप्रदेश क्रमश: एक राजू पर होने वाली हानि का प्रमाण प्राप्त हुआ।

पार्श्वभागों में वातवलयो का बाहल्य

अट्ठ-छ-चउ-दुगदेयं, तालं तालट्ठ-तीस-छत्तीसं ।
तिय-भजिदा हेट्ठादो, मरु-बहलं सयल - पासेसु ॥२७९॥

। $\frac{४८}{3}$ । $\frac{४६}{3}$ । $\frac{४४}{3}$ । $\frac{४२}{3}$ । $\frac{४०}{3}$ । $\frac{३८}{3}$ । $\frac{३६}{3}$ ।

अर्थ– अड़तालीस, छयालीस, चवालीस, बयालीस, चालीस, अड़तीस और छत्तीस में तीन का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना क्रमशः नीचे से लेकर सब (सात पृथ्वियो के) पार्श्वभागो में वातवलयो का बाहल्य है ॥२७९॥

१. द. ब. क ज. ठ सट्ठमपोढवी॰ । २. द. १२।४।१० । ज. ठ. १२।४।७ । क. १२।४।६।

विशेषार्थ—सातवी पृथिवी के समीप तीनो पवनो का बाहल्य $\frac{४८}{३}$ अर्थात् १६ योजन है।

छठी	पृथिवी के समीप	तीनों पवनों	का	बाहल्य	$\frac{४६}{३}$	अर्थात्	१५$\frac{१}{३}$	यो०	है।
पाँचवीं	,,	,,	,,	,,	$\frac{४४}{३}$	,,	१४$\frac{२}{३}$	,,	,,
चौथी	,,	,,	,,	,,	$\frac{४२}{३}$	,,	१४	,,	,,
तीसरी	,,	,,	,,	,,	$\frac{४०}{३}$	,,	१३$\frac{१}{३}$	,,	,,
दूसरी	,,	,	,,	,,	$\frac{३८}{३}$	,,	१२$\frac{२}{३}$	,,	,,
पहली	,,	,,	,,	,,	$\frac{३६}{३}$	,,	१२	,,	,,

वातमण्डल की मोटाई प्राप्त करने का विधान

उड्ढ-जगे खलु वड्ढी, इगि-सेढी-भजिद-अट्ठ-जोयणया[1]।
एदं इच्छप्पहदं, सोहिय मेलिज्ज भूमि-मुहे ॥२८०॥

८

अर्थ—ऊर्ध्वलोक मे निश्चय से एक जगच्छ्रेणी से भाजित आठ योजन प्रमाण वृद्धि है। इस वृद्धि प्रमाण को इच्छाराशि से गुणित करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उसे भूमि में से कम कर देना चाहिए और मुख मे मिला देना चाहिए। (ऐसा करने मे ऊर्ध्वलोक मे अभीष्ट स्थान के वायुमण्डलो की मोटाई का प्रमाण निकल आता है) ॥२८०॥

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक मे वृद्धि का प्रमाण $\frac{८}{७}$ योजन है। इसे इच्छा अर्थात् अपनी - अपनी ऊँचाई से गुणितकर, लब्धराशि को भूमि में से घटाने और मुख में जोड़ देने से इच्छित स्थान के वायुमण्डल की मोटाई का प्रमाण निकल आता है। यथा—जब ३$\frac{१}{२}$ राजू पर ४ राजू की वृद्धि है, तब १ राजू पर $\frac{८}{७}$ राजू की वृद्धि प्राप्त हुई। यहाँ ब्रह्मलोक के समीप वायु १६ योजन मोटी है। सानत्कुमारमाहेन्द्र के समीप वायु की मोटाई प्राप्त करना है। यहाँ १६ योजन भूमि है। यह युगल ब्रह्मलोक से $\frac{१}{२}$ राजू नीचे है, यहाँ $\frac{१}{२}$ राजू इच्छाराशि है, अतः वृद्धि के प्रमाण $\frac{८}{७}$ राजू में इच्छा राशि $\frac{१}{२}$ राजू का गुणा कर, गुणनफल ($\frac{८}{७}\times\frac{१}{२}=\frac{४}{७}$) को १६ राजू भूमि में से घटाने पर (१६—$\frac{४}{७}$) =१५$\frac{३}{७}$ राजू मोटाई प्राप्त होती है। मुख की अपेक्षा दूसरे युगल की ऊँचाई ३ राजू है, अतः ($\frac{८}{७}\times\frac{३}{१}$)=$\frac{२४}{७}$ तथा १२+$\frac{२४}{७}$=१५$\frac{३}{७}$ राजू प्राप्त हुए।

[1] द. ज. ठ. जोयणसया।

मेरुतल से ऊपर वातवलयों की मोटाई का प्रमाण

मेरु-तलादो उवरिं, कप्पाणं सिद्ध-खेत्त-पणिधीए ।
चउसीदी छण्णउदी, अडजुद-सय बारसुत्तरं च सयं ॥२८१॥

एत्तो चउ-चउ-हीणं, सत्तसु ठाणेसु ठविय पत्तेक्कं ।
सत्त-विहत्ते होदि हु, मारुद - वलयाण बहलत्तं ॥२८२॥

$\frac{८४}{७}$	$\frac{९६}{७}$	$\frac{१०८}{७}$	$\frac{११२}{७}$	$\frac{१०८}{७}$	$\frac{१०४}{७}$	$\frac{१००}{७}$	$\frac{९६}{७}$	$\frac{९२}{७}$	$\frac{८८}{७}$	$\frac{८४}{७}$

अर्थ—मेरुतल से ऊपर सर्वकल्प तथा सिद्धक्षेत्र के पार्श्वभाग मे चौरासी, छ्यानबे, एकसौ आठ, एक सौ बारह और फिर इसके आगे सात स्थानो मे उक्त एक सौ बारह मे मे उत्तरोत्तर चार-चार कम सख्या को रखकर प्रत्येक में सात का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना वातवलयों की मोटाई का प्रमाण है ॥२८१-२८२॥

विशेषार्थ—जब ३$\frac{१}{२}$ राजू की ऊँचाई पर ४ राजू की वृद्धि है तब १$\frac{१}{२}$ राजू और $\frac{१}{२}$ राजू की ऊँचाई पर कितनी वृद्धि होगी ? इस प्रकार दो त्रैराशिक करने पर वृद्धि का प्रमाण क्रमश· $\frac{१२}{७}$ राजू और $\frac{४}{७}$ राजू प्राप्त होता है ।

मेरुतल से ऊपर सौधर्म युगल के अधोभाग मे वायु का बाहल्य $\frac{८४}{७}$ योजन, सौधर्मेशान के उपरिम भाग मे $\frac{८४}{७}+\frac{१२}{७}=\frac{९६}{७}$ योजन और सानत्कुमार-माहेन्द्र के निकट $\frac{९६}{७}+\frac{१२}{७}=\frac{१०८}{७}$ योजन है । अब प्रत्येक युगल की ऊँचाई आधा-आधा राजू है, जिसकी वृद्धि एव हानि का प्रमाण $\frac{४}{७}$ राजू है, अत. ब्र० ब्रह्मो० के निकट $\frac{१०८}{७}+\frac{४}{७}=\frac{११२}{७}$ योजन, ला०का० के निकट $\frac{११२}{७}$ $\frac{४}{७}=\frac{१०८}{७}$ योजन, शु० महाशुक्र के समीप $\frac{१०८}{७}-\frac{४}{७}=\frac{१०४}{७}$ यो०, शतार सह० के समीप $\frac{१०४}{७}-\frac{४}{७}=\frac{१००}{७}$ योजन, आ० प्रा० के समीप $\frac{१००}{७}-\frac{४}{७}=\frac{९६}{७}$ योजन, आ० अ० के समीप $\frac{९६}{७}-\frac{४}{७}=\frac{९२}{७}$ यो०, ग्रैवेयकादिके समीप $\frac{९२}{७}-\frac{४}{७}=\frac{८८}{७}$ योजन और सिद्धक्षेत्र के समीप $\frac{८८}{७}-\frac{४}{७}=\frac{८४}{७}$ अर्थात् १२ योजन की मोटाई है ।

पार्श्वभागो मे तथा लोकशिखर पर पवनों की मोटाई

तीसं इगिदाल-दलं, कोसा तिय-भाजिदा य उणवण्णा ।
सत्तम-खिदि - पणिधीए, बम्हजुगे वाउ - बहलत्तं ॥२८३॥

घनो०	घ०	तनु०
३०	$\frac{४१}{२}$	$\frac{४९}{३}$

दोछब्बारसभागब्भहिओ कोसो कमेण वाउ-घणं ।
लोय-उवरिम्मि एवं, लोय-विभायम्मि पण्णत्तं ।।२८४।।

। १$\frac{1}{2}$ । १$\frac{1}{6}$ । १$\frac{1}{12}$ । पाठान्तर[1]

अर्थ– सातवी पृथिवी और ब्रह्मयुगल के पार्श्वभाग मे तीनो वायुओं की मोटाई क्रमश. तीस, इकतालीस के आधे और तीन मे भाजित उनचास कोस है ।।२८३।।

अर्थ—लोक के ऊपर अर्थात् लोकशिखर पर तीनों वातवलयो की मोटाई क्रमश· दूसरे भाग से अधिक एक कोस, छठे भाग मे अधिक एक कोस और बारहवें भाग मे अधिक एक कोस है, ऐसा 'लोकविभाग' मे कहा गया है ।।२८४।। पाठान्तर

विशेषार्थ—लोकविभागानुसार सप्तम पृथिवी और ब्रह्मयुगल के समीप घनोदधिवात ३० कोस, घनवात $\frac{41}{2}$ कोस और तनुवात $\frac{49}{3}$ कोस है तथा लोकशिखर पर घनोदधिवात की मोटाई १$\frac{1}{2}$ कोस, घनवात की १$\frac{1}{6}$ कोस और तनुवात की मोटाई १$\frac{1}{12}$ कोस है।

वायुरुद्धक्षेत्र आदि के घनफलो के निरूपण की प्रतिज्ञा

[2]वादवरुद्धक्खेत्ते, विंदफलं तह य अट्ठ-पुढवीए ।
सुद्धायास-खिदीणं[3] , लव-मेत्तं वत्तइस्सामो ।।२८५।।

अर्थ- यहाँ वायु से रोके गये क्षेत्र, आठ पृथिवियाँ और शुद्ध-आकाश-प्रदेश के घनफल को लवमात्र (सक्षेप मे) कहते है ।।२८५।।

वातावरुद्ध क्षेत्र निकालने का विधान एवं घनफल

संपहि लोग-पेरंत-ट्ठिद-वादवलय[4] -रुद्ध-खेत्ताणं आणयण[5] विधाणं उच्चदे—

लोगस्स तले [6]तिण्णि-वादाणं बहलं पत्तेक्कं वीस-सहस्सा य जोयणमेत्तं । [7]तं सव्वमेगट्ठं कदे सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्लं जगपदरं होदि ।

---

१. द. ब प्रत्यो 'पाठान्तर' इति पद २८०-२८१ गाथयोर्मध्य उपलभ्यते । २. द. वादरुद्ध, ब वादवरुद्ध । ३. द ब. खिदिण । ४ द ब. क ज. ठ वादवलयरुधखित्ताण । ५. द ब क. ज ठ याणयण । ६ द. तिण्ण । ७. द. क. ज. ठ. त सम्मेगट्ठ , कदेगसट्ठि, ब तेसमेगट्ठ कदे वागट्ठि ।

णवरि दोसु वि अंतेसु सट्ठि-जोयण-सहस्स-उस्सेह-परिहाणि[1] -खेत्तेण ऊणं एवमजोएदूणं सट्ठि-सहस्स बाहल्लं जगपदरमिदि संकप्पिय तच्छेदूण पुढं ठवेदव्वं[2] । = ६०००० ।

अर्थ—अब लोक-पर्यन्त मे स्थित वातवलयों मे रोके गये क्षेत्रो को निकालने का विधान कहते है -

लोक के नीचे तीनो पवनों मे प्रत्येक का बाहल्य (मोटाई) बीस हजार योजन प्रमाण है। इन तीनो पवनो के बाहल्य को इकट्ठा करने पर साठ हजार योजन बाहल्य-प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

यहाँ मात्र इतनी विशेषता है कि लोक के दोनो ही अन्तो (पूर्व-पश्चिम के अन्तिम भागो) मे साठ हजार योजन की ऊँचाई पर्यन्त क्षेत्र यद्यपि हानि-रूप है, फिर भी उसे न छोडकर 'साठ हजार योजन बाहल्य वाला जगत्प्रतर है' इस प्रकार सकल्पपूर्वक उसको छेदकर पृथक् स्थापित करना चाहिए। यो० ६००००×४९।

विशेषार्थ--लोक के नीचे तीनो पवनो का बाहल्य (२०+२०+२०)=६० हजार योजन है। इनकी लम्बाई, चौडाई जगच्छ्रेणी प्रमाण है, अत: जगच्छ्रेणी मे जगच्छ्रेणी का परस्पर गुणा करने मे (जगच्छ्रेणी × जगच्छ्रेणी)=जगत्प्रतर की प्राप्ति होती है।

लोक की दक्षिणोत्तर चौडाई सर्वत्र जगच्छ्रेणी (७ राजू) प्रमाण है, किन्तु पूर्व-पश्चिम चौडाई ७ राजू से कुछ कम है, फिर भी उसे गौण कर लोक के नीचे तीनो-पवनो मे अवरुद्ध क्षेत्र का घनफल = [७×७=४९ वर्ग राजू अर्थात् जगत्प्रतर]×६०००० योजन कहा गया है। यथा--

---

१. [परिहीण], २ द ब क ज. ठ. पुढ ति दव्व।
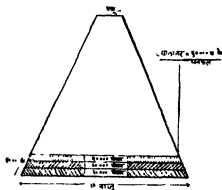
पुणो एग-रज्जूस्सेधेण सत्त-रज्जू-आयामेण सट्ठिजोयण सहस्स-बाहल्लेण दोसु पासेसुं ठिद-वाद-खेत्तं बुद्धीए[1] पुध करिय जग-पदर-पमाणेण णिबद्धे वीससहस्साहिय-जोयण-लक्खस्स सत्त-भाग-बाहल्लं जग-पदर होदि । = $\frac{१,२००००}{७}$ ।

अर्थ -अनन्तर एक ($\frac{७}{७}$) राजू उत्सेध, सात राजू आयाम और साठ हजार योजन बाहल्य वाले वातवलय की अपेक्षा दोनों पार्श्व-भागों में स्थित वातक्षेत्र को बुद्धि से अलग करके जगत्प्रतर प्रमाण में सम्बद्ध करने पर सात से भाजित एक लाख बीस हजार योजन जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—अधोलोक के एक राजू ऊपर के पार्श्वभागों तक तीनों पवनों की ऊँचाई एक-राजू, आयाम ७ राजू और मोटाई ६० हजार योजन है। इनका परस्पर गुणा करने से ($\frac{७}{७} \times \frac{७}{१} \times$ ६०००० योजन) = $\frac{४९}{७} \times \frac{\text{६० हजार योजन}}{१}$ एक पार्श्वभाग का घनफल प्राप्त होता है। दोनों पार्श्वभागों का घनफल निकालने हेतु दो से गुणित करने पर ($\frac{४९}{७} \times \frac{\text{६० हजार}}{१} \times \frac{२}{१}$) = ($\frac{४९}{७}$ अर्थात् जगत्प्रतर) $\times \frac{१,२००००}{१}$ योजन घनफल प्राप्त होता है। यथा—
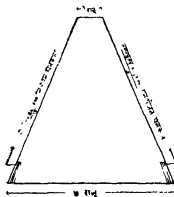
तं पुव्विल्लक्खेत्तस्सुवरि ठिवे चालीस-जोयण-सहस्साहिय-पंचण्हं लक्खाणं सत्त-भाग-बाहल्लं जग-पदरं होदि । = $\frac{५,४००००}{७}$ ।

१. द. क. ज. ठ. बुधि पुदक्करिय, ब. बुद्धि पुदक्करिय ।

अर्थ—इसको पूर्वोक्त क्षेत्र के ऊपर स्थापित करने पर पाँच लाख चालीस हजार योजन के सातवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—लोक के नीचे वातवलय का घनफल ४९ वर्ग राजू × ६०००० योजन था और दोनो पार्श्व भागो का ४९ वर्ग राजू × $\frac{१२००००}{७}$ योजन है। इन दोनो का योग करने के लिए जगत्प्रतर के स्थानीय ४९ को छोड़कर $\frac{६००००}{१} + \frac{१,२००००}{७} = \frac{४,२०००० + १,२००००}{७} = \frac{५,४००००}{७}$ योजन प्राप्त हुआ। इसे जगत्प्रतर मे युक्त करने पर $\frac{४९ \times ५,४००००}{७}$ योगफल प्राप्त हुआ।

पुणो अवरासु दोसु दिसासु एग-रज्जूस्सेधेण तले सत्त-रज्जू-आयामेण[1] मुहे सत्त-भागाहिय छ-रज्जु-रुंदत्तेण सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्लेण [2]ठिद-वाद-खेत्ते जग-पदर-पमाणेण कदे वीस-जोयण-सहस्साहिय-पच-पंचासज्जोयण-लक्खाणं तेदालीस-तिसद-भाग-बाहल्लं जग-पदरं होदि। $\frac{५५२००००}{३४३}$

अर्थ– इसके आगे इतर दो दिशाओ (दक्षिण और उत्तर) की अपेक्षा एक राजू उत्सेधरूप, तलभाग मे सात राजू आयामरूप, मुख मे सातवें भाग से अधिक छह राजू विस्ताररूप और साठ हजार योजन बाहल्य रूप वायुमण्डल की अपेक्षा स्थित वातक्षेत्र के जगत्प्रतर प्रमाण से करने पर पचपन लाख बीस हजार योजन के तीन सौ तैतालीसवें-भाग बाहल्यप्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—लोक के नीचे की चौडाई का प्रमाण ७ राजू है, यह भूमि है, मानवी-पृथिवी के निकट लोक की चौडाई का प्रमाण ६$\frac{१}{७}$ राजू है, यह मुख है। लोक के नीचे सप्तम-पृथिवी-पर्यन्त ऊँचाई $\frac{४९}{४९}$ (१ राजू) है, तथा यहाँ पर तीनों पवनो की मोटाई ६० हजार योजन है। इन सबका घनफल इस प्रकार है–

भूमि $\frac{७}{१}$ + $\frac{४३}{७}$ मुख = $\frac{९२}{७}$, तथा घनफल = $\frac{९२}{७} \times \frac{१}{२} \times \frac{२}{१} \times \frac{४९}{४९}$ वर्ग राजू × $\frac{६००००}{१}$ योजन = ४९ वर्ग राजू × $\frac{५५२००००}{३४३}$ योजन घनफल प्राप्त हुआ। यथा—

[चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये]

१. द आलियामेण। ज ठ आलियमण। २ द. ब. क ज. ठ. ठिदवादखेत्तेण।
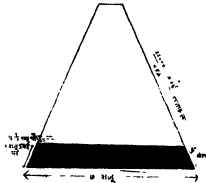
एदे[1] पुव्विल्ल-खेत्तस्सुवरिं पक्खित्ते एगूणवीस-लक्ख-असीदि-सहस्स-जोयणाहिय-तिण्हं कोडीणं तेदालीस-तिसद-भाग-बाहल्लं जग-पदरं होदि । $= \frac{३१९८००००}{३४३}$ ।

अर्थ--इस उपर्युक्त घनफल के प्रमाण को पूर्वोक्त क्षेत्र के ऊपर रखने पर तीन करोड, उन्नीस लाख, अस्सी हजार योजन के तीन सौ तैंतालीसवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—पूर्वोक्त योगफल $\frac{४९ \times ५४००००}{७}$ था। लोक की एक राजू ऊँचाई पर दोनो पार्श्व-भागो का घनफल $\frac{५५२००००० \times ४९}{३४३}$ प्राप्त हुआ। यहाँ दोनो जगह ४९ जगत्प्रतर के स्थानीय हैं, अत: $\left| \left(\frac{५४००००}{७} + \frac{५५२०००००}{३४३} \right) = \frac{३१९८००००}{३४३} \right|$ योजन × ४९ वर्ग राजू अर्थात् जगत्प्रतर × $\frac{३१९८००००}{३४३}$ घनफल प्राप्त हुआ।

पार्श्वभागो का घनफल

पुणो सत्त-रज्जु-विक्खंभ-तेरह-रज्जु-आयाम-सोलह[2] -बारह-[-सोलसबारह-] जोयण-बाहल्लेण दोसु वि पासेसु ठिद-वाद-खेत्ते जग-पदर-पमाणेण कदे चउ-सट्ठि-सद-जोयणूण-अट्ठारह-सहस्स-जोयणाणं तेदालीस-तिसद-भाग-बाहल्लं जग-पदरमुप्पज्जदि । $\frac{१७८३६}{३४३}$ ।

अर्थ--इसके अनन्तर सात राजू विष्कम्भ, तेरह राजू आयाम तथा सोलह, बारह (सोलह एवं बारह) योजन बाहल्य रूप अर्थात् सातवी पृथिवी के पार्श्वभाग में सोलह, मध्यलोक के

१. एदं पुव्विल्ल।   २. द. सोलस।

पार्श्वभाग मे बारह (ब्रह्मस्वर्ग के पार्श्वभाग मे सोलह और सिद्धलोक के पार्श्वभाग मे बारह) योजन बाहल्यरूप वातवलय की अपेक्षा दोनो ही पार्श्वभागो मे स्थित वातक्षेत्र को जगत्प्रतर प्रमाण मे करने पर एक सौ चौसठ योजन कम अठारह हजार योजन के तीन सौ तेतालीसवे-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ--सप्तम पृथिवी से सिद्धलोक पर्यन्त ऊँचाई १३ राजू, विष्कम्भ ७ राजू वातवलयो की मोटाई का औसत (१६ + १२ = २८ ÷ २ = १४), १४ योजन तथा पार्श्वभाग दो है, अत १३ × ७ × १४ × २ = २५४८ प्राप्त हुए, इन्हे जगत्प्रतर रूप मे करने के लिए $\frac{२५४८}{१} \times \frac{३४३}{३४३}$ अर्थात् $\frac{१७८३६ \times ४९}{३४३}$ घनफल प्राप्त हुआ। ग्रन्थकार ने इसे $= \frac{१७८३६}{३४३}$ रूप मे प्रस्तुत किया है।

पुणो सत्त-भागाहिय-छ-रज्जु-मूल-विक्खंभेण छ-रज्जूच्छेहेण एग-रज्जु-मुहेण सोलह-बारह-जोयण-बाहल्लेण दोसु वि पासेसु ठिद-वाद-खेत्त जगपदर-पमाणेण कदे बादालीस जोयण-सदस्स[2] तेदालीस-तिसद-भाग-बाहल्ल जगपदरं होदि। $-\frac{४२००}{३४३}$[3] ।

अर्थ—पुन. सातवे भाग से अधिक छह राजू मूल मे विस्ताररूप, छह राजू उत्सेधरूप, मुख मे एक राजू विस्तार रूप और सोलह-बारह योजन बाहल्य रूप (सातवी पृथिवी और मध्यलोक के पार्श्वभाग मे) वातवलय की अपेक्षा दोनो ही पार्श्वभागो मे स्थित वातक्षेत्र को जगत्प्रतर प्रमाण मे करने पर बयालीस सौ योजन के तीन सौ तेतालीसवे-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ- सप्तम पृथ्वी के निकट पवनो की चौडाई ६ $\frac{१}{७}$ अर्थात् $\frac{४३}{७}$ राजू है, यह भूमि है। तिर्यग्लोक के निकट पवनो की चौडाई १ राजू अर्थात् $\frac{७}{७}$ राजू है, यह मुख है। सप्तम पृथिवी से मध्यलोक पर्यन्त पवनो की ऊँचाई ६ राजू, मोटाई (१६ + १४ = २८ ÷ २) = १४ राजू है तथा पार्श्वभाग दो है, अत $[\frac{४३}{७} + \frac{७}{७} = \frac{५०}{७}] \times \frac{१}{२} \times \frac{६}{१} \times \frac{१४}{१} \times \frac{२}{१} = ६००$ प्राप्त हुए, इन्हे जगत्प्रतर स्वरूप बनाने हेतु ३४३ से गुणित किया और ३४३ से ही भाजित किया। यथा—$\frac{६०० \times ३४३}{३४३}$ अर्थात् $\frac{४२०० \times ४९}{३४३}$ घनफल प्राप्त हुआ। इसे ४९ वर्गराजू $\times \frac{४२००}{३४३}$ योजन रूप मे प्राप्त किया जाने मे ग्रन्थकार ने $= \frac{४२००}{३४३}$ रूप मे प्रस्तुत किया है।

पुणो एग-पंच-एग-रज्जु-विक्खंभेण सत्त-रज्जूच्छेहेण बारह-सोलह-बारह-जोयण-बाहल्लेण उवरिम-दोसु वि पासेसु ठिद-वाद-खेत्तं [4]जगपदर-पमाणेण कदे अट्ठासीदि-समहिय-पंच-जोयण-सदाणं एगूणवण्णासभाग-बाहल्ल जगपदरं होदि। =५८८ ।

२. द जोयणनक्खतेदालीससदभागहिबाहल्ल। ३. ब. ४२०००। ४. द जगदपदर°

अर्थ अनन्तर एक, पाँच एव एक राजू विष्कम्भ रूप (क्रम से मध्यलोक, ब्रह्मस्वर्ग और सिद्धक्षेत्र के पार्श्वभाग मे), सात राजू उत्सेध रूप और क्रमशः मध्यलोक, ब्रह्मस्वर्ग एव सिद्धलोक के पार्श्वभाग में बारह, सोलह और बारह योजन बाहल्यरूप वातवलय की अपेक्षा ऊपर दोनों ही पार्श्व-भागो मे स्थित वातक्षेत्र को जगत्प्रतर - प्रमाण से करने पर पाँच सौ अठासी योजन के एक कम पचासवे अर्थात् उनचासवे भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—ऊर्ध्वलोक ब्रह्मस्वर्ग के समीप पाँच राजू चौडा है, यही भूमि है। तिर्यग्लोक एव सिद्धलोक के समीप १ योजन चौडा है, यही मुख है। उत्सेध ७ राजू, तीनों पवनों का औसत १४ योजन और पार्श्वभाग दो है, अतः भूमि ५ + १ मुख = ६ ÷ २ = ३ × ७ × १४ × २ = ५८८ इसे जगत्प्रतर प्रमाण करने पर $\frac{588 \times 49}{49}$ घनफल प्राप्त होता है। यह ४९ वर्ग राजू × $\frac{588}{49}$ योजन रूप मे होने से ग्रन्थकार ने $\frac{588}{49}$ सदृष्टि रूप मे लिखा है।

लोक के शिखर पर वायुरुद्ध क्षेत्र का घनफल

उवरि रज्जु-विक्खंभेण सत्त-रज्जु-आयामेण किंचूण-जोयण-बाहल्लेण ठिद-वाद-खेत्तं जगपदर-पमाणेण कदे ति-उत्तर-तिसदाणं बे-सहस्स-बिसद-चालीस-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{303}{2240}$ ।

अर्थ- ऊपर एक राजू विस्ताररूप, सात राजू आयामरूप और कुछ कम एक योजन बाहल्यरूप वातवलय की अपेक्षा स्थित वातक्षेत्र को जगत्प्रतर प्रमाण से करने पर तीन सौ तीन योजन के दो हजार, दो सौ चालीसवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—लोक के अग्रभाग पर पूर्व-पश्चिम अपेक्षा वातवलय का व्यास १ राजू, ऊँचाई $\frac{303}{320}$ योजन और दक्षिणोत्तर चौडाई ७ राजू है। इनका परस्पर गुणा कर जगत्प्रतर स्वरूप करने से $\frac{1}{1} \times \frac{7}{1} \times \frac{303}{320} \times \frac{49}{49} = \frac{303 \times 49}{2240}$ घनफल प्राप्त होता है। यह ४९ वर्ग राजू × $\frac{303}{2240}$ योजन होने से ग्रन्थकार ने सदृष्टि रूप मे $= \frac{303}{2240}$ लिखा है।

यहाँ $\frac{303}{320}$ कैसे प्राप्त होते है, इसका बीज कहते है—

८००० धनुष का एक योजन और २००० धनुष का एक कोस होता है। लोक के अग्रभाग पर घनोदधिवातवलय दो कोस मोटा है, जिसके ४००० धनुष हुए। घनवात एक कोस मोटा है जिसके २००० धनुष हुए और तनुवात १५७५ धनुष मोटा है। इन तीनों का योग (४००० + २००० + १५७५) ७५७५ धनुष होता है। जब ८००० धनुष का एक योजन होता है तब ७५७५ धनुष के

कितने योजन होंगे ? इस प्रकार त्रैराशिक करने पर $\frac{१}{८०००} \times \frac{१५७५}{१} = \frac{६३}{३२०}$ योजन मोटाई लोक के अग्रभाग में कही गई है। (त्रिलोकसार गाथा १३८)
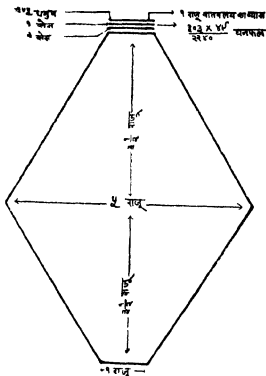
पवनों से रुद्ध समस्त क्षेत्र के घनफलों का योग

एवं [1]सव्वमेगत्थ मेलाविदे चउवीस-कोडि-समहिय-सहस्स-कोडीओ एगूणवीस-लक्ख-तेसीदि-सहस्स-चउसद-सत्तासीदि-जोयणाणं णव-सहस्स-सत्त-सय-सट्ठि-रूवाहिय-लक्खाए अवहिदेग-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। = $\frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७६०}$ ।

अर्थ—इन सबको इकट्ठा करके मिला देने पर एक हजार चौबीस करोड़, उन्नीस लाख, तयासी हजार, चार सौ सत्तासी योजनों में एक लाख नौ हजार सात सौ साठ का भाग देने पर लब्ध एक भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

१. ब. सव्वमग पवमेलाविदे, द. ज. ठ. सव्वमेग पमेलाविदे।

विशेषार्थ— १. लोक के नीचे तीनों पवनो से अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल,

२. लोक के एक राजू ऊपर पूर्व-पश्चिम मे अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल,

३. लोक के एक राजू ऊपर दक्षिणोत्तर में अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल,

४ सप्तम पृथिवी से सिद्धलोक पर्यन्त अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल.

५ सप्तम पृथिवी से मध्यलोक पर्यन्त दक्षिणोत्तर में अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल,

६ ऊर्ध्वलोक के अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल को और ७ लोक के अग्र भाग पर वातवलयो मे अवरुद्ध क्षेत्र के घनफल को एकत्र करने पर योग इस प्रकार होगा—

(जगत्प्रतर अथवा ४९ × $\frac{३१९८००००}{३४३}$) + (जगत्प्रतर या ४९ × $\frac{१७८३६}{३४३}$) + (जगत्प्रतर या ४९ × $\frac{४२००}{३४३}$) + (जगत्प्रतर या ४९ × $\frac{५८८}{४९}$) + (जगत्प्रतर या ४९ × $\frac{३०३}{२२४०}$)। इनको जोडने की प्रक्रिया—

जगत्प्रतर × [$\frac{३,१९,८००००}{३४३}$ + $\frac{१७८३६}{३४३}$ + $\frac{४२००}{३४३}$ + $\frac{५८८}{४९}$ + $\frac{३०३}{२२४०}$]

$$= \text{जगत्प्रतर} \times \left[\frac{१०२३,३६,००००० + ५७,०७५२० + १३,४४००० + १३,१७१२० + १४८४७}{१,०९७६०} \right]$$

= जगत्प्रतर × $\frac{१०२४१९८३४८७}{१०९७६०}$ अथवा = $\frac{१०२४,१९,८३४८७}{१,०९७६०}$ पवनो से रुद्ध समस्त क्षेत्र का घनफल प्राप्त हुआ।

पृथिवियो के नीचे पवन मे रुद्ध क्षेत्रो का घनफल

पुणो अट्ठण्हं पुढवीणं हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं वत्तइस्सामो—

तत्थ पढम-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं एक-रज्जु-विक्खंभ-सत्त-रज्जु-दीहा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्लं एसा अप्पणो बाहल्लस्स सत्तम-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। = $\frac{६००००}{७}$।

अर्थ—इसके बाद आठो पृथिवियो के अधस्तन भाग मे वायु से अवरुद्ध क्षेत्र का घनफल कहते हैं—

इन आठो पृथिवियो मे से प्रथम पृथिवी के अधस्तन भाग मे अवरुद्ध वायु के क्षेत्र का घनफल कहते हैं—एक राजू विष्कम्भ, सात राजू लम्बाई और साठ हजार योजन बाहल्य वाला प्रथम पृथिवी

का वातरुद्ध क्षेत्र होता है। इसका घनफल अपने बाहल्य अर्थात् साठ हजार योजन के सातवे-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—प्रथम पृथिवी अर्थात् मध्यलोक के समीप पवनों की चौडाई एक राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। इसके घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने पर इस प्रकार होता है—

$= \frac{१\times७\times६००००\times४९}{४९} = \frac{४९\times६००००\times७}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

बिदिय-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घण-फलं सत्त-भागूण-बे रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला असीदि-सहस्साहिय-सत्तण्हं लक्खाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $= \frac{७८००००}{४९}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के अधस्तन भाग मे वातावरुद्ध क्षेत्र का घनफल कहते है—सातवे भाग कम दो राजू विष्कम्भ वाला, सात राजू आयत और ६० हजार योजन बाहल्य वाला दूसरी पृथिवी का वातरुद्ध क्षेत्र है। उनका घनफल सात लाख, अस्सी हजार, योजन के उनचासवे भाग बाहल्य-प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—अधोलोक की भूमि सात राजू और मुख एक राजू है। भूमि मे से मुख घटाने पर (७—१) = ६ राजू अवशेष रहा। क्योकि ७ राजू ऊँचाई पर ६ राजू घटते है, अत एक राजू पर $\frac{६}{७}$ राजू घटेगा, इस प्रकार प्रत्येक एक राजू ऊपर-ऊपर जाने पर घटेगा। प्रत्येक एक राजू पर $\frac{६}{७}$ राजू घटाते जाने से नीचे से क्रमश $\frac{४३}{७}$, $\frac{३७}{७}$, $\frac{३१}{७}$, $\frac{२५}{७}$, $\frac{१९}{७}$, $\frac{१३}{७}$, और $\frac{७}{७}$ राजू व्यास प्राप्त होता है। इसीलिए गाथा मे दूसरी पृथिवी का व्यास $\frac{१३}{७}$ राजू कहा गया है। $= \frac{७}{१}\times\frac{१३}{७}\times\frac{६००००}{१}$ $= \frac{७\times७\times७८००००\times१}{७\times७} = \frac{४९\times७८००००}{४९}$ घनफल दूसरी पृथिवी के वातरुद्ध क्षेत्र का प्राप्त हुआ।

तदिय-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध वाद-खेत्त-घणफलं बे-सत्तम-भाग-हीण-तिण्णि-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला चालीस-सहस्साधिय-एक्कारस-लक्ख-जोयणाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $= \frac{११४००००}{४९}$ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी के अधस्तन-भाग मे वातरुद्ध क्षेत्र का घनफल कहते है—दो बटे सात भाग ($\frac{२}{७}$) कम तीन राजू विष्कम्भ युक्त, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन बाहल्य-वाला तीसरी पृथिवी का वातरुद्ध क्षेत्र है। इसका घनफल ग्यारह लाख चालीस हजार योजन के उनचासवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ---तीसरी पृथिवी के अधस्तन पवनो का विष्कम्भ $\frac{19}{7}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अत $\frac{7}{1}\times\frac{19}{7}\times\frac{60000}{1}=\frac{7\times1140000\times7}{7\times7}=\frac{55860000}{49}$ घनफल प्राप्त हुआ।

चउत्थ-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं तिण्णि-सत्तम-भागूण-चत्तारि-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला पण्णरस-लक्ख-जोयणाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्ल जगपदर होदि। $=\frac{1500000}{49}$।

अर्थ—चौथी पृथिवी के अधस्तन भाग मे वातरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते हैं—

चौथी पृथिवी का वातरुद्ध क्षेत्र तीन बटे सात ($\frac{3}{7}$) भाग कम चार राजू विस्तार वाला, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन मोटा है। इसका घनफल पन्द्रह लाख योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—चौथी पृथिवी के अधस्तन पवनो का विष्कम्भ $\frac{25}{7}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अत $\frac{25}{7}\times\frac{7}{1}\times\frac{60000}{1}=\frac{7\times1500000\times7}{7\times7}=\frac{1500000\times49}{49}$ घनफल प्राप्त हुआ।

पंचम-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं चत्तारि-सत्तम-भागूण[1]-पंच-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला सट्ठि-सहस्साहिय-अट्ठारस-लक्खाण एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $=\frac{1860000}{49}$।

अर्थ—पांचवी पृथिवी के अधस्तन भाग मे अवरुद्ध वातक्षेत्र का घनफल कहते हैं—

पांचवी पृथिवी के अधोभाग मे वातावरुद्ध क्षेत्र चार बटे सात ($\frac{4}{7}$) भाग कम पांच राजू विस्तार रूप, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन मोटा है। इसका घनफल अठारह लाख, साठ हजार योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—पांचवी पृथिवी के अधस्तन पवनों का विष्कम्भ $\frac{31}{7}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अतः $\frac{31}{7}\times\frac{7}{1}\times\frac{60000}{1}=\frac{7\times1860000\times7}{7\times7}=\frac{1860000\times49}{49}$ घनफल प्राप्त हुआ।

१. द. भागूणरज्जु।

छट्ठ-पुढवीए 'हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं पंच-सत्तम-भागूण-छ-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला[1] वीस सहस्साहिय-बावीस-लक्खाणमेगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदर होदि । $= \frac{२२२००००}{४९}$ ।

अर्थ - छठी पृथिवी के अधस्तन भाग मे वातावरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते है---पाँच बटे सात ($\frac{५}{७}$) भाग कम छह राजू विस्तार वाला, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन बाहल्य वाला छठी पृथिवी के नीचे वातरुद्ध क्षेत्र है, इसका घनफल बाईस लाख, बीस हजार योजन के उनचासवे-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—छठी पृथिवी के अधस्तन पवनो का विष्कम्भ $\frac{३७}{७}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अत $\frac{३७}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{६००००}{१} = \frac{२२,२००००\times७\times७}{७\times७} = \frac{२२,२००००\times४९}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

सत्तम-पुढवीए हेट्ठिम-भागावरुद्ध-वाद-खेत्त-घणफलं छ-सत्तम-भागूण-सत्त-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला सीदि-सहस्साधिय-पंच-वीस-लक्खाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{२५८००००}{४९}$ ।

अर्थ—सातवी पृथिवी के अधोभाग में वातरुद्धक्षेत्र के घनफल को कहते है—सातवी पृथिवी के नीचे वातावरुद्ध क्षेत्र छह बटे सात ($\frac{६}{७}$) भाग कम सात राजू विस्तार वाला, सात राजू लम्बा और साठ हजार योजन मोटा है। इसका घनफल पच्चीस लाख, अस्सी हजार योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—सातवी पृथिवी के अधस्तन पवनो का विष्कम्भ $\frac{४३}{७}$ राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन प्रमाण है। अत. $\frac{४३}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{६००००}{१} = \frac{७\times२५,८००००\times७}{७\times७} = \frac{२५,८००००\times४९}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

अट्ठम-पुढवीए हेट्ठिम-भाग-वादावरुद्ध-खेत्त-घणफलं सत्त-रज्जु-आयदा एग-रज्जु-विक्खंभा सट्ठि-जोयण-सहस्स-बाहल्ला एसा अप्पणो बाहल्लस्स[2] सत्त-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि ।= ६०००० ।

१। २ द. ब. बाहल्ल से ।

अर्थ—आठवी पृथिवी के अधस्तन-भाग मे वातावरुद्ध क्षेत्र के घनफल को कहते है—आठवीं पृथिवी के अधस्तन-भाग में वातावरुद्ध क्षेत्र ७ राजू लम्बा, एक राजू विस्तार-युक्त और साठ हजार योजन बाहल्य वाला है। इसका घनफल अपने बाहल्य के सातवें भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—आठवी पृथिवी के अधस्तन-पवनो का विस्तार एक राजू, लम्बाई ७ राजू और मोटाई ६०००० योजन है। अत $\frac{१}{१} \times \frac{७}{१} \times \frac{६००००}{१} = \frac{७ \times ६०००० \times ४९}{४९}$ अर्थात् $\frac{४२०००० \times ४९}{४९}$ घनफल प्राप्त हुआ।

आठों पृथिवियों के सम्पूर्ण घनफलो का योग

एवं [1]सव्वमेगट्ठ मेलाविदे येत्तिय होदि । = $\frac{१०८२००००}{४९}$ ।

।। एव वादावरुद्ध-खेत्त-घणफल समत्त ।।

अर्थ—इन सबको इकट्ठा मिलाने पर कुल घनफल इस प्रकार होता है :—

$\frac{४९ \times ६०००० \times ७}{४९} + \frac{४९ \times ७,८००००}{४९} + \frac{४९ \times ११,४००००}{४९} + \frac{४९ \times १५०००००}{४९} + \frac{४९ \times १८६००००}{४९} + \frac{४९ \times २२,२००००}{४९} + \frac{४९ \times २५,८००००}{४९} + \frac{४९ \times ४२००००}{४९}$ ।

नोट—आठो पृथिवियो के उपर्युक्त (घनफल निकालते समय) घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने हेतु सर्वत्र $\frac{४९}{४९}$ का गुणा किया गया है।

उपर्युक्त घनफलो मे अंश का (ऊपर वाला) ४९ जगत्प्रतर स्वरूप है. अत. उसे अन्यत्र स्थापित कर देने पर घनफलो का स्वरूप इस प्रकार बनता है।

$४९ \times \left[\frac{४२००००}{४९} + \frac{७८००००}{४९} + \frac{११,४००००}{४९} + \frac{१५०००००}{४९} + \frac{१८६००००}{४९} + \frac{२२२००००}{४९} + \frac{२५८००००}{४९} + \frac{४२००००}{४९} \right] = ४९ \times \frac{१०८२००००}{४९}$ अर्थात् जगत्प्रतर $\times \frac{१०८२००००}{४९}$ या $= \frac{१०८,२००००}{४९}$ घनफल सम्पूर्ण (आठों) पृथिवियो के अधस्तन भाग का प्राप्त हुआ।

इस प्रकार वातावरुद्ध क्षेत्र के घनफल का वर्णन समाप्त हुआ।

लोक स्थित आठो पृथिवियो के वायुमण्डल का चित्रण इस प्रकार है—

---

१. द. ब. सव्वमेग पमेलाविदे ।

लोकाकाश
आकाश
आकाश
आकाश
आकाश
आकाश

प्रत्येक पृथिवी के घनफल-कथन का निर्देश

संपहि अट्ठण्हं पुढवीणं पत्तेक्कं विंदफलं थोरुच्चएण वत्तइस्सामो—

तत्थ पढम-पुढवीए एग-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-दीहा वीस-सहस्सूण-बे-जोयण-लक्ख-बाहल्ला एसा अप्पणो बाहल्लस्स सत्तम-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{१८००००}{७}$ ।

अर्थ—अब आठों पृथिवियों मे से प्रत्येक पृथिवी के घनफल को संक्षेप मे कहते हैं—

इन आठो पृथिवियों मे से पहली पृथिवी एक राजू विस्तृत, सात राजू लम्बी और बीस हजार कम दो लाख योजन मोटी है। इसका घनफल अपने बाहल्य के सातवे भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—रत्नप्रभा नामक पहली पृथिवी एक राजू चौडी, ७ राजू लम्बी और १,८०००० योजन मोटी है, इनको परस्पर गुणित कर घनफल को जगत्प्रतर करने हेतु $\frac{७}{७}$ से पुनः गुणा किया गया है। यथा—

$\frac{१}{१} \times \frac{७}{१} \times \frac{१८००००}{१} = \frac{७ \times १८०००० \times ७}{७} = ४९$ वर्ग राजू $\times \frac{१८००००}{७}$ योजन घनफल प्रथम रत्न-प्रभा पृथिवी का प्राप्त हुआ।

दूसरी पृथिवी का घनफल

बिदिय-पुढवीए सत्त-भागूण-बे-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु आयदा बत्तीस-जोयण-सहस्स-बाहल्ला सोलस-सहस्साहिय-चदुण्हं[1] लक्खाणमेगूण[2] पण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदर होदि । $= \frac{४१६०००}{४९}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी सातवे भाग कम दो राजू विस्तृत, सात राजू आयत और बत्तीस-हजार योजन मोटी है, इसका घनफल चार लाख सोलह हजार योजन के उनचासवे भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

---

१ ब. क. चउण्ह। २. द. लक्खाण एगुण°।

विशेषार्थ—दूसरी शर्करापृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{१३}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और ३२००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतरस्वरूप करने हेतु $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{१३}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{३२०००}{१} = \frac{७ \times ४,१६००० \times ७}{७ \times ७}$ = ४९ वर्ग राजू × $\frac{४,१६०००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

तीसरी पृथिवी का घनफल

तदिय-पुढवीए बे-सत्तम-भाग-हीण-तिण्णि-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा अट्ठावीस-जोयण-सहस्स-बाहल्ला बत्तीस-सहस्साहिय-पंच-लक्ख-जोयणाणं एगूण-पण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $= \frac{५३२०००}{४९}$ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी दो बटे सात ($\frac{२}{७}$) भाग कम तीन राजू विस्तृत, सात राजू आयत और अट्ठाईस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल पाँच लाख, बत्तीस हजार योजन के उनचासवे-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—तीसरी बालुका पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{१९}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और २८००० याजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने हेतु $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{१९}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{२८०००}{१} = \frac{७ \times ५,३२००० \times ७}{७ \times ७}$ = ४९ वर्ग राजू × $\frac{५,३२०००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

चतुर्थ पृथिवी का घनफल

चउत्थ-पुढवीए तिण्णि-सत्तम-भागूण चत्तारि-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु आयदा चउवीस-जोयण-सहस्स बाहल्ला छ-जोयण-लक्खाणं एगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि। $= \frac{६०००००}{४९}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी तीन बटे सात ($\frac{३}{७}$) भाग कम चार राजू विस्तृत, सात राजू आयत और चौबीस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल छह लाख योजन के उनचासवे-भाग प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—चौथी पकप्रभा पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{२५}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और २४००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने हेतु $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{२५}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{२४०००}{१} = \frac{७ \times ६०००००० \times ७}{७ \times ७}$ = ४९ वर्ग राजू × $\frac{६,०००००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त हुआ।

पाँचवीं पृथिवी का घनफल

पंचम-पुढवीए चत्तारि-सत्त-भागूण-पंच-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा बीस-जोयण-सहस्स-बाहल्ला बीस-सहस्साहिय-छण्णं लक्खाणमेगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{६२००००}{४९}$ ।

अर्थ पाँचवीं पृथिवी चार बटे सात ($\frac{४}{७}$) भाग कम पाँच राजू विस्तृत, सात राजू आयत और बीस हजार योजन मोटी है। इसका घनफल छह लाख, बीस हजार योजन के उनचासवें-भाग बाहल्य प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ -पाँचवीं धूमप्रभा पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{३१}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और २०००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतरस्वरूप करने हेतु $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{३१}{७}\times\frac{७}{१}\times\frac{२००००}{१}=\frac{६२००००\times७}{७\times७}=४९$ वर्ग राजू $\times\frac{६२००००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त हुआ।

छठी पृथिवी का घनफल

छट्ठम-पुढवीए पंच-सत्त-भागूण-छ-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा सोलस-जोयण-सहस्स-बाहल्ला बाणउदि-सहस्साहिय-पंचण्हं लक्खाणमेगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{५९२०००}{४९}$ ।

अर्थ छठी पृथिवी पाँच बटे सात ($\frac{५}{७}$) भाग कम छह राजू विस्तृत, सात राजू आयत और सोलह हजार योजन बाहल्यवाली है। इसका घनफल पाँच लाख, बानवे हजार योजन के उनचासवें भाग बाहल्य-प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—छठी तमप्रभा पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{३७}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और १६००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतर करने के लिए $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{३७}{७}\times\frac{७}{१}\times\frac{१६०००}{१}=\frac{५९२०००\times७}{७\times७}=४९$ वर्ग राजू $\times\frac{५९२०००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

सातवीं पृथिवी का घनफल

सत्तम-पुढवीए छ-[1]सत्तम-भागूण-सत्त-रज्जु-विक्खंभा सत्त-रज्जु-आयदा अट्ठ-

१. द. ससत्तमागूण"।

जोयण-सहस्स-बाहल्ला चउदाल-सहस्साहिय-तिण्णं लक्खाणमेगूणपण्णास-भाग-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{३४४०००}{४९}$ ।

अर्थ—सातवी पृथिवी छह बटे सात ($\frac{६}{७}$) भाग कम सात राजू विस्तृत, सात राजू आयत और आठ हजार योजन बाहल्य वाली है। इसका घनफल तीन लाख चवालीस हजार योजन के उनचासवें-भाग-बाहल्य-प्रमाण जगत्प्रतर होता है।

विशेषार्थ—सातवी महातम-प्रभा पृथिवी पूर्व-पश्चिम $\frac{४३}{७}$ राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और ८००० योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतर स्वरूप करने के लिए $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $\frac{४३}{७} \times \frac{७}{१} \times \frac{८०००}{१} = \frac{७ \times ४३ \times ८००० \times ७}{७ \times ७} =$ ४९ वर्ग राजू $\times \frac{३४४०००}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

आठवी पृथिवी का घनफल

अट्ठम-पुढवीए सत्त-रज्जु-आयदा [1]एक्क-रज्जु-रुंदा अट्ठ-जोयण[2]-बाहल्ला सत्तम-[3]भागाहियएगज्जोयण-बाहल्लं जगपदरं होदि । $= \frac{८}{७}$ ।

अर्थ—आठवी पृथिवी सात राजू आयत, एक राजू विस्तृत और आठ योजन मोटी है। इसका घनफल सातवें-भाग सहित एक योजन बाहल्ल प्रमाण जग-प्रतर होता है।

विशेषार्थ—आठवी ईषत्-प्राग्भार पृथिवी पूर्व-पश्चिम एक राजू विस्तृत, दक्षिणोत्तर ७ राजू लम्बी और ८ योजन मोटी है। इसके घनफल को जगत्प्रतरस्वरूप करने के लिए $\frac{७}{७}$ से गुणा करने पर $१ \times ७ \times ८ = \frac{७ \times ८ \times ७}{७} =$ ४९ वर्गराजू $\times \frac{८}{७}$ योजन घनफल प्राप्त होता है।

सम्पूर्ण घनफलों का योग

एदाणि सव्व-मेलिदे एत्तियं होदि । $\frac{४३६४०५६}{४९}$ ।

अर्थ—इन सब घनफलों को मिलाने पर निम्नलिखित प्रमाण होता है—

$(४९ \times \frac{१,८००००}{७}$ या $४९ \times \frac{१२,६००००}{४९}) + (४९ \times \frac{४,९६०००}{४९}) + (४९ \times \frac{४,३२०००}{४९}) + (४९ \times \frac{६,०००००}{४९}) + (४९ \times \frac{६,२००००}{४९}) + (४९ \times \frac{५,६३०००}{४९}) + (४९ \times \frac{३४४०००}{४९}) + (४९ \times \frac{८}{७}$ या $४९ \times \frac{५६}{४९})$ । यहाँ अंश के ४९ जगत्प्रतर स्वरूप हैं। अतः—

१. द. एगरज्जु° । २. द. अट्ठसहस्सजोयण° । ३. द. भागाहियमेयज्जो° ।

$$४९ \times \left[\frac{१२,६०००० + ४,१६००० + ५,३२००० + ६,००००० + ६,२०००० + ५,९२००० + ३,४४००० + ५६}{४९}\right]$$ = ४९ वर्गराजू $\times \frac{४३,६४०५६}{४९}$ योजन या जगत्प्रतर $\times \frac{४३,६४०५६}{४९}$ योजन घनफल प्राप्त होता है ।

लोक के शुद्धाकाश का प्रमाण

एदेहिं दोहिं खेत्ताणं विंदफलं संमेलिय सयल-लोयम्मि अवणीदे अवसेसं सुद्धायास-पमाणं होदि ।
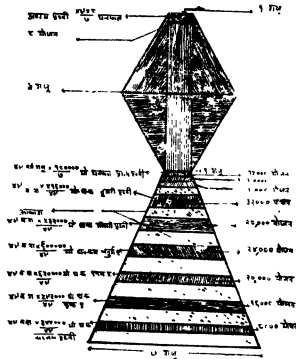
तस्स ठवणा—

[चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये]
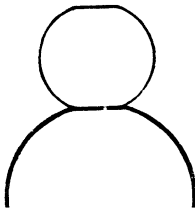
अर्थ--उपर्युक्त इन दोनों क्षेत्रों (वातावरुद्ध और आठ भूमियों) के घनफल को मिलाकर उसे सम्पूर्ण लोक में से घटा देने पर अवशिष्ट शुद्ध-आकाश का प्रमाण प्राप्त होता है। उसकी स्थापना यह है--सदृष्टि मूल मे देखिये (इस संदृष्टि का भाव समझ मे नही आया)।

अधिकारान्त मङ्गलाचरण

केवलणाण-तिणेत्तं, चोत्तीसादिसय-भूदि-संपण्णं ।
णाभेय-जिणं तिहुवण-णमंसणिज्जं णमंसामि ।।२८६।।

एवमाइरिय-परंपरागय-तिलोयपण्णत्तीए सामण्ण-जगसरूव-णिरूवण-पण्णत्ती णाम ।

पढमो महाहियारो सम्मत्तो ।।१।।

अर्थ—केवलज्ञान रूपी तीसरे नेत्र के धारक, चौंतीस अतिशय रूपी विभूति से सम्पन्न और तीनों लोकों के द्वारा नमस्करणीय, ऐसे नाभेय जिन अर्थात् ऋषभ जिनेन्द्र को मैं नमस्कार करता हूँ ।।२८६।।

इस प्रकार आचार्य-परम्परागत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति मे सामान्य

जगत्स्वरूप निरूपण-प्रज्ञप्ति नामक

प्रथम महाधिकार समाप्त हुआ

□

बिदुओ महाहियारो

मङ्गलाचरण पूर्वक नारक लोक-कथन की प्रतिज्ञा

अजिय-जिण जिय-मयण, दुरित-हरं आजवंजवातीदं ।
पणमिय णिरूवमाणं, णारय-लोयं णिरूवेमो ।।१।।

अर्थ —कामदेव को जीतने वाले, पाप को नष्ट करने वाले, ससार से अतीत और अनुपम अजितनाथ भगवान को नमस्कार करके नारक लोक का निरूपण करता हूँ ।।१।।

पन्द्रह अधिकारो का निर्देश

[1]णेरइय-णिवास-खिदी-परिमाणं आउ-उदय - ओहीए ।
गुणठाणादीणं संखा, उप्पज्जमाण जीवाणं ।।२।।

७ ।

जम्मण-मरणाणंतर-काल-पमाणादि एक्क समयम्मि ।
उप्पज्जय-मरणाण य, परिमाणं तह य आगमणं ।।३।।

३ ।

णिरय-गदि-आउबधण-परिणामा तह य जम्म-भूमीओ ।
णाणादुक्ख - सरूवं, दंसण-गहणस्स हेदु जोणीओ ।।४।।

५ ।

एवं पण्णरस - विहा, अहियारा वण्णिदा समासेण ।
तित्थयर - वयण-णिग्गय - णारय-पण्णत्ति - णामाए ।।५।।

१. द. क. ब. णिढइ ।

अर्थ—नारकियों की १ निवास-भूमि, २ परिमाण (सख्या), ३ आयु, ४ उत्सेध, ५ अवधिज्ञान, ६ गुणस्थानादिकों का वर्णन, ७ उत्पद्यमान जीवों की सख्या, ८ जन्म-मरण के अन्तर-काल का प्रमाण, ९ एक समय मे उत्पन्न होने वाले और मरने वाले जीवों का प्रमाण, १० नरक से निकलने वाले जीवों का वर्णन, ११ नरक गति के आयु-बन्धक परिणाम, १२ जन्मभूमि, १३ नाना दुःखोका स्वरूप, १४ सम्यक्त्व-ग्रहण के कारण और १५ नारकी जीवो की योनियां का कथन, तीर्थङ्कर के वचन से निकले हुए इस प्रकार ये पन्द्रह अधिकार इस नारक-प्रज्ञप्ति नामक महाधिकार में सक्षेप में कहे गये है ॥२-५॥

त्रसनाली का स्वरूप एव ऊँचाई

लोय-बहु-मज्झ-देसे, तरुम्मि सारं व रज्जु-पदर-जुदा ।
तेरस रज्जुच्छेहा, किंचूणा होदि तस - णाली ॥६॥

ऊण-पमाणं दंडा, कोडि-तियं एक्कवीस-लक्खाणं ।
बासट्ठिं च सहस्सा, दुसया इगिदाल दुतिभाया ॥७॥

। ३२१६२२४१ । $\frac{2}{3}$ ।

अर्थ वृक्ष मे (स्थित) सार की तरह, लोक के बहुमध्य भाग मे एक राजू लम्बी-चौडी और कुछ कम तेरह राजू ऊँची त्रसनाली है। त्रसनाली की कमी का प्रमाण तीन करोड इक्कीस लाख, बासठ हजार, दो सौ इकतालीस धनुष एव एक धनुष के तीन-भागो मे से दो ($\frac{2}{3}$) भाग है ॥६-७॥

विशेषार्थ त्रसनाली की ऊँचाई १४ राजू प्रमाण है। इसमे सातवे नरक के नीचे एक राजू प्रमाण कलकल नामक स्थावर लोक है, यहाँ त्रस जीव नही रहते अत उसे (१४—१) = १३ राजू कहा गया है। इसमे भी सप्तम नरक के मध्य भाग मे ही नारकी (त्रस) है। नीचे के ३९९९$\frac{1}{3}$ योजन (३१९९४६६६$\frac{2}{3}$ धनुष) मे नही है।

इसी प्रकार ऊर्ध्वलोक मे सर्वार्थसिद्धि से ईषत्प्राग्भार नामक आठवी पृथिवी के मध्य १२ योजन (९६००० धनुष) का अन्तराल है, आठवी पृथिवी की मोटाई ८ योजन (६४००० धनुष) है और इसके ऊपर दो कोस (४००० धनुष), एक कोस (२००० धनुष) एव १५७५ धनुष मोटाई वाले तीन वातवलय है। इस सम्पूर्ण क्षेत्र मे भी त्रस जीव नही है इसलिए गाथा मे १३ राजू ऊँची त्रसनाली मे से (३१९९४६६६$\frac{2}{3}$ धनुष + ९६००० धनुष + ६४००० धनुष + ४००० धनुष + २००० धनुष और + १५७५ धनुष) = ३२१६२२४१$\frac{2}{3}$ धनुष कम करने को कहा गया है।

सर्वलोक को त्रसनालीपने की विवक्षा

अहवा----

उववाद-मारणंतिय-परिणद-तस-लोय-पूरणेण गदो ।
केवलिणो अवलंबिय, सव्व-जगो होदि तस-णाली ।।८।।

अर्थ— अथवा उपपाद और मारणांतिक समुद्घात मे परिणत त्रस तथा लोकपूरणसमुद्घात को प्राप्त केवली का आश्रय करके सारा लोक त्रस-नाली है ।।८।।

विशेषार्थ— जीव का अपनी पूर्व पर्याय को छोडकर नवीन पर्यायजन्य आयु के प्रथम समय को उपपाद कहते हैं । पर्याय के अन्त मे मरण के निकट होने पर बद्धायु के अनुसार जहाँ उत्पन्न होना है, वहाँ के क्षेत्र को स्पर्श करने के लिए आत्मप्रदेशो का शरीर से बाहर निकलना मारणान्तिक समुद्घात है । १३ वे गुणस्थान के अन्त मे आयुकर्म के अतिरिक्त शेष तीन अघातिया कर्मों के स्थितिक्षय के लिए केवली के (दण्ड, कपाट, प्रतर और लोकपूर्ण आकार से) आत्मप्रदेशो का शरीर से बाहर निकलना केवली-समुद्घात है, इन तीनो अवस्थाओं मे त्रस जीव त्रस-नाली के बाहर भी पाये जाते है ।

रत्नप्रभा-पृथिवी के तीन भाग एवं उनका बाहल्य

खर-पंकप्पब्बहुला, भागा [1]रयणप्पहाए पुढवीए ।
बहलत्तणं सहस्सा, [2]सोलस चउसीदि सीदी य ।।९।।

१६००० । ८४००० । ८०००० ।

अर्थ— रत्नप्रभापृथिवी के खर, पक और अब्बहुलभाग क्रमश. सोलह हजार, चौरासी हजार और अस्सी हजार योजन प्रमाण बाहल्य वाले हैं ।।९।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभापृथिवी का—(१)खरभाग १६००० योजन, (२) पकभाग ८४००० योजन और (३) अब्बहुलभाग ८०००० योजन मोटा है ।

खरभाग के एव चित्रापृथिवी के भेद

खरभागो णादव्वो, सोलस-भेदेहिं संजुदो णियमा ।
चित्तादीओ खिदिओ, तेसिं चित्ता बहु-वियप्पा ।।१०।।

१. द. रयणप्पहायि पुढवीए, ब. रयणप्पहा य पुढवीण । २ द. ब सोल ।

अर्थ—इन तीनों में खर भाग नियम से सोलह भेदों सहित जानना चाहिए। ये सोलह भेद चित्रादिक सोलह पृथिवी रूप है। इनमें से चित्रा पृथिवी अनेक प्रकार है ॥१०॥

'चित्रा' नाम की सार्थकता

णाणाविह-वण्णाओ, मट्टीओ तह सिलातला उवला[1] ।
वालुव - सक्कर - सीसय - रुप्प - सुवण्णाण वइरं च ॥११॥

अय-तंब-तउर-सासय-मणिस्सिला-हिंगुलाणि [2]हरिदालं ।
अंजण-पवाल-गोमज्जगाणि रुजगं कअब्भ-पदराणि ॥१२॥

तह अब्भवालुकाओ, फलिहं जलकंत - सूरकंताणि ।
चंदप्पह - वेलुरियं, गेरुव - चंदग्घ - लोहिदंकाणि ॥१३॥

बंबय-वय-मोय - सारग्ग - पहुदीणि विविह - वण्णाणि ।
जा होंति त्ति एत्तेणं, चित्तेत्ति [3]पवण्णिदा एसा ॥१४॥

अर्थ—यहाँ पर अनेक प्रकार के वर्णों से युक्त मिट्टी, शिलातल, उपल, वालु, शक्कर, शीशा, चांदी, स्वर्ण तथा वज्र, अयस् (लोहा), तांबा, त्रपु (रांगा), सस्यक (सीसा), मणिशिला, हिंगुल (सिंगरफ), हरिताल, अंजन, प्रवाल (मूंगा), गोमेदक (कर्केतनमणि), रुचक (राजावर्त मणि), कदंब (धातुविशेष), प्रतर (धातुविशेष), अभ्रवालुका (लालरेत), स्फटिकमणि, जलकान्तमणि, सूर्यकान्तमणि, चन्द्रप्रभ (चन्द्रकान्तमणि), वैडूर्यमणि, गेरु, चन्द्राश्म (रत्नविशेष), लोहिताक (पदमरागमणि), बबय (मरकतमणि), वय (पुष्परागमणि), मोय (कदलीपत्र के वर्ण की नीलमणि) और सारग इत्यादि विविध वर्णवाली धातुएं हैं, इसीलिए इस पृथिवी का 'चित्रा' इस नाम से वर्णन किया गया है ॥११-१४॥

चित्रा-पृथिवी की मोटाई

एदाए[4] बहलत्तं, एक्क-सहस्सा हवंति[5] जोयणया ।
तीए हेट्ठा कमसो, चोद्दस रयणा[6] य खंड मही ॥१५॥

अर्थ—इस चित्रा पृथिवी की मोटाई एक हजार योजन है। इसके नीचे क्रमशः चौदह रत्नमयी पृथिवीखण्ड (पृथिवियां) स्थित हैं ॥१५॥

१. ब. सिलातला ओववादा। २. द. अरिदाल। ३. द. ब. वण्णिदो एसो। ४ ब. एदाव। ५. द हुवति। ६. ब. द क ठ रण्णा य खिदमही।

अन्य १४ पृथिवियों के नाम एवं उनका बाहल्य

तण्णामा वेरुलियं, लोहियथंक[1] असारगल्लं च ।
गोमेज्जय पवालं, जोदिरसं अंजण णाम ॥१६॥

अंजणमूलं अंकं, फलिहचंदणं च [2]बब्चगयं ।
बउलं सेला[3] एदा, पत्तेक्क इगि-सहस्स-बहलाइं ॥१७॥

अर्थ—वैडूर्य, लोहिताक (लोहिताक्ष), असारगल्ल (मसारकल्पा), गोमेदक, प्रवाल, ज्योतिरस, अजन, अजनमूल, अक, स्फटिक, चन्दन, वर्चगत (सर्वार्थका), बकुल और शैला ये उन उपर्युक्त चौदह पृथिवियो के नाम है। इनमे से प्रत्येक की मोटाई एक-एक हजार योजन है ॥१६-१७॥

सोलहवी पृथिवी का नाम, स्वरूप एवं बाहल्य

ताण खिदीण हेट्ठा, पासाणं णाम [4]रयण-सेल-समा ।
जोयण-सहस्स-बहलं, वेत्तासण - सण्णिहाउ[5] संठाओ[6] ॥१८॥

अर्थ—उन (१५) पृथिवियो के नीचे पाषाण नाम की एक (सोलहवी) पृथिवी है, जो रत्नपाषाण सदृश है। इसकी मोटाई भी एक हजार योजन प्रमाण है। ये सब पृथिवियाँ वेत्रासन के सदृश स्थित है ॥१८॥

पकभाग एवं अब्बहुल भाग का स्वरूप

पंकाजिरो य [7]दीसदि, एवं पंक-बहुल-भागो वि ।
अप्पबहुलो वि भागो, सलिल - सरूवस्सओ होदि ॥१९॥

अर्थ—इसी प्रकार पकबहुलभाग भी पक से परिपूर्ण देखा जाता है। उसी प्रकार अब्बहुल भाग जलस्वरूप के आश्रय से है ॥१९॥

---

१. [लोहिययक्ख मसार]। २. ठ. चचब्बगय। ३. द. क. ब. सेलं इय एदाइ। ४ ब. क ठ. रयणसोलसम। ५. द. ब सण्णिहो। ६. क. ठ. सबओ। ७. द क. ठ. दिसदि एदा एवं, ब. दिसदि एव।

रत्नप्रभा नाम की सार्थकता

एवं बहुविह-रयणप्पयार - भरिदो विराजदे जम्हा ।
रयणप्पहो[1] त्ति तम्हा, भणिदा णिउणेहि गुणणामा ॥२०॥

अर्थ—इस प्रकार क्योंकि यह पृथिवी बहुत प्रकार के रत्नो से भरी हुई शोभायमान होती है, इसीलिए निपुण-पुरुषो ने इसका 'रत्नप्रभा' यह सार्थक नाम कहा है ॥२०॥

शेष छह पृथिवियो के नाम एव उनकी सार्थकता

सक्कर-वालुव-पंका, धूमतमा तमतमा हि सहचरिया ।
जाम्रो[2] अवसेसावो[3], छप्पुढवीम्रो वि गुणणामा ॥२१॥

अर्थ—शेष छह पृथिवियाँ क्रमश शक्कर, वालू, कीचड, धूम, अन्धकार और महान्धकार की प्रभा से सहचरित हैं, इसीलिए इनके भी उपर्युक्त नाम सार्थक है ॥२१॥

विशेषार्थ—रत्नप्रभापृथिवी के नीचे शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पकप्रभा, धूमप्रभा, तम.प्रभा और तमस्तम.प्रभा (महातम प्रभा) ये छह पृथिवियाँ क्रमश. शर्करा आदि की प्रभासदृश सार्थक नाम वाली हैं ।

शर्करा-आदि पृथिवियों का बाहल्य

बत्तीसट्ठावीसं, चउवीसं बीस-सोलसट्ठं च ।
हेट्ठिम-छप्पुढवीण, बहलत्तं जोयण-सहस्सा ॥२२॥

३२००० । २८००० । २४००० । २०००० । १६००० । ८००० ।

अर्थ—इन छह अधस्तन पृथिवियो की मोटाई क्रमशः बत्तीस हजार, अट्ठाईस हजार, चौबीस हजार, बीस हजार, सोलह हजार और आठ हजार योजन प्रमाण है ॥२२॥

विशेषार्थ—शर्करा पृथिवी की मोटाई ३२००० योजन, बालुका की २८००० योजन, पंकप्रभा की २४००० योजन, धूमप्रभा की २०००० योजन, तम:प्रभा की १६००० योजन और महातमः-प्रभा की ८००० योजन मोटाई है ।

१. [रयणप्पह त्ति], ठ. रयणप्पह होत्ति । २. द. ब. क. ठ. जेत । ३. ठ. अवसेवासो ।

प्रकारान्तर से पृथिवियो का बाहल्य

वि-गुणिय-छ-च्चउ-सट्ठी-सट्ठी-उणसट्ठी-अट्ठ[1] -चउवण्णा ।
बहलत्तणं सहस्सा, हेट्ठिम - पुढवीण - छण्णं पि ॥२३॥
पाठान्तरम् ।

१३२००० । १२८००० । १२०००० । ११८००० । ११६००० । १०८००० ।

अर्थ—छयासठ, चौसठ, साठ, उनसठ, अट्ठावन और चौवन इनके दुगुने हजार योजन प्रमाण उन अधस्तन छह पृथिवियो की मोटाई है ॥२३॥

विशेषार्थ—शर्करा पृथिवी की मोटाई (६६ हजार × २ =) १,३२००० योजन बालुका की (६४ हजार × २) = १,२८००० यो०, पंकप्रभा की (६० हजार × २) = १,२०००० यो०, धूमप्रभा की (५६ ह० × २) = १,१८००० यो०, तम प्रभा की (५८ ह० × २) = १,१६००० यो० और महातमःप्रभा की (५४ ह० × २) = १,०८००० योजन प्रमाण है ।

पृथिवियो से घनोदधि वायु की सलग्नता एव आकार

सत्तच्चिय भूमीओ, णव-दिस-भाएण घणोवहि-विलग्गा[2] ।
अट्ठम-भूमी दस-दिस-भागेसु घणोवहिं[3] छिवदि ॥२४॥

पुव्वावर-विब्भाए, वेत्तासण-संणिहाओ संठाओ ।
उत्तर-दक्खिण-दीहा, अणादि-णिहणा य पुढवीओ ॥२५॥

अर्थ—सातो पृथिवियाँ (ऊर्ध्वदिशा को छोडकर शेष) नौ दिशाओ के भाग से घनोदधि वातवलय से लगी हुई है परन्तु आठवी पृथिवी दसो दिशाओ के सभी भागो में घनोदधि वातवलय को छूती है । ये पृथिवियाँ पूर्व और पश्चिम दिशा के अन्तराल मे वेत्रासन के सदृश आकारवाली तथा उत्तर और दक्षिण मे समान रूप से दीर्घ एव अनादिनिधन है ॥२४-२५ ॥

नरक बिलो का प्रमाण

चुलसीदी [4]लक्खाणं, णिरय-बिला होंति सव्व-पुढवीसुं ।
पुढविं पडि पत्तेक्कं, ताण पमाणं परूवेमो ॥२६॥

८४००००० ;

१. द. क. ब. दुविसट्ठि । ठ. छचउट्ठि सट्ठिदविसट्ठि । २ ठ पुणवहीण । ३. ठ. पुणोवहि । ४. क. ठ. लक्खाणि ।

अर्थ— सर्व पृथिवियों में नारकियों के बिल कुल चौरासी लाख (८४,०००००) हैं। अब इनमें से प्रत्येक पृथिवी का आश्रय करके उन बिलों के प्रमाण का निरूपण करता हूँ ॥२६॥

पृथिवीक्रम से बिलों की संख्या

तीसं [1]पणवीसं पण्णरस दस तिण्णि होंति लक्खाणि ।
पण-रहिदेक्कं लक्खं, पंच य [2]रयणादि - पुढवीणं ॥२७॥

३०,००००० । २५,००००० । १५,००००० । १०,००००० । ३,००००० । ९९९९५ । ५ ।

अर्थ—रत्नप्रभा आदिक पृथिवियों में क्रमशः तीस लाख, पच्चीस लाख, पन्द्रह लाख, दस लाख, तीन लाख, पाँच कम एक लाख और केवल पाँच ही बिल हैं ॥२७॥

विशेषार्थ—प्रथम नरक में ३०,०००००, दूसरे में २५,०००००, तीसरे में १५,०००००, चौथे में १०,०००००, पाँचवें में ३,०००००, छठे में ९९९९५ और सातवें नरक में ५ बिल हैं।

सातों नरक पृथिवियों की प्रभा, बाहल्य एवं बिल संख्या
गा० ९, २१-२३ और २७

क्रमांक	नाम	प्रभा	बाहल्य योजनों में	मतान्तर से बाहल्य योजनों में	बिलों की संख्या
१	रत्नप्रभा	रत्नों सदृश	१,८००००	१८००००	३०,०००००
२	शर्कराप्रभा	शक्कर ,,	३२०००	१,३२०००	२५,०००००
३	वालुकाप्रभा	बालू ,,	२८०००	१,२८०००	१५,०००००
४	पंकप्रभा	कीचड ,,	२४०००	१,२४०००	१०,०००००
५	धूमप्रभा	धूम ,,	२००००	१,२००००	३,०००००
६	तमप्रभा	अन्धकार ,,	१६०००	१,१६०००	९९९९५
७	महातमप्रभा	महान्धकार ,,	८०००	१,०८०००	५

१. द पणुवीस । २ द. ब. क रयणेइ ।

विलों का स्थान

सत्तम-खिदि-बहु-मज्झे, [1]बिलाणि सेसेसु अप्पबहुलंतं।
उवरिं हेट्ठे जोयण-सहस्समुज्झिय हवंति [2]पडल-कमे ॥२८॥

अर्थ—सातवीं पृथिवी के तो ठीक मध्यभाग में बिल हैं, परन्तु अब्बहुलभाग पर्यन्त शेष छह पृथिवियों में नीचे एवं ऊपर एक-एक हजार योजन छोड़कर पटलों के क्रम से नारकियों के बिल होते हैं ॥२८॥

विशेषार्थ—सातवीं पृथिवी आठ हजार योजन मोटी है। इसमें ऊपर और नीचे बहुत मोटाई छोड़कर मात्र बीच में एक बिल है, किन्तु अन्य पाँच पृथिवियों में और प्रथम पृथिवी के अब्बहुलभाग में नीचे ऊपर की एक-एक हजार योजन मोटाई छोड़कर बीच में जितने-जितने पटल बने हैं, उनमें अनुक्रम से बिल पाये जाते हैं।

नरकबिलों में उष्णता का विभाग

पढमादि-बि-ति-चउक्के, पंचम-पुढवीए[3] ति-चउक्क-भागंतं।
अदि-उण्हा णिरय-बिला, तट्ठिय-जीवाण तिव्व-दाघ - करा ॥२९॥

अर्थ—पहली पृथिवी से लेकर दूसरी, तीसरी, चौथी और पाँचवीं पृथिवी के चार भागों में से तीन ($\frac{3}{4}$) भागों में स्थित नारकियों के बिल अत्यन्त उष्ण होने से वहाँ रहने वाले जीवों को गर्मी की तीव्र वेदना पहुँचाने वाले हैं ॥२९॥

नरक बिलों में शीतताका विभाग

पंचमि - खिदिए तुरिमे, भागे छट्ठीअ सत्तमे महिए[4]।
अदि-सीदा णिरय-बिला, तट्ठिय जीवाण-घोर-सीद-करा ॥३०॥

अर्थ—पाँचवीं पृथिवी के अवशिष्ट चतुर्थभाग में तथा छठी और सातवीं पृथिवी में स्थित नारकियों के बिल अत्यन्त शीत होने से वहाँ रहने वाले जीवों को भयानक शीत की वेदना उत्पन्न करने वाले हैं ॥३०॥

१. द. ब. क. ठ. बिलाण। २. ब. पडालकमे। ३. द. पुढवीय। ४. ब. क. महीए।

उष्ण एवं शीत बिलों की संख्या

बासीदीलक्खाणं, उण्ह-बिला पंचवीसदि-सहस्सा ।
पणहत्तरिं सहस्सा, अदि- ¹सीद-बिलाणि इगिलक्खं ।।३१।।

८२२५००० । १७५०००

अर्थ—नारकियों के उपर्युक्त चौरासी लाख बिलों मे से बयासी लाख पच्चीस हजार बिल उष्ण और एक लाख पचहत्तर हजार बिल अत्यन्त शीत है ।।३१।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के बिलो से चतुर्थ पृथिवी पर्यन्त के सम्पूर्ण बिल एवं पाँचवी धूमप्रभा पृथिवी की बिल राशि के तीन बटे चार भाग ($\frac{३००००००×३}{४}$) बिल अर्थात् ३० लाख + २५ लाख + १५ लाख + १० लाख + २२५००० = ८२,२५००० बिलों पर्यन्त अति उष्ण वेदना है। पाँचवी पृथिवी के शेष एक बटे चार भाग बिलो ($\frac{३००००००×१}{४}$) से सातवी पृथिवी पर्यन्त बिल अर्थात् ७५००० + ९९९९५ + ५ = १७५००० बिलों मे अत्यन्त शीत वेदना है।

बिलों की अति उष्णता का वर्णन

मेरु-सम-लोह-पिंडं, सीदं उण्हे बिलम्मि पक्खित्तं ।
ण लहदि तलप्पदेसं, विलीयदे मयण-खंडं व ।।३२।।

अर्थ—उष्ण बिलो मे मेरु के बराबर लोहे का शीतल पिण्ड डाल दिया जाय, तो वह तल-प्रदेश तक न पहुँचकर बीच मे ही मैण (मोम) के टुकडे के सदृश पिघल कर नष्ट हो जाएगा। तात्पर्य यह है कि इन बिलो मे उष्णता की वेदना अत्यधिक है ।।३२।।

बिलो की अति-शीतलता का वर्णन

मेरु-सम-लोह-पिंडं, उण्हं सीदे बिलम्मि पक्खित्तं ।
ण लहदि तलप्पदेसं, विलीयदे लवण-खंडं व ।।३३।।

अर्थ—इसी प्रकार, यदि मेरु पर्वत के बराबर लोहे का उष्ण पिण्ड उन शीतल बिलों में डाल दिया जाय, तो वह भी तल-प्रदेश तक नहीं पहुँचकर बीच में ही नमक के टुकड़े के समान विलीन हो जावेगा ।।३३।।

---

१. द. ब. अदिसीदि ।

बिलो की अति-दुर्गन्धता का वर्णन

अज-गज-महिस-तुरंगम-खरोट्ठ-मज्जार-अहि-णरादीणं ।
कुहिदाणं गंधादो, णिरय-बिला ते अणंत - गुणा ॥३४॥

अर्थ--नारकियो के वे बिल बकरी हाथी, भैस, घोडा, गधा, ऊँट, बिल्ली, सर्प और मनुष्यादिक के सड़े हुए शरीरो के गध की अपेक्षा अनन्तगुणी दुर्गन्ध से युक्त हैं ॥३४॥

बिलो की अति-भयानकता का वर्णन

करवत्तकं छुरीदो[1], [2]खइरिंगालाति-तिक्ख-सूईए ।
कुंजर-चिक्कारादो, णिरय-बिला दारुण-तम-सहावा ॥३५॥

अर्थ--स्वभावत: अन्धकार से परिपूर्ण नारकियो के ये बिल करोंत या आरी छुरिका, खदिर (खैर) के अगार, अतितीक्ष्ण सुई और हाथियों की चिघाड से अत्यन्त भयानक हैं ॥३५॥

बिलो के भेद

इंदय-सेढीबद्धा, पइण्णयाइ य हवंति [3]तिवियप्पा ।
ते सव्वे णिरय-बिला, दारुण-दुक्खाण संजणणा ॥३६॥

अर्थ--इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक के भेद से तीन प्रकार के ये सभी नरकबिल नारकियो को भयानक दुख उत्पन्न करने वाले होते हैं ॥३६॥

विशेषार्थ--सातो नरक पृथिवियो मे जीवो की उत्पत्ति - स्थानो के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक--ये तोन नाम हैं । जो अपने पटल के सर्व बिलो के ठीक मध्य में होता है, उसे इन्द्रक बिल कहते हैं । इन्द्रक बिल की चारो दिशाओ एव विदिशाओ मे जो बिल पक्ति रूप से स्थित हैं उन्हें श्रेणीबद्ध तथा जो श्रेणीबद्ध बिलो के बीच मे बिखरे हुए पुष्पो के समान यत्र-तत्र स्थित हैं उन्हें प्रकीर्णक कहते है ।

रत्नप्रभा-आदिक पृथिवियो के इन्द्रक-बिलो की सख्या

तेरस-एक्कारस-णव-सग-पंच-ति-एक्क-इंदया होंति ।
रयणप्पह - पहुदीसुं, पुढवीसुं आणु - पुव्वीए ॥३७॥

१. द ठ. करवकवछुरीदो । क कुरवकवछुरीदो । [कक्खकवाणछुरिदो] । २. द. ब. खइरिंगालातिक्ख-सूईए । ३. द. ब. हवंति वियप्पा ।

१३ । ११ । ६ । ७ । ५ । ३ । १ ।

अर्थ - रत्नप्रभा आदिक पृथिवियो मे क्रमश तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पांच तीन और एक, इस प्रकार कुल उनचास इन्द्रक बिल हैं ॥३७॥

विशेषार्थ—प्रथम नरक में १३, दूसरे में ११, तीसरे मे ६, चौथे मे ७, पाँचवे मे ५, छठे में ३ और सातवे नरक मे एक इन्द्रक बिल है। एक-एक पटल मे एक-एक इन्द्रक बिल है, अत पटल भी ४६ ही हैं।

इन्द्रक बिलों के आश्रित श्रेणीबद्ध बिलो की सख्या

पढमम्हि इंदयम्हि य, दिसासु उणवण्ण-सेढिबद्धा य ।
अडदालं विदिसासु , बिदियादिसु एक्क - परिहीणा ॥३८॥
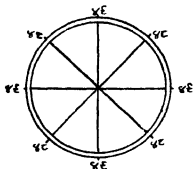
अर्थ—पहले इन्द्रक बिल की आश्रित दिशाओ में उनचास और विदिशाओं में अडतालीस श्रेणीबद्ध बिल हैं। इसके आगे द्वितीयादि इन्द्रक बिलों के आश्रित रहने वाले श्रेणीबद्ध बिलो मे से एक-एक बिल कम होता गया है ॥३८॥

[चित्र अगले पृष्ठ पर देखिये]

– प्रथम नरक के

प्रथम पटलस्थित इन्द्रादि बिल　　　　अन्तिम पटलस्थित इन्द्रादि बिल
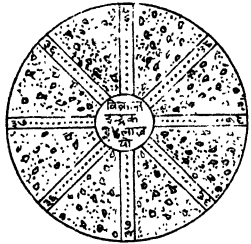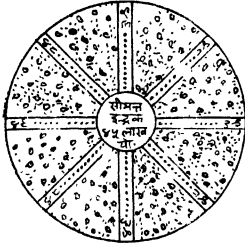
सात-पृथिवियो के इन्द्रक बिलो की सख्या

एक्कंत-तेरसादी, सत्तसु ठाणेसु [1]मिलिद-परिसंखा ।
उणवण्णा पढमादो, इंदय-णामा इमा होंति ।।३९।।

अर्थ –प्रथम पृथिवी से सातो पृथिवियो मे तेरह को आदि लेकर एक पर्यन्त कुल मिलाकर उनचास सख्या वाले इन्द्रक नाम के बिल होते है ।।३९।।

पृथिवीक्रम मे इन्द्रक बिलो के नाम

सीमंतगो य पढमो, णिरयो रोरुग य भंत - उब्भत्ता ।
सभंत - असंभंता, विब्भंता [2]तत्त तसिदा य ।।४०।।
वक्कंत अवक्कंता, विक्कंतो होंति पढम - पुढवीए ।
[3]थणगो तणगो मणगो, वणगो घाडो य संघाडो ।।४१।।
जिब्भा-जिब्भग-लोला, लोलय- [4]थणलोलुगाभिहाणा य ।
एदे बिदिय खिदीए, एक्कारस इंदया होंति ।।४२।।

१. क. मिलदि ।　२. ब. तत्थ ।　३. द. थलगो ।　४. ब. दाघो । क दाघो ।　५ द. लोलयथण । ठ. लोलयथण ।

अर्थ—प्रथम सीमन्तक तथा द्वितीयादि निरय, रौरुक, भ्रान्त, उद्भ्रान्त, संभ्रान्त, असंभ्रान्त, विभ्रान्त, तप्त, त्रसित, वक्रान्त, अवक्रान्त और विक्रान्त इस प्रकार ये तेरह इन्द्रक बिल प्रथम पृथिवी मे हैं। स्तनक, तनक, मनक, वनक, घात, संघात, जिह्वा, जिह्वक, लोल, लोलक और स्तनलोलुक नाम वाले ग्यारह इन्द्रक बिल दूसरी पृथिवी मे है ॥४०-४२॥

तत्तो[1] तसिदो तवरणो, तावरण-णामो णिदाह-पज्जलिदो ।
उज्जलिदो संजलिदो, संपज्जलिदो य तदिय-पुढवीए ॥४३॥

९

अर्थ—तप्त, त्रस्त, तपन, तापन, निदाघ, प्रज्वलित, उज्ज्वलित, सज्वलित और सप्रज्वलित ये नौ इन्द्रक बिल तीसरी पृथिवी मे हैं ॥४३॥

आरो[2] मारो तारो, तच्चो तमगो तहेव खाडे य ।
खडखड-णामा तुरिमक्खोणीए इंदया [3]सत्त ॥४४॥

७

अर्थ—आर, मार, तार, तत्त्व (चर्चा), तमक, खाड और खडखड नामक सात इन्द्रक बिल चौथी पृथिवी मे है ॥४४॥

तम-भम-झस-अद्धाविय-तिमिसो धूम-पहाए[4] छट्ठीए ।
हिम वद्दल-लल्लंका, सत्तम-अवणीए अवधिठाणो त्ति ॥४५॥

५ । ३ । १ ।

अर्थ—तमक, भ्रमक, झषक, अन्ध और तिमिस्र ये पाँच इन्द्रक बिल धूमप्रभा पृथिवी मे है। छठी पृथिवी मे हिम, वर्दल और लल्लक इस प्रकार तीन तथा सातवी पृथिवी मे केवल एक अवधिस्थान नाम का इन्द्रक बिल है ॥४५॥

दिशाक्रम से सातों पृथिवियो के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलो के निरूपण की प्रतिज्ञा

घम्मादी-पुढवीणं, पढमिदय-पढम-सेढिबद्धाणं ।
णामाणि णिरूवेमो, पुव्वादि - [5]पदाहिण-क्कमेण ॥४६॥

---

१. द ब तेत्तो । २. द आरे, मारे, तारे । ३ द ब. क. ठ. तस्स । ४. द. दुब्बुपहा, ब दुच्चुपहा ।
५. द. पद्दादिको कमेगा, ब. पहादिको कमेगा । क. ठ. पदाहिको कमेगा ।

अर्थ—घर्मादिक सातों पृथिवियों सम्बन्धी प्रथम इन्द्रक बिलों के समीपवर्ती प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों के नामों का पूर्वादिक दिशाओं में प्रदक्षिण-क्रम से निरूपण करता हूँ ॥४६॥

घर्मा-पृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध-बिलों के नाम

कंखा-पिपास-णामा, महकंखा अदिपिपास-णामा य ।
आदिम - सेढीबद्धा, चत्तारो होंति सीमंते ॥४७॥

अर्थ—घर्मा पृथिवी में सीमन्त इन्द्रक बिल के समीप पूर्वादिक चारों दिशाओं में क्रमश कांक्षा, पिपासा, महाकांक्षा और अतिपिपासा नामक चार प्रथम श्रेणीबद्ध बिल हैं ॥४७॥

वशापृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध बिलों के नाम

पढमो अणिच्चणामो, बिदिम्रो विज्जो तहा [1]महाणिच्चो ।
महविज्जो य चउत्थो, पुव्वादिसु होंति [2]थणगम्हि ॥४८॥

अर्थ—वशा पृथिवी में प्रथम अनिच्छ, दूसरा अविन्ध्य, तीसरा महानिच्छ और चतुर्थ महाविन्ध्य, ये चार श्रेणीबद्ध बिल पूर्वादिक दिशाओं में स्तनक इन्द्रक बिल के समीप हैं ॥४८॥

मेघा-पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध-बिलों के नाम

दुक्खा य वेदणामा, महदुक्खा तुरिमया अ महवेदा ।
तत्तिदयस्स[3] एदे, पुव्वादिसु होंति चत्तारो ॥४९॥

अर्थ—मेघा पृथिवी में दुःखा, वेदा, महादुःखा और महावेदा, ये चार श्रेणीबद्ध बिल पूर्वादिक दिशाओं में तप्त इन्द्रक के समीप हैं ॥४९॥

अंजना-पृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध बिलों के नाम

आरिंदए [4]णिसट्ठो, पढमो बिदिम्रो वि अंजण-णिरोधो ।
तदिम्रो [5]य अविणिसत्तो, महणिरोधो चउत्थो त्ति ॥५०॥

१. द. ब. महाणिज्जो । २. द. थलगम्हि, ब. क. ठ. थणगम्हि । ३. ब. तत्तिदियस्स । ४. ठ. णिमट्ठो । ५. ब. ततिउ य ।

अर्थ—अंजना पृथिवी में आर इन्द्रक के समीप प्रथम निमृष्ट, द्वितीय निरोध, तृतीय अतिनिसृष्ट और चतुर्थ महानिरोध ये चार श्रेणीबद्ध बिल हैं ॥५०॥

अरिष्टा-पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों के नाम

तमकिंदए[1] णिरुद्धो, विमद्दणो अदि-[2]णिरुद्ध-णामो य ।
तुरिमो महाविमद्दण-णामो पुव्वादिसु दिसासु ॥५१॥

अर्थ—अरिष्टा पृथ्वी में तमक इन्द्रक बिल के समीप निरुद्ध, विमर्दन, अतिनिरुद्ध और चतुर्थ महामर्दन नामक चार श्रेणीबद्ध बिल पूर्वादिक चारों दिशाओं में विद्यमान हैं ॥५१॥

मघवी पृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध-बिलों के नाम

हिम-इदयम्हि होंति हु, णीला पंका य तह य महणीला ।
महपंका पुव्वादिसु, सेढीबद्धा इमे चउरो ॥५२॥

अर्थ—मघवी पृथ्वी में हिम इन्द्रक बिल के समीप नीला, पंका, महानीला और महापंका, ये चार श्रेणीबद्ध बिल क्रमशः पूर्वादिक दिशाओं में स्थित हैं ॥५२॥

माघवी-पृथिवी के प्रथम-श्रेणीबद्ध बिलों के नाम

कालो रोरव-णामो, महकालो पुव्व-पहुदि-दिब्भाए ।
महरोरओ चउत्थो, अवधी-ठाणस्स चिट्ठेदि ॥५३॥

अर्थ - माघवी पृथ्वी में अवधिस्थान इन्द्रक बिल के समीप पूर्वादिक चारों दिशाओं में काल, रौरव, महाकाल और चतुर्थ महारौरव ये चार श्रेणीबद्ध बिल हैं ॥५३॥

अन्य बिलों के नामों के नष्ट होने की सूचना

अवसेस-इंदयाणं, पुव्वादि-दिसासु सेढिबद्धाणं ।
[3]णट्ठाइं णामाइं, पढमाणं बिदिय-पहुदि-सेढीणं ॥५४॥

अर्थ—शेष द्वितीयादिक इन्द्रक बिलों के समीप पूर्वादिक दिशाओं में स्थित श्रेणीबद्ध बिलों के नाम और पहले इन्द्रक बिलों के समीप स्थित द्वितीयादिक श्रेणीबद्ध बिलों के नाम नष्ट हो गये हैं ॥५४॥

---

१. द. ब. ठ. तमकिदये। २. द. ब. क. ठ. यदिणिधुणामो। ३. द. ब. क. ठ. णत्ताइं।

इन्द्रक एव श्रेणीबद्ध बिलो की सख्या

दिसि-विदिसाणं मिलिदा, अट्ठासीदी-जुदा य तिण्णि सया ।
सीमंतएण जुत्ता, उणणउदी समहिया होंति ।।५५।।

३८८ । ३८९ ।

अर्थ—सभी दिशाओ और विदिशाओं के कुल मिलाकर तीन सौ अठासी श्रेणीबद्ध बिल हैं। इनमे सीमन्त इन्द्रक बिल मिला देने पर सब तीन सौ नवासी होते है ।।५५।।

विशेषार्थ—प्रथम पृथिवी मे १३ पाथडे (पटल) है, उनमे से प्रथम पाथडे की दिशा और विदिशा के श्रेणीबद्ध बिलो को जोडकर चार मे गुणा करने पर सीमन्तक इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध बिल (४९ + ४८ = ९७ × ४) = ३८८ प्राप्त होते है और इनमे सीमन्त इन्द्रक बिल और जोड देने मे (३८८ + १) = ३८९ बिल प्राप्त होते है ।

क्रमश श्रेणीबद्ध-बिलो की हानि

उणणउदी तिण्णि सया, पढमाए पढम-पत्थडे[1] होंति ।
बिदियादिसु हीयंते, माघवियाए पुढं पंच ।।५६।।

। ३८९ ।

अर्थ—इस प्रकार प्रथम पृथिवी के प्रथम पाथडे मे इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिल तीन सौ नवासी (३८९) है। इसके आगे द्वितीयादिक पृथिवियो मे हीन होते-होते माघवी पृथिवी मे मात्र पाँच ही बिल रह गये है ।।५६।।

अट्ठाणं पि दिसाणं, एक्केक्कं हीयदे जहा-कमसो ।
एक्केक्क-हीयमाणे, पच [2]च्चिय होंति परिहाणे ।।५७।।

अर्थ—आठों ही दिशाओ मे यथाक्रम एक-एक बिल कम होता गया है। इस प्रकार एक-एक बिल कम होने मे अर्थात् सम्पूर्ण हानि के होने पर अन्त में पाँच ही बिल शेष रह जाते हैं ।।५७।।

विशेषार्थ—सातो पृथिवियो के ४९ पटल और ४९ ही इन्द्रक बिल हैं। प्रथम पृथिवी के प्रथम पटल के प्रथम इन्द्रक की एक-एक दिशा मे उनचास-उनचास श्रेणीबद्ध बिल और एक-एक

१ क. पथडे । २ द यरजिय, ब. ठ यरज्जिय । क ज रज्जिय ।

विदिशा मे अडतालीस-अडतालीस श्रेणीबद्ध बिल है तथा द्वितीयादि पटल से सप्तम पृथिवी के अन्तिम पटल पर्यन्त एक-एक दिशा एव विदिशा मे क्रमश. एक-एक घटते हुए श्रेणीबद्ध बिल हैं, अत सप्तम पृथिवी के पटल की दिशाओ मे तो एक-एक श्रेणीबद्ध है किन्तु विदिशाओ मे उनका अभाव है इसीलिए सप्तम पृथिवी मे (एक इन्द्रक और चार दिशाओ के चार श्रेणीबद्ध । इस प्रकार मात्र) पाँच बिल कहे गये है ।

श्रेणीबद्ध बिलों के प्रमाण निकालने की विधि

इट्ठिंदयप्पमाणं, रूऊणं [1]अट्ठ-ताडिया णियमा ।
उणणवदीतिसएसु, अवणिय सेसो [2]हवंति तप्पडला ।।५८।।

अर्थ—इष्ट इन्द्रक प्रमाण मे से एक कम कर अवशिष्ट को आठ से गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो उसे तीन सौ नवासी मे से घटा देने पर नियम से शेष विवक्षित पाथडे के श्रेणीबद्ध सहित इन्द्रक का प्रमाण होता है ।।५८।।

विशेषार्थ—मान लो—इष्ट इन्द्रक प्रमाण ४ है। इसमे से एक कम कर ८ से गुणित करे, पश्चात् गुणनफल को (प्रथम पृथिवी के प्रथम पाथडे मे इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलो की सख्या) ३८९ मे से घटा देने पर इष्ट प्रमाण प्राप्त होता है। यथा—इष्ट इन्द्रक प्रमाण (४—१=३) ×८=२४। ३८९—२४=३६५ चतुर्थ पाथडे के इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलो का प्रमाण प्राप्त हुआ। ऐसे अन्यत्र भी जानना चाहिए।

प्रकारान्तर से प्रमाण निकालने की विधि

अहवा—

इच्छे[3] पदर-विहीणा, उणवण्णा अट्ठ-ताडिया णियमा ।
सा पंच-रूव - जुत्ता, इच्छिद-सेढिंदया होंति ।।५९।।

अर्थ—अथवा—इष्ट प्रतर के प्रमाण को उनचास मे से कम कर देने पर जो अवशिष्ट रहे उसको नियमपूर्वक आठ से गुणा कर प्राप्त राशि मे पाँच मिला दे। इस प्रकार अन्त मे जो सख्या प्राप्त हो वही विवक्षित पटल के इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण होता है ।।५९।।

विशेषार्थ—कुल प्रतर प्रमाण सख्या ४९ मे से इष्ट प्रतर सख्या ४ को कम कर अवशेष को ८ से गुणित करे, पश्चात् ५ जोड दे। यथा—(४९—४=४५)×८=३६०+५=३६५ विवक्षित

---

१. द इट्ठतदिया। २. द ठ. हुवति। ३. [इट्ठे]।

(चतुर्थ) पाथड़े के इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण प्राप्त हुआ। ऐसे अन्यत्र भी जानना चाहिए।

इन्द्रक-बिलों के प्रमाण निकालने की विधि

उद्दिट्ठं पंचोणं, भजिदं अट्ठेहि सोधए लद्धं।
एगूणवण्णाहिंतो[1], सेसा तत्थिंदया होंति ॥६०॥

अर्थ—(किसी विवक्षित पटल के श्रेणीबद्ध सहित इन्द्रक के प्रमाण रूप) उद्दिष्ट संख्या में से पाँच कम करके आठ से भाग देने पर जो लब्ध आवे, उसको उनचास में से कम कर देने पर अवशिष्ट संख्या के बराबर वहाँ के इन्द्रक का प्रमाण होता है ॥६०॥

विशेषार्थ—विवक्षित पटल के इन्द्रक सहित श्रेणीबद्धों के प्रमाण को उद्दिष्ट कहते हैं। यहाँ चतुर्थ पटल की संख्या विवक्षित है, अतः उद्दिष्ट (३६५) में से ५ कम कर आठ से भाग दें। भागफल को सम्पूर्ण इन्द्रक पटल संख्या ४९ में से कम कर देवें। यथा—उद्दिष्ट (३६५—५ = ३६०)—८ = ४५; ४९ — ४५ = ४ चतुर्थ पटल के इन्द्रक की प्रमाण संख्या प्राप्त होती है।

आदि (मुख), उत्तर (चय) और गच्छ का प्रमाण

आदीओ णिद्दिट्ठा, णिय-णिय-चरिमिंदयस्स[2] परिमाणं।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं, णिय-णिय-पदराणि गच्छाणि ॥६१॥

अर्थ—अपने-अपने अन्तिम इन्द्रक का प्रमाण आदि कहा गया है, चय सर्वत्र आठ है और अपने-अपने पटलों का प्रमाण गच्छ या पद है ॥६१॥

विशेषार्थ—आदि और अन्त स्थान में जो हीन प्रमाण होता है उसे मुख (वदन) अथवा प्रभव तथा अधिक प्रमाण को भूमि कहते हैं। अनेक स्थानों में समान रूप से होने वाली वृद्धि अथवा हानि के प्रमाण को चय या उत्तर कहते हैं। स्थान को पद या गच्छ कहते हैं।

आदि का प्रमाण

तेणवदि-जुत्त-दुसया, पण-जुद-दुसया सयं च तेत्तीसं।
सत्तत्तरि सगतीसं, तेरस रयणप्पहादि-आदीओ ॥६२॥

। २९३ । २०५ । १३३ । ७७ । ३७ । १३ ।

1. ठ. द. ब. ऊणावण्णाहिंतो। क. ऊणाविणा। 2. द. ठ. चरिमंदयस्स। क. ठ. सव्वत्थुत्तरमट्ठं।

अर्थ—दो सौ तेरानबै, दो सौ पाँच, एक सौ तैतीस, सतहत्तर, सैंतीस और तेरह यह क्रमश. रत्नप्रभादिक छह पृथिवियो मे आदि का प्रमाण है ।।६२।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभा से तम:प्रभा पर्यन्त छह पृथिवियो के अन्तिम पटल की दिशा-विदिशाओ के श्रेणीबद्ध एवं इन्द्रक सहित क्रमश: २९३, २०५, १३३, ७७, ३७ और १३ बिल प्राप्त होते है, अपनी-अपनी पृथिवी का यही आदि या मुख या प्रभव है ।

गच्छ एव चय का प्रमाण

तेरस-एक्कारस-णव-सग-पंच-तियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं[1], [2]रयणप्पह - पहुदि - पुढवीसु ।।६३।।

१३ । ११ । ९ । ७ । ५ । ३ सव्वत्थुत्तरमट्ठ[3] ८।

अर्थ—रत्नप्रभादिक पृथिवियो मे क्रमश तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पाँच और तीन गच्छ है । उत्तर या चय सब जगह आठ होने है ।।६३।।

विशेषार्थ—रत्नप्रभादि छह पृथिवियो मे गच्छ का प्रमाण क्रमश १३, ११, ९, ७, ५ और ३ है तथा सर्वत्र उत्तर या चय ८ है ।

सकलित-धन निकालने का विधान

चय-हदमिच्छूण-पदं[4], रूवूणिच्छाए गुणिद-चय-जुत्तं ।
दुगुणिद[5] -वदणेण जुदं, पद-दल-गुणिदं हवेदि संकलिदं ।।६४।।

चय-हदमिच्छूण-पदं $\frac{1}{13}$ **। ८ ।**
रूवूणिच्छाए[6] गुणिद-चयं $\frac{1}{}$ **। ८ । जुदं ९६ ।**
दुगुणिद-वदणादि सुगमं ।

अर्थ—इच्छा मे हीन गच्छ को चय से गुणा करके उसमे एक-कम इच्छा से गुणित चय को जोडकर प्राप्त हुए योगफल मे दुगुने मुख को जोड देने के पश्चात् उसको गच्छ के अर्धभाग से गुणा करने पर सकलित धन का प्रमाण आता है ।।६४।।

१. द. ब. क. ठ. सव्वट्ठुत्तरमत । २. द. ब. क. रयणपहाए । ३. द. ब. सव्वद्दुर ४ द. ब मिक्कूण-पदं । ५. द. ब. क. ठ. गुणिद वदणेण । ६. द. ब. चय-पदमित्थूण-पद १३३ । ८ रूउणिच्छाए गुणिद चय $\frac{1}{3}$ । ८ । जुद ६ । दुगुणि- देबादि सुगम । इति पाठ ७६ तम-गाथाया पश्चादुपलभ्यते ।

विशेषार्थ—सकलित धन निकालने का सूत्र—

सकलित धन=[{ गच्छ-इच्छा) × चय} + { (इच्छा—१) × चय } + (मुख × २)] × गच्छ।

प्रथम पृथ्वी का सकलित धन=[(१३—१) × ८ + (१—१) × ८ + २९३ × २] × $\frac{13}{2}$ = ४४३३।

दूसरी पृथ्वी का सकलित धन=[(११—२) × ८ + (२—१) × ८ + २०५ × २] × $\frac{11}{2}$ = २६६५।

तीसरी पृथ्वी का सकलित धन=[(९—३) × ८ + (३—१) × ८ + १३३ × २] × $\frac{9}{2}$ = १४८५।

चौथी पृथ्वी का सकलित धन=[(७—४) × ८ + (४—१) × ८ + ७७ × २] × $\frac{7}{2}$ = ७०७।

पाँचवी पृ० का सकलित धन=[(५—५) × ८ + (५ — १) × ८ + ३७ × २] × $\frac{5}{2}$ = २६५।

छठी पृ० का सकलित धन=[(३—६) × ८ + (६—१) × ८ + १३ × २] × $\frac{3}{2}$ = ६३।

प्रकारान्तर से सकलित धन निकालने का प्रमाण

एक्कोणमवणि[1] -इंदयमद्धिय[2] वग्गेज्ज मूल-संजुत्तं ।
अट्ठ-गुणं पंच-जुदं, पुढविंदय-ताडिदम्मि पुढवि-धणं ।।६५।।

अर्थ—एक कम इष्ट पृथिवी के इन्द्रकप्रमाण को आधा करके उसका वर्ग करने पर जो प्रमाण प्राप्त हो उसमें मूल को जोड़कर आठ से गुणा करे और पांच जोड़ दे। पश्चात् विवक्षित पृथिवी के इन्द्रक का जो प्रमाण हो उससे गुणा करने पर विवक्षित पृथिवी का धन अर्थात् इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण निकलता है ।।६५।।

---

१. द. ब. मण्ण । २. ब. मद्धिय, द. मद्दिय ।

विशेषार्थ—जैसे--प्रथम पृ० के इन्द्रक १३ - १ = १२, १२ ÷ २ = ६, ६ × ६ = ३६ वर्ग फल, ३६ + ६ मूलराशि = ४२, ४२ × ८ = ३३६, ३३६ + ५ = ३४१, ३४१ × १३ इन्द्रक संख्या = ४४३३ प्रमाण प्रथम पृ० के इन्द्रक सहित श्रेणीबद्ध बिलो का प्राप्त हुआ।

समस्त पृथिवियो के इन्द्रक एव श्रेणीबद्ध बिलो की संख्या

पढमा[1] इंदय-सेढी, चउदाल-सयाणि होंति तेत्तीसं ।
छस्सय-दुसहस्साणि, पणणउदी बिदिय-पुढवीए ।।६६।।

४४३३ । २६६५ ।

अर्थ—पहली पृथिवी मे इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिल चार हजार चार सौ तैंतीस हैं और दूसरी पृथिवी मे दो हजार छह सौ पचानवे (इन्द्रक एव श्रेणीबद्ध बिल) है ।।६६।।

विशेषार्थ - (१३ - १ = १२)—२ = ६ । (६ × ६ = ३६) + ६ = ४२ । ४२ × ८ = ३३६ । (३३६ + ५ = ३४१) × १३ = ४४३३ पहली पृ० के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण है।

(११—१ = १०) ÷ २ = ५ । (५ × ५ = २५) + ५ = ३० । ३० × ८ = २४० ।

(२४० + ५ = २४५) × ११ = २६९५ दूसरी पृ० के इन्द्रक + श्रेणीबद्ध ।

तिय-पुढवीए इंदय-सेढी [2]चउदस-सयाणि पणसीदी ।
सत्तुत्तराणि सत्त य, सयाणि ते होंति तुरिमाए ।।६७।।

१४८५ । ७०७ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी मे इन्द्रक एव श्रेणीबद्ध बिल चौदह सौ पचासी और चौथी पृथिवी में सात सौ सात है ।।६७।।

विशेषार्थ—(९—१ = ८) ÷ २ = ४ । (४ × ४ = १६) + ४ = २० । २० × ८ = १६०, (१६० + ५) × ९ = १४८५ तीसरी पृ० के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध ।

पणसट्ठी दोण्णि सया, इंदय-सेढीए पचम-खिदीए ।
तेसट्ठी छट्ठीए, चरिमाए पंच णादव्वा ।।६८।।

२६५ । ६३ । ५ ।

१. ब. पुढमा । २. द बउदस ।

अर्थ—पाँचवी पृथिवी में दो सौ पैंसठ, छठी मे तिरेसठ और अन्तिम सातवी पृथिवी में मात्र पाँच ही इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिल है, ऐसा जानना चाहिए ॥६८॥

विशेषार्थ—(५—१=४) ÷ २=२, (२×२=४) + २=६। ६ × ८ = ४८, (४८+५=५३)×५=२६५ पाँचवी पृ० के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध। (३—१=२)÷२=१। (१×१ १)+१=२। २×८=१६। (१६+५=२१)×३=६३ छठी पृथिवी के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलो का प्रमाण। (१—१–०)÷२=०, (०×०=०)+०=०। ०×८=०। (०+५=५)×१ - ५ सातवी पृथिवी के इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण।

सम्मिलित प्रमाण निकालने के लिए आदि चय एवं गच्छ का प्रमाण

पंचादी अट्ठ चय, उणवण्णा होंति गच्छ-परिमाणं ।
सव्वाणं पुढवीणं, सेढीबद्धिदयाण [1]इमं ॥६९॥

[2]चय-हदमिट्ठाधिय-पदमेक्काधिय-इट्ठ-गुणिद-चय - हीणं ।
दुगुणिद-वदणेण जुदं, पद-दल-गुणिदम्मि होदि संकलिदं ॥७०॥

अर्थ—सम्पूर्ण पृथिवियो के इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों के प्रमाण को निकालने के लिए आदि पाँच, चय आठ और गच्छ का प्रमाण उनचास है ॥६९॥

इष्ट से अधिक पद को चय से गुणा करके उसमे से, एक अधिक इष्ट से गुणित चय को घटा देने पर जो शेष रहे उसमे दुगुने मुख को जोड़कर गच्छ के अर्धभाग मे गुणा करने पर संकलित धन प्राप्त होता है ॥७०॥

विशेषार्थ—सातो पृथिवियो के इन्द्रक और श्रेणीबद्धो की सामूहिक सख्या निकालने हेतु आदि अर्थात् मुख ५, चय ८ और गच्छ या पद का प्रमाण ४९ है। यहाँ पर इष्ट ७ है अत. इष्ट से अधिक पद को अर्थात् (४९+७)=५६ को ८ (चय) से गुणा करने पर (५६×८)=४४८ प्राप्त हुए, इसमे से एक अधिक इष्ट से गुणितचय अर्थात् (७+१=८)×८=६४ घटा देने पर (४४८—६४)=३८४ शेष रहे, इसमे दुगुने मुख (५×२)=१० को जोड़कर जो ३९४ प्राप्त हुए उसमें ४९/२ का गुणा कर देने पर (३९४/१ × ४९/२)=९६५३ सातों पृथिवियों का सकलित धन अर्थात् इन्द्रक और श्रेणीबद्धो का प्रमाण प्राप्त हुआ।

१ द ब. इदम। २. द. क. चयपदमिट्ठादियपदमेक्कादिय, ब. चयहदमिट्ठदिय पदेमक्कादिय।

समस्त पृथिवियो का संकलित धन निकालने का विधान

ग्रहवा–

ग्रट्ठत्तालं दलिद, गुणिदं ग्रट्ठेहि पंच-रूव-जुदं ।
उणवण्णाए पहदं, सव्व-धणं होइ पुढवीणं ।।७१।।

ग्रर्थ – ग्रथवा --ग्रडतालीस के ग्राधे को ग्राठ से गुणा करके उसमे पाँच मिला देने पर प्राप्त हुई राशि को उनचास से गुणा करे तो सातों पृथिवियो का सर्वधन प्राप्त हो जाता है ।

विशेषार्थ—$\frac{४८}{२}$ × ८ = १९२ १९२ + ५ = १९७, १९७ × ४९ = ९६५३ सर्व पृथिवियो का संकलित धन ।

प्रकारान्तर से संकलित धन-निकालने का विधान

इंदय-सेढीबद्धा, णवय-सहस्साणि छस्सयाणं पि ।
तेवण्णं ग्रधियाइं, सव्वासु वि होंति खोणीसु ।।७२।।

। ९६५३ ।

ग्रर्थ—सम्पूर्ण पृथिवियों में कुल नौ हजार छह सौ तिरेपन (९६५३) इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिल हैं ।।७२।।

समस्त पृथिवियो का श्रेणीधन निकालने के लिए ग्रादि, गच्छ एवं चय का निर्देश

णिय-णिय-चरिमिंदय[1] -धणमेक्कोणं[2] होदि ग्रादि-परिमाणं ।
णिय-णिय-पदरा गच्छा, पचया सव्वत्थ [3]ग्रट्ठेव ।।७३।।

ग्रर्थ— प्रत्येक पृथिवी के श्रेणीधन को निकालने के लिए एक कम अपने-अपने चरम इन्द्रक-का प्रमाण ग्रादि, अपने-अपने पटल का प्रमाण गच्छ और चय सर्वत्र ग्राठ ही है ।।७३।।

प्रथमादि पृथिवियो के श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिए ग्रादि,
गच्छ एवं चय का निर्देश

बाणउदि-जुत्त-दुसया, [4]चउ-जुद दु-सया सयं च बत्तीस ।
छावत्तरि छत्तीसं, बारस रयणप्पहादि-ग्रादीग्रो ।।७४।।

---

१. क चरमिद धय । २ क मेक्काण । ३ ब ग्रलद्धेव, द ठ लट्ठेव । ४ क चउग्रधियसय ।

२९२ । २०४ । १३२ । ७६ । ३६ । १२

अर्थ—दो सौ बानबै, दो सौ चार, एक सौ बत्तीस, छयत्तर, छत्तीस और बारह, इस प्रकार रत्नप्रभादि छह पृथिवियों में आदि का प्रमाण है ॥७४॥

विशेषार्थ—प्रत्येक पृथिवी के अन्तिम पटल की दिशा-विदिशाओं के श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण क्रमशः २९२, २०४, १३२, ७६, ३६ और १२ है। आदि (मुख) का प्रमाण भी यही है।

तेरस-एक्कारस-णव-सग-पंच-तियाणि होंति गच्छाणि ।
सव्वत्थुत्तरमट्ठं, सेढि-घणं सव्व-पुढवीणं ॥७५॥

अर्थ—सब पृथिवियो के (पृथक्-पृथक्) श्रेणी-घन को निकालने के लिए गच्छ का प्रमाण तेरह, ग्यारह, नौ, सात, पाँच और तीन है, चय सर्वत्र आठ ही है ॥७५॥

प्रथमादि-पृथिवियो के श्रेणीबद्ध बिलो की संख्या निकालने का विधान

पद-वग्ग चय-पहदं[1] ,दुगुणिव-गच्छेण गुणिद-मुह[2] -जुत्तं ।
[3]वड्ढि-हद-पद-विहीणं, दलिदं जाणेज्ज सकलिदं ॥७६॥

अर्थ—पद के वर्ग को चय से गुणा करके उसमे दुगुने पद से गुणित मुख को जोड देने पर जो राशि उत्पन्न हो उसमे से चय से गुणित पदप्रमाण को घटा कर शेष को आधा करने पर प्राप्त हुई राशि के प्रमाण सकलित श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या जानना चाहिए ॥७६॥

प्रथमादि पृथिवियो मे श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या

चत्तारि सहस्साणि, चउस्सया बीस होंति पढमाए ।
सेढि-गदा बिदियाए, दु सहस्सा [4]छस्सयाणि चुलसीदी ॥७७॥

४४२० । २६८४

अर्थ—पहली पृथिवी मे चार हजार चार सौ बीस और दूसरी पृथिवी में दो हजार छह सौ चौरासी श्रेणीबद्ध बिल है ॥७७॥

विशेषार्थ—$\frac{(१३^२ \times ८) + (१३ \times २ \times २९२) - (८ \times १३)}{२} = \frac{८८४०}{२} = ४४२०$

पहली पृथिवीगत श्रेणीबद्ध-बिलों का कुल प्रमाण।

१. द. ब. चयपहिद। २. द ब. मुवजुत्तं। ३. ब. वट्टिहद। ठ. वड्ढविय। ४. ब. छसयाए।

$\frac{(११^{२} \times ८) + (११ \times २ \times २०४) - (८ \times ११)}{२} = \frac{५३६८}{२} = २६८४$ दूसरी पृथिवीगत

श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण। यहाँ गाथा ॥७६॥ के निम्न सूत्र का प्रयोग हुआ है—

सकलित धन = [{ (पद)² × चय } + (२ पद × मुख) − (पद × चय)] × ½

चोद्दस-सयाणि छाहत्तरीय तदियाए तह य सत्त-सया।
तुरिमाए सट्ठि-जुदं, दु-सयाणि पंचमीए[1] वि ॥७८॥

१४७६ । ७०० । २६० ।

अर्थ - तीसरी पृथिवी में चौदह सौ छयत्तर, चौथी में सात सौ और पाँचवीं पृथिवी में दो सौ साठ श्रेणीबद्ध बिल हैं ऐसा जानना चाहिए ॥७८॥

विशेषार्थ – $\frac{(९^{२} \times ८) + (९ \times २ \times १३२) - (८ \times ९)}{२} = \frac{२९५२}{२} = १४७६$ तीसरी पृथिवीगत श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण।

$\frac{(७^{२} \times ८) + (७ \times २ \times ७६) - (८ \times ७)}{२} = \frac{१४००}{२} = ७००$ चौथी पृथिवीगत श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण।

$\frac{(५^{२} \times ८) + (५ \times २ \times ३६) - (८ \times ५)}{२} = \frac{५२०}{२} = २६०$ पाँचवीं पृथिवीगत श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण।

सट्ठी तमप्पहाए, चरिम-धरित्तीए होंति [2]चत्तारि।
एवं सेढीबद्धा, पत्तेक्कं सत्त - खोणीसु[3] ॥७९॥

६० । ४ ।

अर्थ - तमःप्रभा पृथिवी में साठ और अन्तिम महातमःप्रभा पृथिवी में चार श्रेणीबद्ध बिल हैं। इस प्रकार सात पृथिवियों में से प्रत्येक में श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण समझना चाहिए ॥७९॥

१ द ब क पंचमिए होदि सायस्स। ठ पंचमिए होदि सादस्सं। २ ठ वत्तारि। ३ द ब क. ठ. खोणीए।

विशेषार्थ— $\frac{(३^२ \times ८) + (३ \times २ \times १२) - (८ \times ३)}{२} = \frac{१२०}{२} = ६०$ छठी पृथिवीगत श्रेणीबद्ध बिलों का कुल प्रमाण।

सातवीं पृथिवी में मात्र ४ ही श्रेणीबद्ध बिल हैं।

सब पृथिवियों के समस्त श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने के लिए आदि, चय और गच्छ का निर्देश

चउ-रूवाइं आदि, पचय-पमाणं पि अट्ठ-रूवाइं।
गच्छस्स य परिमाणं, हवेदि एक्कोणपण्णासा ॥८०॥

४। ८। ४९।

अर्थ—(रत्नप्रभादिक पृथिवियों में सम्पूर्ण श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण निकालने के लिए) आदि का प्रमाण चार, चय का प्रमाण आठ और गच्छ या पद का प्रमाण एक कम पचास अर्थात् ४९ होता है ॥८०॥

सब पृथिवियों के समस्त श्रेणीबद्ध बिलों की संख्या निकालने का विधान

पद-वग्गं पद-रहिदं, चय-गुणिदं पद-हदादि-जुदमद्धं[1]।
मुह-दल-गुणिद-पदेणं[2], संजुत्तं होदि संकलिदं ॥८१॥

अर्थ—पद का वर्ग कर उसमें से पद के प्रमाण को कम करके अवशिष्ट राशि को चय के प्रमाण से गुणा करना चाहिए। पश्चात् उसमें पद से गुणित आदि को मिलाकर और उसका आधा कर प्राप्त राशि में मुख के अर्ध-भाग से गुणित पद के मिला देने पर संकलित धन का प्रमाण निकलता है ॥८१॥

विशेषार्थ $\frac{(४९^२ - ४९) \times ८ + (४९ \times ४)}{२} + (२ \times ४९) =$

$\frac{(२४०१ - ४९) \times ८ + (१९६)}{२} + (९८) = \frac{(२३५२ \times ८) + १९६}{२} + ९८ = ९६०४$ संकलित धन।

समस्त श्रेणीबद्ध-बिलों की संख्या

रयणप्पह-पहुदीसुं, पुढवीसुं सव्व-सेढिबद्धाणं।
चउरुत्तर-[3] छच्च-सया, णव य सहस्साणि परिमाणं ॥८२॥

९६०४

१ द. जुदमद, ब. जुदमट्ठ। २. द. पदेण। ३. द. ब. रुत्तरछस्ससया।

अर्थ—रत्नप्रभादिक पृथिवियों में सम्पूर्ण श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण नौ हजार छह सौ चार (९६०४) है ॥८२॥

आदि (मुख) निकालने की विधि

पद-दल-हिद-संकलिदं[1] , इच्छाए गुणिद-पचय-संजुत्तं ।
रूऊणिच्छाधिय-पद-चय-गुणिदं अवणि-अद्धिए आदी ॥८३॥

अर्थ—पद के अर्धभाग से भाजित सकलित धन मे इच्छा से गुणित चय को जोडकर और उसमें से चय से गुणित एक कम इच्छा से अधिक पद को कम करके शेष को आधा करने पर आदि का प्रमाण आता है ॥८३॥

विशेषार्थ—यहाँ पद ४९, सकलित धन ९६०४, इच्छा राशि ७ और चय ८ है। =

$$\frac{(९६०४ \div \frac{४९}{२}) + (८ \times ७) - (७ - १ + ४९) \times ८}{२} = \frac{३९२ + ५६ - ४४०}{२} = \frac{४४८ - ४४०}{२} = \frac{८}{२}$$

अर्थात् ४ आदि या मुख का प्रमाण प्राप्त होता है ।

इस गाथा का सूत्र—आदि = [(संकलित धन ÷ पद/२) + (इच्छा × चय) − {(इच्छा − १) + पद} चय] $\frac{१}{२}$ ।

चय निकालने की विधि

[2]पद-दल-हद-वेक-पदावहरिद-सकलिद-वित्त-परिमाणे ।
वेकपदद्धेण[3] हिदं, आदिं सोहेज्ज[4] तत्थ सेस चयं ॥८४॥

९६०४ ।

९६०४[5] अपवर्तिते, वेकपदद्धेण[6] $\frac{४९}{२}$ । ४८[7] हिदं आदिं $\frac{८}{४}$[8] सोहेज्ज[9] शोधित शेषमिदं $\frac{४८}{६}$[10] अपवर्तिते ८[11] ।

१. ब. क. बलहिदलसलिद । २. द. पडलहदवेकपादावहरिद····　　· · ··· · परिमाणो । क. ब. पडलहद देकपाहावहरिद···· · ···· परिमाणो । ३. द ब. क. ठ. वेकपददेण । ४. द. ब. ठ. सोगेज्ज । ५. द. ब. क. ठ ४१ । ६. द ब. वेकपददेण $\frac{४९}{२}$ । ७. द. ब. प्रत्योः इद ८५ तम गाथाया. पश्चादुपलभ्यते । ८. द. $\frac{४}{२८}$ । ९. द. ब. क. सोदेज्ज, ठ. कोदेज्ज । १०. द $\frac{४८}{२६}$ । ब. क ठ. $\frac{४८}{२६}$ । ११. द. ब. क. ठ. ६ ।

अर्थ – पद के अर्धभाग से गुणित जो एक कम पद, उससे भाजित सङ्कलित धन के प्रमाण में से एक कम पद के अर्ध भाग में भाजित मुख को कम कर देने पर शेष चय का प्रमाण होता है ॥८४॥

विशेषार्थ – पद का अर्धभाग $\frac{४९}{२}$, एक कम पद (४९ – १) = ४८, सङ्कलित धन ९६०४, एक कम पद का अर्ध भाग $(\frac{४९-१}{२}) = \frac{४८}{२}$, मुख ४ । अर्थात् ९६०४ ÷ (४९ – १ × $\frac{४९}{२}$) – (४ ÷ $\frac{४९-१}{२}$) = ९६०४ – ११७६ – $\frac{४}{२४}$ = $\frac{९६०४}{११७६}$ – $\frac{४}{२४}$ = ८ चय प्राप्त हुआ ।

इस गाथा का सूत्र –

चय = सङ्कलित धन ÷ [(पद – १) $\frac{पद}{२}$] – (मुख ÷ $\frac{पद – १}{२}$)

दो प्रकार से गच्छ-निकालने की विधि

चय-दल-हद-संकलिद, चय-दल-रहिदादि श्रद्ध-कदि-जुत्तं ।
मूलं [1]पुरिमूलूणं, पचयद्ध-हिदम्मि[2] तं तु [3]पदं ॥८५॥

श्रहवा–

संदृष्टि– [4]चय-दल-हद-सकलिदं ४४२० । ४ । चय-दल-रहिदादि २८८ । श्रद्ध १४४ । कदि २०७३६ । जुत्तं ३८४१६ । मूलं १९६ । पुरिमूल १४४ । ऊण ५२ । पचयद्ध ४ । हिदं १३ ।

अर्थ – चय के अर्धभाग से गुणित सङ्कलित धन में चय के अर्धभाग से रहित श्रादि (मुख) के अर्धभाग के वर्ग को मिला देने पर जो राशि उत्पन्न हो उसका वर्गमूल निकाले, पश्चात् उसमें से पूर्व मूल को (जिसके वर्ग को सङ्कलित धन में जोड़ा था) घटाकर अवशिष्ट राशि में चय के अर्ध-भाग का भाग देने पर पद का प्रमाण निकलता है ॥८५॥

विशेषार्थ – चय ८, इसका दल अर्थात् आधा ४, इससे गुणित सङ्कलित धन ४४२०, अर्थात् ४४२० × ४ । चय-दल-रहितादि अर्थात् २९२ मुख में से चय (८) का अर्धभाग (४) घटाने पर

---

१. क पुरिमूलूण, ठ. उरिमूलूग । २. ब हिदमित्त । ३. द. ब पदयथवा । ४. द ब. मूलूण पूर्व-मूले माण ५२ । चय-भजिद ५२ = १ । चय-दल-हद-सकलिद ४४२० । ४ । चय-दल-रहिदाहिदादि २८८ । श्रद्ध १४४ । १०७३७ । जुत्त ३८४१६ । ४ । मूल १९६ । पुरि २ = । दु २ । चयट्ठ-हद सकलिद ४४२० । १६ चय ८ । द ४ । वदन २९२ । श्रतरस्स २८८ । वग्गजुद ३३३ । मूल हद ३९२ । पुरिमूल २८८ । चय-भजिद १०४ । पद १३ = ८ । इति पाठ ८९ तम गाथायाः पश्चादुपलभ्यते ।

२८८ अवशेष रहे, तथा इसका आधा १४४ हुए। इसका (१४४) वर्ग २०७३६ हुआ, इसे (४४२० × ४ =) १७६८० मे मिला देने पर ३८४१६ होते है। इस राशि का वर्गमूल १९६ आता है। इस वर्गमूल में से पूर्वमूल अर्थात् १४४ घटा देने पर ५२ शेष बचे। इसमे अर्ध-चय (४) का भाग देने पर पद का प्रमाण १३ प्राप्त हो जाता है।

यथा— $\left\{\sqrt{\left(\frac{८}{२} \times ४४२०\right) + \left(\frac{२९२ - \frac{८}{२}}{२}\right)^{२}} - \left(\frac{२९२ - \frac{८}{२}}{२}\right)\right\} \div \frac{८}{२}$

$= \sqrt{१७६८० + \left(\frac{२८८}{२}\right)^{२}} - १४४ = \frac{१९६ - १४४}{४} = \frac{५२}{४} =$ १३ पहली पृ० का पद प्रमाण।

इस गाथा का सूत्र—

पद = $\left\{\sqrt{\left(\text{संकलित धन} \times \frac{\text{चय}}{२}\right) + \left(\frac{\text{आदि} - \frac{\text{चय}}{२}}{२}\right)^{२}} - \left(\frac{\text{आदि} - \frac{\text{चय}}{२}}{२}\right)\right\} \div \frac{\text{चय}}{२}$

अहवा—

दु-चय-हदं संकलिदं, चय-दल-वदणंतरस्स वग्ग-जुदं।
मूलं पुरिमूलूणं, चय-भजिदं होदि तं तु पदं ॥८६॥

अहवा—

संदृष्टि—दु २। चय ८। दु-चय-हदं संकलिद ४४२०। १६। चयदल ४। वदन २९२। अंतरस्स २८८। वग्ग $\overline{२८८}$। मूलं ३९२ पुरिमूल २८८। ऊणं १०४। चय-भजिदं $\frac{१०४}{८}$। पदं १३।

अर्थ— अथवा दुगुने चय से गुणित संकलित धन मे चय के अर्धभाग और मुख के अन्तर रूप संख्या के वर्ग को जोड़कर उसका वर्गमूल निकालने पर जो संख्या प्राप्त हो उसमे से पूर्वमूल को (जिसके वर्ग को संकलित धन मे जोड़ा था) घटाकर शेष मे चय का भाग देने पर विवक्षित पृथिवी के पद का प्रमाण निकलता है ॥८६॥

विशेषार्थ—दुगुणित चय ८ × २ = १६, इससे गुणित संकलित धन ४४२० × १६, चय का अर्ध भाग ४, मुख २९२; मुख २९२ मे से ४ घटाने पर २८८ अवशेष रहे, इसका वर्ग ८२९४४ प्राप्त हुआ, इसमे १६ गुणित सङ्कलित धन ७०७२० जोड़ देने पर १,५३६६४ प्राप्त हुए और इसका वर्गमूल ३९२ आया। इस वर्गमूल मे से पूर्वमूल अर्थात् २८८ घटाने पर १०४ अवशिष्ट रहे। इसमे चय ८ (आठ) का भाग देने पर ($\frac{१०४}{८}$ =) १३ प्र० पृ० के पद का प्रमाण प्राप्त हुआ। यथा—

$$\{\sqrt{(२ \times ८ \times ४४२०) + (२९२ - \tfrac{८}{२})^२} - (२९२ - \tfrac{८}{२})\} \div ८$$

$$= \frac{\sqrt{७०७२० + ८२९४४} - २८८}{८} = \frac{१०४}{८} = १३$$ प्रथम पृ० के पद का प्रमाण।

इस गाथा का सूत्र —

$$\text{पद} = \{\sqrt{(२\ \text{चय} \times \text{संकलित धन}) + (\text{आदि} - \tfrac{\text{चय}}{२})^२} - (\text{आदि} - \tfrac{\text{चय}}{२})\} \div \text{चय}$$

प्रत्येक पृथिवी के प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण निकालने की विधि—

पत्तेयं रयणादी-सव्व-बिलाणं ठवेज्ज परिसंखं।
णिय-णिय-सेढीबद्ध[1] य, इंदय-रहिदा पइण्णया होंति ॥८७॥

अर्थ—रत्नप्रभादिक प्रत्येक पृथिवी के सम्पूर्ण बिलो की सख्या रखकर उसमें से अपने-अपने श्रेणीबद्ध और इन्द्रक बिलो की सख्या घटा देने से उस-उस पृथिवी के शेष प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण प्राप्त होता है ॥८७॥

उणतीस लक्खाणि, पंचाणउदी-सहस्स-पंच-सया।
सगसट्ठी - संजुत्ता, पइण्णया पढम - पुढवीए ॥८८॥

। २९९५५६७ ।

अर्थ—प्रथम पृथिवी मे उनतीस लाख, पचान्नवै हजार पाँच सौ सड़सठ प्रकीर्णक बिल हैं ॥८८॥

विशेषार्थ—प्रथम पृथिवी मे कुल बिल ३०,००००० हैं, इनमे से १३ इन्द्रक और ४४२० श्रेणीबद्ध घटा देने पर ३०,०००००—(१३+४४२०)=२९,९५५६७ प्रथम पृथिवी के प्रकीर्णक बिलो की सख्या प्राप्त हो जाती है।

चउवीसं लक्खाणि, सत्ताणवदी-सहस्स-ति-सयाणि।
पचुत्तराणि होंति हु, पइण्णया बिदिय-खोणीए ॥८९॥

२४९७३०५ ।

1. द. सेढीया, ब. सेढिया। ठ. सेढीया।

अर्थ—द्वितीय पृथिवी मे चौबीस लाख सत्तानबै हजार तीन सौ पांच प्रकीर्णक बिल है ॥८९॥

विशेषार्थ—दूसरी पृथिवी मे कुल बिल २५,००००० है, इनमे से ११ इन्द्रक और २६८४ श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर शेष २४,९७३०५ प्रकीर्णक बिल है।

[1]चोद्दस-लक्खाणि तहा, अट्ठाणउदी-सहस्स-पंच-सया।
पण्णरसेहिं जुत्ता, पइण्णया तदिय-वसुहाए ॥९०॥

१४९८५१५ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी मे चौदह लाख, अट्ठानबै हजार पांच सौ पन्द्रह प्रकीर्णक बिल है ॥९०॥

विशेषार्थ—तीसरी पृथिवी मे कुल बिल १५,००००० है, इनमे से ९ इन्द्रक बिल और १४७६ श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर शेष १४,९८५१५ प्रकीर्णक बिल प्राप्त होते है।

णव-लक्खा णवणउदी-सहस्सया दो-सयाणि [2]तेणउदी।
तुरियाए वसुमइए, पइण्णयाणं च परिमाणं ॥९१॥

९९९२९३ ।

अर्थ—चतुर्थ पृथिवी मे प्रकीर्णक बिलो का प्रमाण नौ लाख, निन्यानबै हजार दो सौ तेरानबै है ॥९१॥

विशेषार्थ चतुर्थ पृथिवी मे कुल बिल १०,००००० है, इनमे से ७ इन्द्रक और ७०० श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर शेष प्रकीर्णक बिलो की सख्या ९,९९,२९३ प्राप्त होती है।

दो लक्खाणि सहस्सा, [3]णवणउदी सग-सयाणि पणतीस।
पंचम - वसुधायाए, पइण्णया होंति णियमेणं ॥९२॥

२९९७३५ ।

अर्थ—पाँचवी पृथिवी मे नियम से दो लाख, निन्यानबै हजार सात सौ पैतीस प्रकीर्णक बिल है ॥९२॥

विशेषार्थ—पांचवी पृथिवी मे कुल बिल ३,००००० है, इनमे से ५ इन्द्रक और २६० श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर शेष प्रकीर्णक बिलो की सख्या २,९९,७३५ प्राप्त होती है।

---

१. द चोद्दसय जाणि, ब. चोद्दसए जाणि। ठ चोद्दसए भाणि। क चोद्दसए जाणि। २ क. तेणवदी।
३ द णउणउदी।

अट्ठासट्ठी-हीणं, लक्खं छट्ठीए[1] मेदिणीए वि ।
अवणीए सत्तमिए, पइण्णया णत्थि णियमेणं ।।६३।।

९९९३२ ।

अर्थ—छठी पृथिवी मे अड़सठ कम एक लाख प्रकीर्णक बिल है। सातवी पृथिवी मे नियम से प्रकीर्णक बिल नही है ।।६३।।

विशेषार्थ—छठी पृथिवी मे कुल बिल ९९,९९५ है, इनमे से तीन इन्द्रक और ६० श्रेणीबद्ध बिल घटा देने पर प्रकीर्णक बिलो की सख्या ९९,९३२ प्राप्त होती है। सप्तम पृथिवी मे एक इन्द्रक और चारो दिशाओ मे एक-एक श्रेणीबद्ध, इस प्रकार कुल पाँच ही बिल है। प्रकीर्णक बिल वहाँ नही है ।

छह-पृथिवियो के समस्त प्रकीर्णक बिलो की सख्या

तेसीदि लक्खाणि, णउदि-सहस्साणि ति-सय-सगदालं ।
छप्पुढवीण मिलिदा, सव्वे वि पइण्णया होंति ।।६४।।

८३९०३४७ ।

अर्थ—छह पृथिवियो के सभी प्रकीर्णक बिलो का योग तेरासी लाख, नब्बे हजार तीन सौ सेतालीस है ।।६४।।

[विशेषार्थ अगले पृष्ठ पर देखिये]

---

१ द छट्ठी, ब क. छट्ठीइ ।

विशेषार्थ—

पृथिवियाँ	सर्वबिल—	इन्द्रक +	श्रेणीबद्ध =	प्रकीर्णक
प्र० पृ०	३०,००००० —	१३ +	४४२० =	२९,९५५६७
द्वि० पृ०	२५,००००० —	११ +	२६८४ =	२४,९७३०५
तृ० पृ०	१५,००००० —	९ +	१४७६ =	१४,९८५१५
च० पृ०	१०,००००० —	७ +	७०० =	९,९९२९३
पं० पृ०	३,००००० —	५ +	२६० =	२,९९७३५
ष० पृ०	९९,९९५ -	३ +	६० =	९९,९३२
स० पृ०	५ -	१ +	४ =	०

८३,९०,३४७ सर्व पृथिवियो के
प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण।

इन्द्रादिक बिलो का विस्तार

संखेज्जमिंदयाणं, रुंदं सेढीगयाण जोयणया ।
तं होदि [1]असंखेज्जं, पइण्णयाणुभय-मिस्सं [2]च ॥९५॥
७ । रि । ७ रि ।[3]

अर्थ—इन्द्रक बिलो का विस्तार सख्यात योजन, श्रेणीबद्ध बिलो का असख्यात योजन और प्रकीर्णक बिलो का विस्तार उभयमिश्र अर्थात् कुछ का सख्यात और कुछ का असख्यात योजन है ॥९५॥

विशेषार्थ—सदृष्टि मे ७ सख्यात का और 'रि' असख्यात का सूचक है।

सख्यात एव असख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का प्रमाण

सखेज्जा वित्थारा, णिरयाणं पंचमस्स परिमाणा ।
सेस चउ-पच-भागा, होंति असंखेज्ज-रुंदाइं ॥९६॥
८४००००० । १६८०००० । ६७२०००० ।

१. द. ब यसखेज्ज । २ द. ब. क. ठ. णुभयमस्सरुव । ३. [७ । २ । ७ । ६ । २ । ७ ।]

अर्थ—सम्पूर्ण बिल सख्या के पांच भागों मे से एक भाग ($\frac{1}{5}$) प्रमाण बिलों का विस्तार, संख्यात योजन और शेष चार भाग ($\frac{4}{5}$) प्रमाण बिलो का विस्तार असख्यात योजन है ॥९६॥

विशेषार्थ- सातों पृथिवियो के समस्त बिलो का प्रमाण ८४,००००० है। इसका $\frac{1}{5}$ भाग अर्थात् ८४,००००० $\times \frac{1}{5}$ = १६,८०००० बिल संख्यात योजन प्रमाण वाले और ८४,००००० $\times \frac{4}{5}$ = ६७,२०००० बिल असंख्यात योजन प्रमाण वाले हैं।

रत्नप्रभादिक पृथिवियो मे सख्यात एव असख्यात योजन विस्तार वाले बिलो का

पृथक्-पृथक् प्रमाण

छ-प्पंच-ति-दुग-लक्खा, सट्ठि-सहस्साणि तह य एक्कोणा ।
वीस-सहस्सा एक्कं, [1]रयणादिसु संख-वित्थारा ॥९७॥

६००००० । ५००००० । ३००००० । २००००० । ६०००० । १९९९९ । १ ।

अर्थ—रत्नप्रभादिक पृथिवियो मे क्रमश: छह लाख, पाँच लाख, तीन लाख, दो लाख, साठ हजार, एक कम बीस हजार और एक, इतने बिलो का विस्तार संख्यात योजन प्रमाण है ॥९७॥

विशेषार्थ—रत्नप्रभादिक प्रत्येक पृथिवी के सम्पूर्ण बिलो के $\frac{1}{5}$ वें भाग प्रमाण बिल संख्यात योजन विस्तार वाले हैं। यथा—

पहली पृ० मे—३०,००००० का $\frac{1}{5}$=६,००००० बिल संख्यात यो० विस्तार वाले।

दूसरी पृ० मे—२५,००००० का $\frac{1}{5}$=५,००००० ,, ,, ,, ,,

तीसरी ,, —१५,००००० का $\frac{1}{5}$=३,००००० ,, ,, ,, ,,

चौथी ,, —१०,००००० का $\frac{1}{5}$=२,००००० ,, ,, ,, ,,

पांचवी ,, —३,००००० का $\frac{1}{5}$=६०,००० ,, ,, ,, ,,

छठी ,, —९९,९९५ का $\frac{1}{5}$=१९,९९९ ,, ,, ,, ,,

सातवीं ,, — ५ का $\frac{1}{5}$=१ ,, ,, ,, ,,

१. द ब क. ठ. दुयणेविसु ।

चउवीस-वीस-बारस-अट्ठ-पमाणाणि होंति लक्खाणि ।
सय-कदि-हद[1] -चउवीसं, सीदि-सहस्सा य चउ-हीणा ।।९८।।

२४००००० । २०००००० । १२००००० । ८००००० । २४०००० । ७९९९६ ।

चत्तारि [2]च्चिय एदे, होंति असंखेज्ज-जोयणा रुंदा ।
रयणप्पह-पहुदीए, कमेण सव्वाण पुढवीणं ।।९९।।

४ ।

अर्थ--रत्नप्रभादिक--पृथिवियों में क्रमशः चौबीस लाख, बीस लाख, बारह लाख, आठ लाख, चौबीस से गुणित सौ के वर्ग प्रमाण अर्थात् दो लाख चालीस हजार, चार कम अस्सी हजार और चार, इतने बिल असंख्यात योजन प्रमाण विस्तार वाले हैं ।।९८-९९।।

विशेषार्थ--रत्नप्रभादिक प्रत्येक पृथिवी के कुल बिलों के $\frac{4}{5}$ वें भाग प्रमाण बिल असंख्यात योजन विस्तार वाले हैं । यथा--

पहली--पृ० में--३०,००००० का $\frac{4}{5}$=२४,००००० बिल असंख्यात यो० विस्तार वाले ।

दूसरी-- ,, --२५,००००० का $\frac{4}{5}$=२०,००००० ,, ,, ,,

तीसरी--,, --१५,००००० का $\frac{4}{5}$=१२,००००० ,, ,, ,,

चौथी-- ,, --१०,००००० का $\frac{4}{5}$=८,००००० ,, ,, ,,

पाँचवीं--,, --३,००००० का $\frac{4}{5}$=२,४०००० ,, ,, ,,

छठी-- ,, --९९,९९५ का $\frac{4}{5}$=७९,९९६ ,, ,, ,,

सातवीं--,, --५ का $\frac{4}{5}$=४ ,, ,, ,,

सर्व बिलों का तिरछे रूप में जघन्य एवं उत्कृष्ट अन्तराल

संखेज्ज-रुंद-संजुद-णिरय-बिलाणं जहण्ण-विच्चालं[3] ।
छक्कोसा तेरिच्छे, उक्कस्से [4]संदुगुणिदं तु ।।१००।।

को ६ । १२ ।[5]

---

१. द सयकदिहिद° । २. द च्चिय, ब. रविय । ३. द जहण्ण-विरयार । ४. द. ब. दुगुणिदो । ५. द. ६ ।

अर्थ—नारकियों के संख्यात योजन विस्तार वाले बिलों में तिरछे रूप में जघन्य अन्तराल छह कोस प्रमाण और उत्कृष्ट अन्तराल इससे दुगुना अर्थात् बारह कोस प्रमाण है ।।१००।।

विशेषार्थ—संख्यात योजन विस्तार वाले नरकबिलों का जघन्य तिर्यग् अन्तर छह कोस (१½ योजन) और उत्कृष्ट तिर्यग् अन्तर १२ कोस (३ योजन) प्रमाण है।

णिरय बिलाणं होदि हु, असंख-रु दाण अवर-विच्चालं ।
जोयण-सत्त-सहस्स, उक्कस्से तं असंखेज्जं ।।१०१।।

जो० ७००० । रि ।

अर्थ—नारकियों के असंख्यात योजन विस्तार वाले बिलों का जघन्य अन्तराल सात हजार योजन और उत्कृष्ट अन्तराल असंख्यात योजन ही है ।।१०१।।

विशेषार्थ—असंख्यात योजन विस्तार वाले नरकबिलों का जघन्य तिर्यग् अन्तर ७००० योजन और उत्कृष्ट तिर्यग् अन्तर असंख्यात योजन प्रमाण है। संदृष्टि में असंख्यात का चिह्न 'रि' ग्रहण किया गया है।

प्रकीर्णक बिलों में संख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तृत बिलों का विभाग

उत्त-पइण्णय-मज्झे, होंति हु [1]बहवो असंख-वित्थारा[2] ।
संखेज्ज-वास-जुत्ता, थोवा [3]होर-तिमिर-संजुत्ता[4] ।।१०२।।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रकीर्णक बिलों में—असंख्यात योजन विस्तार वाले बिल बहुत हैं और संख्यात योजन विस्तार वाले बिल थोड़े हैं। ये सब बिल घोर अन्धकार से व्याप्त रहते हैं ।।१०२।।

सग-सग- पुढवि-गयाणं, संखासंखेज्ज-रुंद रासिम्मि ।
इदय-सेढि-विहीणे, कमसो सेसा पइण्णए उभयं ।।१०३।।

५९९९८७ । अ २३९९५९८० [5] ।

एवं पुढविं पडि आणेदव्वं

अर्थ—अपनी-अपनी पृथिवी के संख्यात योजन विस्तार वाले बिलों की राशि में से इन्द्रक बिलों का प्रमाण—घटा देने पर—संख्यात योजन विस्तार वाले प्रकीर्णक बिलों का प्रमाण शेष रहता है।

१. क. ठ. बहुवो । २. द. ब. क. वित्थारो । ठ. वित्थारे । ३. क. होराति । ४. ब. होएति तिमिर । ५. क. ठ. २३९९५९८० ।

इसी प्रकार अपनी-अपनी पृथिवी के असख्यात योजन विस्तार वाले बिलों की सख्या में से क्रमश. श्रेणीबद्ध बिलों का प्रमाण-घटा देने पर असख्यात योजन विस्तार वाले प्रकीर्णक बिलो का प्रमाण अवशिष्ट रहता है ।।१०३।।

इस प्रकार प्रत्येक पृथिवी के प्रकीर्णक बिलो का प्रमाण ज्ञात कर लेना चाहिए ।

विशेषार्थ—पहली पृथिवी

सख्यात यो० विस्तार वाले सर्व बिल ६,०००००—१३ इन्द्रक = ५,९९,९८७ प्रकीर्णक स० यो० वाले । असख्यात यो० विस्तार वाले सर्व बिल २४,०००००—४४२० श्रेणी० = २३,९५५८० प्रकीर्णक असख्यात यो० वाले ।

दूसरी–पृथिवी

सख्यात यो० वि० वाले सर्व बिल ५,०००००— ११ इन्द्रक = ४,९९,९८९ प्रकीर्णक स० यो० वाले । असख्यात यो० वि० वाले सर्व बिल २०,०००००—२६८४ श्रेणी० = १९,९७,३१६ अस०यो० वाले ।

तीसरी–पृथिवी

सख्यात यो० वि० वाले सर्व बिल ३,०००००—९ इन्द्रक = २,९९९९१ प्रकीर्णक सख्यात योजन वाले । अस० यो० वाले सर्व बिल १२,०००००—१४७६ श्रेणी० = ११,९८,५२४ प्रकीर्णक असंख्यात यो० वि० वाले ।

चौथी–पृथिवी

सख्यात यो० के सर्व बिल २,०००००—७ इन्द्रक = १,९९,९९३ प्रकी० सख्यात यो० वाले । अस० यो० वाले सर्व बिल ८,००००० —७०० श्रेणी० = ७,९९,३०० प्रकी० अस० यो० वाले ।

पांचवी–पृथिवी

संख्यात यो० के सर्व बिल ६००००—५ इन्द्रक = ५९,९९५ प्रकी० सख्यात यो० वाले । असंख्यात यो० के सर्व बिल २,४००००—२६० श्रेणी० = २,३९,७४० प्रकी० असं० यो० वाले ।

छठी—पृथिवी

सख्यात यो० के सर्व बिल १९,९९९—३ इन्द्रक = १९,९९६ प्रकी० सं० यो० वाले । असख्यात यो० के सर्व बिल ७९,९९६—६० श्रेणी० = ७९,९३६ प्रकी० असं० यो० वाले ।

सातवी पृथिवी मे प्रकीर्णक बिल नही हैं ।

संख्यात एवं असंख्यात योजन विस्तार वाले नारक बिलो मे नारकियों की संख्या

संखेज्ज-वास-जुत्ते, णिरय-बिले होंति णारया जीवा ।
संखेज्जा णियमेणं, इदरम्मि तहा असंखेज्जा ॥१०४॥

अर्थ—संख्यात योजन विस्तार वाले नरक बिल मे नियम से संख्यात नारकी जीव तथा असंख्यात योजन विस्तार वाले बिल मे असंख्यात ही नारकी जीव होते हैं ॥१०४॥

इन्द्रक बिलो की हानि-वृद्धि का प्रमाण

पणदालं लक्खाणि, पढमो चरिमिंदओ वि इगि-लक्खं ।
उभयं सोहिय एक्कोणिंदय-भजिदम्मि हाणि-चयं ॥१०५॥

४५००००० । १०००००

छावट्ठि-छस्सयाणि, इगिणउदि-सहस्स-जोयणाणि पि ।
दु-कलाओ ति-विहत्ता, परिमाणं हाणि-वड्ढीए ॥१०६॥

$९१६६६\frac{२}{३}$

अर्थ—प्रथम इन्द्रक का विस्तार पेंतालीस लाख योजन और अन्तिम इन्द्रक का विस्तार एक लाख योजन है। प्रथम इन्द्रक के विस्तार मे से अन्तिम इन्द्रक का विस्तार घटाकर शेष में एक कम इन्द्रक प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना (द्वितीयादि इन्द्रकों का विस्तार निकालने के लिए) हानि और वृद्धि का प्रमाण है ॥१०५॥

इस हानि-वृद्धि का प्रमाण इक्यानबे हजार छह सौ छयासठ योजन और तीन से विभक्त दो कला है ॥१०६॥

विशेषार्थ—पहली पृथिवी के प्रथम सीमन्त इन्द्रक बिल का विस्तार मनुष्य क्षेत्र सदृश अर्थात् ४५ लाख योजन प्रमाण है और सातवी पृ० के अवधिस्थान नामक अन्तिम बिल का विस्तार जम्बूद्वीप सदृश एक लाख योजन प्रमाण है। इन दोनों का शोधन करने पर (४५,००००० — १,०००००) = ४४,००००० योजन अवशेष रहे। इनमें एक कम इन्द्रकों (४९ — १ = ४८) का भाग देने पर (४४,००००० ÷ ४८) = $९१,६६६\frac{२}{३}$ योजन हानि और वृद्धि का प्रमाण प्राप्त होता है।

इच्छित इन्द्रक के विस्तार को प्राप्त करने का विधान

बिदियादिसु इच्छंतो, रूऊणिच्छाए गुणिद-खय-वड्ढो ।
सीमंतादो [1]सोहिय, मेलिज्ज सुअवहि-ठाणम्मि[2] ।।१०७।।

अर्थ—द्वितीयादिक इन्द्रको का विस्तार निकालने के लिए एक कम इच्छित इन्द्रक प्रमाण से उक्त क्षय और वृद्धि के प्रमाण को गुणा करने पर जो गुणनफल प्राप्त हो उसे सीमन्त इन्द्रक के विस्तार मे से घटा देने पर या अवधिस्थान इन्द्रक के विस्तार मे मिलाने पर अभीष्ट इन्द्रक का विस्तार निकलता है ।।१०७।।

विशेषार्थ—प्रथम सीमन्त बिल और अन्तिम अवधिस्थान की अपेक्षा २४ वे तप्तनामक इन्द्रक का विस्तार निकालने के लिए क्षय-वृद्धि का प्रमाण ९१,६६६⅔ × (२४ – १) = २२,००००० , ४५,००००० – २२,००००० = २३,००००० योजन सीमन्त बिल की अपेक्षा । ९१,६६६⅔ × (२४ – १) = २२,००००० , २२,००००० + १,००००० = २३,००००० योजन अवधिस्थान की अपेक्षा तप्त नामक इन्द्रक का विस्तार प्राप्त होता है ।

पहली पृथिवी के तेरह इन्द्रको का पृथक्-पृथक् विस्तार

रयणप्पह-अवणीए, सीमंतय-इंदयस्स वित्थारो ।
पंचत्तालं जोयण-लक्खाणि होदि णियमेणं ।।१०८।।

४५००००० ।

अर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी मे सीमन्त इन्द्रक का विस्तार नियम से पैंतालीस लाख (४५,०००००) योजन प्रमाण है ।।१०८।।

चोदालं[3] लक्खाणि, तेसीदि-सयाणि होंति तेत्तीसं ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, णिर-इंदय-रुंद-परिमाणं ।।१०९।।

४४०८३३३⅓ ।

अर्थ—निरय (नरक) नामक द्वितीय इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण चवालीस लाख, तेरासी सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीन भागो मे से एक-भाग है ।।१०९।।

---

१ द. ब क. ज. ठ. मेलीअ । २. ब ठाण । ३. द बादाललक्खाणि :

विशेषार्थ—सीमन्त बिल का विस्तार ४५,००००० — ९१,६६६⅔ = ४४,०८३३३⅓ योजन विस्तार निरय इन्द्रक का है।

तेदाल लक्खाणि, छस्सय-सोलस-सहस्स-छासट्ठी।
दु-ति-भागो [1]वित्थारो, [2]रोरुग-णामस्स [3]णादव्वो ॥११०॥

४३१६६६६⅔।

अर्थ—रोरुक (रौरव) नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार तैंतालीस लाख, सोलह हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण जानना चाहिए ॥११०॥

विशेषार्थ—४४,०८३३३⅓ — ९१,६६६⅔ = ४३,१६६६६⅔ योजन विस्तार तृतीय रोरुक इन्द्रक का है।

पणुवीस-सहस्साहिय, जोयण-बादाल-लक्ख-परिमाणो।
भंतिदयस्स भणिदो, वित्थारो पढम-पुढवीए ॥१११॥

४२२५०००।

अर्थ—पहली पृथिवी में भ्रान्त नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार बयालीस लाख, पच्चीस हजार योजन प्रमाण कहा गया है ॥१११॥

विशेषार्थ—४३,१६६६६⅔ — ९१,६६६⅔ = ४२,२५००० योजन विस्तार भ्रान्त नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है।

एक्कत्तालं लक्खा, तेत्तीस-सहस्स[4]-ति-सय-तेत्तीसा।
एक्क-कला ति-विहत्ता, उब्भंतय-रुंद-परिमाणं ॥११२॥

४१३३३३३⅓।

अर्थ—उद्भ्रान्त नामक पाँचवें इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण इकतालीस लाख, तैंतीस हजार तीन सौ तैंतीस योजन और योजन के तीन-भागों में से एक-भाग है ॥११२॥

विशेषार्थ—४२,२५००० — ९१,६६६⅔ = ४१,३३३३३⅓ योजन विस्तार उद्भ्रान्त नामक पाँचवें इन्द्रक बिल का है।

१ द ब. क. वित्थारा। २. द. लोरुगणामस्स। ३. द. णादव्वा। ४. द तीससहसग।

चालीसं लक्खाणि, इगिदाल-सहस्स-छस्सय छासट्ठी ।
दोण्हि कला ति-विहत्ता, वासो [1]संभंत-णामम्मि ।।११३।।

४०४१६६६⅔ ।

अर्थ—सम्भ्रान्त नामक छठे इन्द्रक का विस्तार चालीस लाख, इकतालीस हजार, छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ।।११३।।

विशेषार्थ—४१,३३३३३⅓ — ९१,६६६⅔ — ४०,४१६६६⅔ योजन विस्तार सम्भ्रान्त नामक छठे इन्द्रक बिल का है ।

उणदाल लक्खाणि, पण्णास-सहस्स-जोयणाणि पि ।
होदि असंभंतिदय-वित्थारो पढम - पुढवीए ।।११४।।

३९५०००० ।

अर्थ—पहली पृथिवी में असम्भ्रान्त नामक सातवें इन्द्रक का विस्तार उनतालीस लाख पचास हजार योजन प्रमाण है ।।११४।।

विशेषार्थ—४०,४१६६६⅔ — ९१,६६६⅔ — ३९,५०००० योजन विस्तार असम्भ्रान्त नामक सातवें इन्द्रक बिल का है ।

अट्ठत्तीसं लक्खा, अडवण्ण-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसं ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, वासो विब्भंत-णामम्मि ।।११५।।

३८५८३३३⅓ ।

अर्थ—विभ्रान्त नामक आठवें इन्द्रक का विस्तार अड़तीस लाख, अट्ठावन हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीन-भागों में से एक भाग प्रमाण है ।।११५।।

विशेषार्थ—३९,५०००० — ९१,६६६⅔ — ३८,५८३३३⅓ योजन विस्तार विभ्रान्त नामक आठवें इन्द्रक बिल का है ।

सगतीसं लक्खाणि, [2]छासट्ठि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तिय-भजिदा, रुंदो तत्तिदये होदि ।।११६।।

३७६६६६६⅔ ।

---

१ द क ज ठ समत । २ द क बासट्ठि ।

अर्थ—तप्त नामक नव इन्द्रक का विस्तार सैंतीस लाख, छ्यासठ हजार छह सौ छ्यासठ योजन और योजन के तीन-भागों मे से दो भाग प्रमाण है ।।११६।।

विशेषार्थ—३८,५८३३३$\frac{1}{3}$ — ९१,६६६$\frac{2}{3}$=३७,६६६६६$\frac{2}{3}$ योजन विस्तार तप्त नामक नवे इन्द्रक बिल का है ।

छत्तीसं लक्खाणि, जोयणया पंचहत्तरि-सहस्सा ।
तसिदिंदयस्स रुंदं, णादव्वं पढम-पुढवीए ।।११७।।

३६७५००० ।

अर्थ—पहली पृथिवी मे त्रसित नामक दसवे इन्द्रक का विस्तार छत्तीस लाख, पचहत्तर हजार योजन प्रमाण जानना चाहिए ।।११७।।

विशेषार्थ—३७,६६६६६$\frac{2}{3}$ — ९१,६६६$\frac{2}{3}$=३६,७५००० योजन विस्तार त्रसित नामक दसवे इन्द्रक बिल का है ।

पणतीसं लक्खाणि, तेसीदि-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, रुंदं वक्कंत-णामम्मि ।।११८।।

३५८३३३३$\frac{1}{3}$ ।

अर्थ—वक्रान्त नामक ग्यारहवे इन्द्रक का विस्तार पैंतीस लाख, तेरासी हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीन-भागो मे से एक-भाग है ।।११८।।

विशेषार्थ—३६,७५००० — ९१,६६६$\frac{2}{3}$=३५,८३३३३$\frac{1}{3}$ योजन विस्तार वक्रान्त नामक ग्यारहवे इन्द्रक बिल का है ।

चउतीसं लक्खाणि, [1]इगिणउदि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तिय-भजिदा, एस ग्रवक्कंत-विस्थारो ।।११९।।

३४९१६६६$\frac{2}{3}$ ।

अर्थ—अवक्रान्त नामक बारहवे इन्द्रक का विस्तार चौंतीस लाख, इक्यानबे हजार, छह सौ छ्यासठ योजन और एक योजन के तीन-भागो मे से दो-भाग प्रमाण है ।।११९।।

---

१. द इगणउदि ।

विशेषार्थ—३५,८३३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = ३४,९१६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार अवक्रान्त नामक बारहवें इन्द्रक बिल का है।

चोत्तीसं लक्खाणि, जोयण-संखा य पढम-पुढवीए ।
[1]विक्कंत-णाम-इंदय-वित्थारो एत्थ णादव्वो ॥१२०॥

३४००००० ।

अर्थ—पहली पृथिवी में विक्रान्त नामक तेरहवें इन्द्रक का विस्तार चौंतीस लाख योजन प्रमाण जानना चाहिए ॥१२०॥

विशेषार्थ—३४,९१६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = ३४,००००० योजन विस्तार विक्रान्त नामक तेरहवें इन्द्रक बिल का है ।

दूसरी-पृथिवी के ग्यारह इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

तेत्तीसं लक्खाणि, अट्ठ-सहस्साणि ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला बिदियाए, [2]थण-इंदय-रुद-परिमाणं ॥१२१॥

३३०८३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी में स्तन (स्तनक-गाथा ४१) नामक प्रथम इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण तैंतीस लाख, आठ हज़ार, तीन सौ तैंतीस योजन और योजन के तीन-भागों में से एक-भाग है ॥१२१॥

विशेषार्थ—३४,००००० — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = ३३,०८३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार दूसरी पृथिवी के स्तनक नामक प्रथम इन्द्रक बिल का है।

बत्तीसं लक्खाणि, छस्सय-सोलस-सहस्स-छासट्ठी ।
दोण्णि कला ति-विहत्ता, बासो तण-इंदए होदि ॥१२२॥

३२१६६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—तन (तनक-गाथा ४१) नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार बत्तीस लाख, सोलह हज़ार, छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ॥१२२॥

विशेषार्थ—३३,०८३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = ३२,१६६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार तनक नामक द्वितीय इन्द्रक बिल का है।

१. द. ब विक्कंत-णामाइय-वित्थारो । २. द थलइंदय । ठ ज. थण इंदय ।

इगितीस लक्खाणि, [1]पणुवीस-सहस्स-जोयणाणि पि ।
मण - इंदयस्स रुंदं, णादव्वं बिदिय - पुढवीए ॥१२३॥

३१२५००० ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी मे मन (मनक-गाथा ४१) नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार इकतीस लाख, पच्चीस हजार योजन प्रमाण जानना चाहिए ॥१२३॥

विशेषार्थ—३२,१६६६६$\frac{2}{3}$ – ९१,६६६$\frac{2}{3}$ = ३१,२५००० योजन विस्तार मन नामक तृतीय इन्द्रक बिल का है ।

तीसं विय लक्खाणि, तेत्तीस-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला बिदियाए, वण-इंदय-रुंद-परिमाणं ॥१२४॥

३०३३३३३$\frac{1}{3}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी मे वन (वनक-गाथा ४१) नामक चतुर्थ इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण तीस लाख, तैंतीस हजार तीन-सौ तैंतीस योजन और योजन का एक-तिहाई भाग है ॥१२४॥

विशेषार्थ—३१,२५००० – ९१,६६६$\frac{2}{3}$ = ३०,३३३३३$\frac{1}{3}$ योजन विस्तार वन नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है ।

एक्कोण-तीस-लक्खा, इगिदाल-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला ति-विहत्ता, घादिंदय-णाम-वित्थारो ॥१२५॥

२९४१६६६$\frac{2}{3}$ ।

अर्थ—घात नामक पचम इन्द्रक का विस्तार योजन के तीन-भागो मे से दो भाग सहित उनतीस लाख, इकतालीस हजार, छह सौ छयासठ योजन प्रमाण है ॥१२५॥

विशेषार्थ—३०,३३३३३$\frac{1}{3}$ – ९१,६६६$\frac{2}{3}$ = २९,४१६६६$\frac{2}{3}$ योजन विस्तार घात नामक पचम इद्रक बिल का है ।

अट्ठावीसं लक्खा, [2]पण्णास-सहस्स-जोयणाणि पि ।
संघात-णाम-इंदय-वित्थारो बिदिय - पुढवीए ॥१२६॥

२८५०००० ।

१ द. लक्खाण पुणुवीस । २. द ब. क. पण्णारस ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी में संघात नामक छठे इन्द्रक का विस्तार अट्ठाईस लाख, पचास हजार योजन प्रमाण है ॥१२६॥

विशेषार्थ—२९,४१६६६६$\frac{2}{3}$ — ९१,६६६$\frac{2}{3}$=२८,५०००० योजन विस्तार संघात नामक छठे इन्द्रक बिल का है।

सत्तावीसं लक्खा, अडवण्ण-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, [1]जिब्भिदय-रुंद-परिमाणं ॥१२७॥

२७५८३३३$\frac{1}{3}$ ।

अर्थ—जिह्व नामक सातवें इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण सत्ताईस लाख, अट्ठावन हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है ॥१२७॥

विशेषार्थ—२८,५०००० — ९१,६६६$\frac{2}{3}$=२७,५८३३३$\frac{1}{3}$ योजन विस्तार जिह्व नामक सातवें इन्द्रक बिल का है।

छब्बीसं लक्खाणि, छासट्ठि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठि[2] ।
दोण्णि कला ति-विहत्ता, जिब्भग-णामस्स वित्थारो ॥१२८॥

२६६६६६६$\frac{2}{3}$ ।

अर्थ—जिह्वक नामक आठवें इन्द्रक का विस्तार छब्बीस लाख, छयासठ हजार, छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों मे से दो-भाग प्रमाण है ॥१२८॥

विशेषार्थ—२७,५८३३३$\frac{1}{3}$ — ९१,६६६$\frac{2}{3}$=२६,६६६६६$\frac{2}{3}$ योजन विस्तार जिह्वक नामक आठवें इन्द्रक बिल का है।

पणुवीसं लक्खाणि, जोयणया पंचहत्तरि-सहस्सा ।
लोलिदयस्स रुंदो, बिदियाए होदि पुढवीए ॥१२९॥

२५७५००० ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी में नवें लोल इन्द्रक का विस्तार पच्चीस लाख, पचहत्तर हजार योजन प्रमाण है ॥१२९॥

१. द. ब. दिब्भिदय° । २. द. छ'वट्ठि ।

विशेषार्थ— २६,६६६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = २५,७५००० योजन प्रमाण विस्तार लोल नामक नवे इन्द्रक बिल का है।

चउवीसं लक्खाणि, तेसीदि-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा।
एक्क-कला ति-विहत्ता, लोलग-णामस्स[1] वित्थारो ॥१३०॥

२४८३३३३$\frac{१}{३}$।

अर्थ - लोलक नामक दसवें इन्द्रक का विस्तार चौबीस लाख, तेरासी हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है ॥१३०॥

विशेषार्थ २५,७५००० — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ २४,८३,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार लोलक नामक दसवें इन्द्रक का है।

तेवीसं लक्खाणि, इगिणउदि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठि।
दोण्णि कला तिय-भजिदा रुंदा थणलोलगे होंति ॥१३१॥[2]

२३९१६६६$\frac{२}{३}$।

अर्थ—स्तनलोलक (स्तनलोलुक-गाथा ४२) नामक ग्यारहवें इन्द्रक का विस्तार तेईस लाख, इक्यानबै हजार छह सौ छयासठ योजन और योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ॥१३१॥

विशेषार्थ—२४,८३३३३$\frac{१}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = २३,९१६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार स्तनलोलुक नामक ग्यारहवें इन्द्रक बिल का है।

तीसरी पृथिवी के नव इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

तेवीस लक्खाणि, जोयण-संखा य तदिय-पुढवीए।
पढमिंदयम्मि वासो, णादव्वो तत्त - णामस्स ॥१३२॥

२३०००००।

अर्थ - तीसरी पृथिवी में तप्त नामक प्रथम इन्द्रक का विस्तार तेईस लाख योजन प्रमाण जानना चाहिए ॥१३२॥

विशेषार्थ— २३,९१६६६$\frac{२}{३}$ — ९१,६६६$\frac{२}{३}$ = २३००००० योजन विस्तार तप्त नामक प्रथम इन्द्रक बिल का है।

१. द. लोलग-णामास। २. ब. प्रतौ नास्ति।

बावीसं लक्खाणि, अट्ठ-सहस्साणि ति-सय-तेत्तीस ।
एक्क-कला ति-विहत्ता, पुढवीए तसिद-वित्थारो ।।१३३।।

२२०८३३३⅓ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी मे त्रसित नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार बाईस लाख, आठ हजार तीन सौ तेतीस योजन और योजन का तीसरा भाग है ।।१३३।।

विशेषार्थ—२३,००००० — ९१,६६६⅔ = २२,०८,३३३⅓ योजन विस्तार त्रसित नामक द्वितीय इन्द्रक बिल का है ।

सोल-सहस्सं छस्सय-छासट्ठि एक्कवीस-लक्खाणि ।
दोण्णि कला तदियाए, पुढवीए तवण-वित्थारो ।।१३४।।

२११६६६६⅔ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी मे तपन नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार इक्कीस लाख, सोलह हजार, छह सौ छयासठ योजन और योजन के तीन-भागो मे से दो भाग प्रमाण है ।।१३४।।

विशेषार्थ—२२,०८,३३३⅓ — ९१,६६६⅔ = २१,१६६६६⅔ योजन विस्तार तपन नामक तृतीय इन्द्रक बिल का है ।

पणवीस-सहस्साधिय-विसदि-लक्खाणि जोयणाणि पि ।
तदियाए खोणीए, तावण-णामस्स वित्थारो ।।१३५।।

२०२५००० ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी मे तापन नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार बीस लाख, पच्चीस हजार योजन प्रमाण है ।।१३५।।

विशेषार्थ—२१,१६६६६⅔ — ९१,६६६⅔ = २०,२५००० योजन विस्तार तापन नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है ।

एक्कोणवीस-लक्खा, तेत्तीस-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला तदियाए, वसुहाए णिदाघ[1] वित्थारो ।।१३६।।

१९३३३३३⅓ ।

१. द ब क. ज ठ वण्णि होइ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी मे निदाघ नामक पचम इन्द्रक का विस्तार उन्नीस लाख, तैंतीस हजार, तीन सौ तैंतीस योजन और योजन के तृतीय-भाग प्रमाण है ॥१३६॥

विशेषार्थ—२०,२५,००० — ६१,६६६⅔ = १६,३३,३३३⅓ योजन विस्तार निदाघ नामक पचम इन्द्रक बिल का है।

अट्ठारस-लक्खाणि, इगिदाल-सहस्स छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तदियाए, भूए पज्जलिद-वित्थारो ॥१३७॥

१८४१६६६⅔ ।

अर्थ तीसरी पृथिवी मे प्रज्वलित नामक छठे इन्द्रक का विस्तार अठारह लाख, इकतालीस हजार, छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागो मे से दो-भाग प्रमाण है ॥१३७॥

विशेषार्थ—१६,३३,३३३⅓ — ६१,६६६⅔ = १८,४१,६६६⅔ योजन विस्तार प्रज्वलित नामक छठे इन्द्रक बिल का है ।

सत्तरसं लक्खाणि, पण्णास-सहस्स-जोयणाणि च ।
उज्जलिद-इंदयस्स, य वासो वसुहाए तदियाए ॥१३८॥

१७५०००० ।

अर्थ - तीसरी पृथिवी मे उज्ज्वलित नामक सातवे इन्द्रक का विस्तार सत्तरह लाख, पचास हजार योजन प्रमाण है ॥१३८॥

विशेषार्थ—१८,४१,६६६⅔—६१,६६६⅔ = १७,५०,००० योजन विस्तार उज्ज्वलित नामक सातवे इन्द्रक बिल का है ।

सोलस-जोयण-लक्खा, अडवण्ण-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला तदियाए, संजलिदिंदस्स[1] वित्थारो ॥१३९॥

१६५८३३३⅓ ।

अर्थ—तीसरी-भूमि में संज्वलित नामक आठवे इन्द्रक का विस्तार सोलह लाख अट्ठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन का तीसरा-भाग है ॥१३९॥

१. द. ब. सपज्जलिदस्स ।

विशेषार्थ—१७,५०,०००— ९१,६६६$\frac{2}{3}$ = १६,५८,३३३$\frac{1}{3}$ योजन विस्तार संज्वलित नामक आठवें इन्द्रक बिल का है।

पण्णारस-लक्खाणि, छस्सट्ठि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तदियाए,संपज्जलिदस्स वित्थारो ।।१४०।।

१५६६६६६$\frac{2}{3}$ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी में संप्रज्वलित नामक नवें इन्द्रक का विस्तार पन्द्रह लाख, छ्यासठ हजार, छह सौ छ्यासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो भाग प्रमाण है ।।१४०।।

विशेषार्थ—१६,५८,३३३$\frac{1}{3}$ — ९१,६६६$\frac{2}{3}$ = १५,६६,६६६$\frac{2}{3}$ योजन विस्तार सप्रज्वलित नामक नवें इन्द्रक बिल का है।

चौथी पृथिवी के सात इन्द्रको का पृथक्-पृथक् विस्तार

चोद्दस-जोयण-लक्खा, पण-जुद-सत्तरि सहस्स-परिमाणा ।
तुरिमाए पुढवीए, आरिंदय - रुंद - परिमाणं ।।१४१।।

१४७५००० ।

अर्थ—चौथी पृथिवी मे आर नामक प्रथम इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण चौदह लाख, पचहत्तर हजार योजन है ।।१४१।।

विशेषार्थ—१५,६६,६६६$\frac{2}{3}$- ९१,६६६$\frac{2}{3}$ = १४ ७५,००० योजन विस्तार आर नामक प्रथम इन्द्रक-बिल का है।

तेरस-जोयण-लक्खा, तेसीदि-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला तुरिमाए, महिए मारिंदए रुंदो ।।१४२।।

१३८३३३३$\frac{1}{3}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी मे मार नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार तेरह लाख, तेरासी हजार, तीन सौ तेंतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है ।।१४२।।

विशेषार्थ—१४,७५,०००—९१,६६६$\frac{2}{3}$ = १३,८३,३३३$\frac{1}{3}$ योजन विस्तार मार नामक द्वितीय इन्द्रक बिल का है।

१. द ब. तदिगस। क. ज ठ. तदिएसु

बारस-जोयण-लक्खा, इगिणउदि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला ति-विहत्ता, [1]तुरिमा - तारिंदयस्स रुंदाउ ।।१४३।।

१२९१६६६$\frac{2}{3}$ ।

अर्थ— चौथी पृथिवी मे तार नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार बारह लाख, इक्यानबै हजार, छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागो मे से दो-भाग प्रमाण है ।।१४३।।

विशेषार्थ—१३,८३,३३३$\frac{1}{3}$—९१,६६६$\frac{2}{3}$ = १२,९१,६६६$\frac{2}{3}$ योजन विस्तार तार नामक तृतीय इन्द्रक बिल का है ।

बारस जोयण-लक्खा, तुरिमाए वसुंधराए वित्थारो ।
तच्चिदयस्स[2] रुंदो, णिद्दिट्ठं सव्वदरिसीहिं ।।१४४।।

१२००००० ।

अर्थ—सर्वज्ञदेव ने चौथी पृथिवी मे तत्व (चर्चा) नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार बारह लाख योजन प्रमाण बतलाया है ।।१४४।।

विशेषार्थ –१२,९१,६६६$\frac{2}{3}$—९१,६६६$\frac{2}{3}$ = १,२०००,०० योजन विस्तार तत्व नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है ।

एक्कारस-लक्खाणि, अट्ठ-सहस्साणि ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला तुरिमाए, महिए तमगस्स वित्थारो ।।१४५।।

११०,८३३३$\frac{1}{3}$ ।[3]

अर्थ—चौथी पृथिवी मे तमक नामक पचम इन्द्रक का विस्तार ग्यारह लाख, आठ हजार, तीन सौ तेंतीस योजन और एक योजन के तीसरे-भाग प्रमाण है ।।१४५।।

विशेषार्थ १२,००००० —९१,६६६$\frac{2}{3}$ = ११,०८,३३३$\frac{1}{3}$ योजन विस्तार तमक नामक पचम इन्द्रक बिल का है ।

दस-जोयण-लक्खाणि, छस्सय-सोलस-सहस्स-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तुरिमाए, खाडिदय-वास-परिमाणा ।।१४६।।

१०१६६६६$\frac{2}{3}$ ।

१. द. ब. क. ज. ठ तुरिमाइंदस्स । २. द. ब. क. ज. ठ. तच्चतयस्स । ३. द. $\frac{1}{3}$ ।

अर्थ--चौथी भूमि मे खाड नामक छठे इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण, दस लाख, सोलह हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों मे से दो-भाग प्रमाण है ।।१४६।।

विशेषार्थ-- ११,०८,३३३⅓--९१,६६६⅔ १०,१६,६६६⅔ योजन विस्तार खाड नामक छठे इन्द्रक बिल का है ।

पणवीस-सहस्साधिय-णव-जोयण-सय-सहस्स-परिमाणा ।
तुरिमाए खोणीए, खडखड - णामस्स वित्थारो ।।१४७।।

९२५००० ।

अर्थ--चोथी पृथिवी मे खलखल (खडखड) नामक सातवे इन्द्रक का विस्तार नौ लाख, पच्चीस हजार योजन प्रमाण है ।।१४७।।

विशेषार्थ--१०,१६,६६६⅔ -- ९१,६६६⅔ = ९,२५,००० योजन प्रमाण विस्तार खलखल नामक सातवे इन्द्रक बिल का है ।

पाँचवी पृथिवी के पाँच इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

लक्खाणि अट्ठ-जोयण-तेत्तीस-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला [1]तम-इंदय-वित्थारो पचम - धराए ।।१४८।।

८३३३३३⅓ ।

अर्थ--पाँचवी पृथिवी मे तम नामक प्रथम इन्द्रक का विस्तार आठ लाख, तेतीस हजार, तीन सौ तेतीस योजन और एक योजन के तीसरे-भाग प्रमाण है ।।१४८।।

विशेषार्थ--९,२५,०००--९१,६६६⅔ = ८,३३,३३३⅓ योजन विस्तार पाँचवी पृ० के तम नामक प्रथम इन्द्रक बिल का है ।

सग-जोयण-लक्खाणि, इगिदाल-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला भम-इंदय-रुंदो पंचम-धरित्तीए ।।१४९।।

७४१६६६⅔ ।

अर्थ--पाँचवी पृथिवी में भ्रम नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार सात लाख, इकतालीस हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन भागों मे से दो भाग प्रमाण है ।।१४९।।

१ द. तमय इदय ।

विशेषार्थ - ८,३३,३३३$\frac{१}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$=७,४१,६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार भ्रम नामक द्वितीय इन्द्रक बिल का है ।

छज्जोयण-लक्खाणि, पण्णास-सहस्स-समहियाणि च ।
धूमप्पहावणीए, झस-इंदय-रुंद-परिमाणा ॥१५०॥

६५०००० ।

अर्थ धूमप्रभा (पाँचवी) पृथिवी मे झष नामक तृतीय इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण छह लाख, पचास हजार योजन है ॥१५०॥

विशेषार्थ-- ७,४१,६६६$\frac{२}{३}$--९१,६६६$\frac{२}{३}$=६,५०,००० योजन विस्तार झष नामक तृतीय इन्द्रक बिल का है ।

लक्खाणि पंच जोयण-अडवण्ण-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
[1]एक्क-कला अंधिंदय-वित्थारो पंचम-खिदीए ॥१५१॥

५५८३३३$\frac{१}{३}$ ।

अर्थ--पाँचवी पृथिवी मे अन्ध नामक चतुर्थ इन्द्रक का विस्तार पाँच लाख, अट्ठावन हजार तीन सौ तैंतीस योजन और एक योजन के तीसरे-भाग प्रमाण है ॥१५१॥

विशेषार्थ - ६,५०,००० ९१,६६६$\frac{२}{३}$=५,५८,३३३$\frac{१}{३}$ योजन विस्तार अन्ध नामक चतुर्थ इन्द्रक बिल का है ।

चउ-जोयण-लक्खाणि, छासट्ठि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला तिमिसिंदय-रुंदं पंचम-धरित्तीए ॥१५२॥

४६६६६६$\frac{२}{३}$ ।

अर्थ—पाँचवी पृथिवी मे तिमिस्र नामक पाँचवे इन्द्रक का विस्तार चार लाख छयासठ हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागो मे से दो-भाग प्रमाण है ॥१५२॥

विशेषार्थ—५,५८,३३३$\frac{१}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$=४,६६,६६६$\frac{२}{३}$ योजन विस्तार तिमिस्र नामक पाँचवे इन्द्रक बिल का है ।

१ द ब. ठ. ज एक्ककलायंदिदय । क. यंदिदिय ।

छठी पृथिवी के तीन इन्द्रकों का पृथक्-पृथक् विस्तार

तिय-जोयण-लक्खाणि, सहस्सया पंचहत्तरि-पमाणा ।
छट्ठीए [1]वसुमइए, हिम-इंदय-रुंद-परिसंखा ॥१५३॥

३७५००० ।

अर्थ—छठी पृथिवी मे हिम नामक प्रथम इन्द्रक के विस्तार का प्रमाण तीन लाख पचहत्तर हजार योजन है ॥१५३॥

विशेषार्थ—४,६६,६६६$\frac{2}{3}$—९१,६६६$\frac{2}{3}$= ३,७५,००० योजन विस्तार छठी पृ० के प्रथम हिम इन्द्रक बिल का है।

दो जोयण-लक्खाणि, तेसीदि-सहस्स-ति-सय-तेत्तीसा ।
एक्क-कला छट्ठीए, पुढवीए होइ [2]वद्दले रुंदो ॥१५४॥

२८३३३३$\frac{1}{3}$ ।

अर्थ—छठी पृथिवी में वर्दल नामक द्वितीय इन्द्रक का विस्तार दो लाख, तेरासी हजार, तीन सौ तेंतीस योजन और एक योजन के तीसरे भाग प्रमाण है ॥१५४॥

विशेषार्थ—३,७५,०००—९१,६६६$\frac{2}{3}$=२,८३,३३३$\frac{1}{3}$ योजन विस्तार छठी पृ० के दूसरे वर्दल इन्द्रक बिल का है।

एक्कं जोयण-लक्खं, इगिणउदि-सहस्स-छ-सय-छासट्ठी ।
दोण्णि कला वित्थारो, लल्लंके छट्ठ-वसुहाए ॥१५५॥

१९१६६६$\frac{2}{3}$ ।

अर्थ—छठी पृथिवी मे लल्लंक नामक तृतीय इन्द्रक का विस्तार एक लाख, इक्यानवै हजार छह सौ छयासठ योजन और एक योजन के तीन-भागों में से दो-भाग प्रमाण है ॥१५५॥

विशेषार्थ—२,८३,३३३$\frac{1}{3}$—९१ ६६६$\frac{2}{3}$=१,९१,६६६$\frac{2}{3}$ योजन विस्तार लल्लंक नामक तीसरे इन्द्रक बिल का है।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. वसुमाइ। २. द. वद्दलेसु।

सातवी पृथिवी के अवधिस्थान इन्द्रक का विस्तार

वासो जोयण-लक्खो, [1]अवहि-ट्ठाणस्स सत्तम-खिदीए ।
जिणवर-वयण - विणिग्गद - तिलोयपण्णत्ति - णामाए ।।१५६।।

१००००० ।

अर्थ—सातवी पृथिवी में अवधिस्थान नामक इन्द्रक का विस्तार एक लाख योजन प्रमाण है, इस प्रकार जिनेन्द्रदेव के वचनों से उपदिष्ट त्रिलोक-प्रज्ञप्ति मे इन्द्रक बिलों का विस्तार कहा गया है ।।१५६।।

विशेषार्थ—१,९१,६६६$\frac{२}{३}$—९१,६६६$\frac{२}{३}$=१,००००० योजन विस्तार सप्तम नरक मे अवधिस्थान नामक इन्द्रक बिल का है ।

[चार्ट पृष्ठ १९४ पर देखिये]

१. द. अवधिठाणस्स ।

पहली पृथिवी		दूसरी पृथिवी		तीसरी पृथिवी	
इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार
सीमंत	४५,००००० यो०	स्तनक	३३,०८३३३३ $\frac{1}{3}$ यो०	तप्त	२३,००००० यो०
निरय	४४,०८३३३३ $\frac{1}{3}$ „	तनक	३२,१६६६६६ $\frac{2}{3}$ „	त्रसित	२२,०८३३३३ $\frac{1}{3}$ „
रौरुक	४३,१६६६६६ $\frac{2}{3}$ „	मनक	३१,२५००० „	तपन	२१,१६६६६६ $\frac{2}{3}$ „
भ्रान्त	४२,२५००० „	वनक	३०,३३३३३३ $\frac{1}{3}$ „	तापन	२०,२५००० „
उद्भ्रान्त	४१,३३३३३३ $\frac{1}{3}$ „	घात	२९,४१६६६६ $\frac{2}{3}$ „	निदाघ	१९,३३३३३३ $\frac{1}{3}$ „
संभ्रांत	४०,४१६६६६ $\frac{2}{3}$ „	संघात	२८,५०००० „	प्रज्वलित	१८,४१६६६६ $\frac{2}{3}$
असंभ्रांत	३९,५०००० „	जिह्व	२७,५८३३३३ $\frac{1}{3}$ „	उज्ज्वलित	१७,५०००० यो०
विभ्रांत	३८,५८३३३३ $\frac{1}{3}$ „	जिह्वक	२६,६६६६६६ $\frac{2}{3}$ „	संज्वलित	१६,५८३३३३ $\frac{1}{3}$ „
तप्त	३७,६६६६६६ $\frac{2}{3}$ „	लोल	२५,७५००० यो०	संप्रज्वलित	१५,६६६६६६ $\frac{2}{3}$ „
त्रसित	३६,७५००० यो०	लोलक	२४,८३३३३३ $\frac{1}{3}$ „		
वक्रांत	३५,८३३३३३ $\frac{1}{3}$ „	स्तन-लोलुक	२३,९१६६६६ $\frac{2}{3}$ „		
अवक्रांत	३४,९१६६६६ $\frac{2}{3}$ „				
विक्रांत	३४,००००० यो०				

चौथी पृथिवी		पाँचवी पृथिवी		छठी पृथिवी		सातवी पृथिवी	
इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार	इन्द्रक	विस्तार
आर	१४,७५००० यो	तम	८,३३३३३ १/३ यो	हिम	३,७५००० यो	अवधि-स्थान	१,००००० यो
मार	१३,८३३३३ १/३ ,,	भ्रम	७,४१६६६ २/३ ,,	वर्दल	२,८३३३३ १/३ ,,		
तार	१२,९१६६६ २/३ ,,	झस	६,५०००० ,,	लल्लक	१,९१६६६ २/३ ,,		
तत्व	१२,००००० ,,	अन्ध	५,५८३३३ १/३ ,,				
तमक	११,०८३३३ १/३ ,,	तिमिस्र	४,६६६६६ २/३ ,,				
खाड	१०,१६६६६ २/३ ,						
खलखल	९,२५००० यो०						

इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक-बिलो के बाहल्य का प्रमाण

एक्काहिय-खिदि-सखं, तिय-चउ-सत्तेहि[1] गुणिय छब्भजिदे ।
कोसा　इंदय-सेढी-पइण्णयाणं　पि　बहलत्तं　॥१५७॥

अर्थ--एक अधिक पृथिवी सख्या को तीन, चार और सात से गुणा करके छह का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने कोस प्रमाण क्रमश. इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो का बाहल्य होता है ॥१५७॥

विशेषार्थ—नारक पृथिवियो की संख्या मे एक-एक धन करके तीन जगह स्थापन कर क्रमशः तीन, चार और सात का गुणा करने पर जो लब्ध प्राप्त हो उसमे छह का भाग देने से इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो का बाहल्य (ऊँचाई) प्राप्त होता है । यथा—

[चार्ट पृष्ठ १९६ पर देखिये]

१. ब. क. सत्तेवि

इन्द्रक बिलो का बाहल्य	श्रेणीबद्धो का बाहल्य	प्रकीर्णकों का बाहल्य
पहली पृ०–१ + १ = २, २ × ३ = ६, ६ ÷ ६ = १ कोस	२ × ४ = ८, ८ ÷ ६ = १$\frac{१}{३}$ कोस	२ × ७ = १४, १४ ÷ ६ = २$\frac{१}{३}$ कोस
दूसरी पृ०–२ + १ = ३, ३ × ३ = ९, ९ ÷ ६ = १$\frac{१}{२}$	३ × ४ = १२, १२ ÷ ६ = २ ,,	३ × ७ = २१, २१ ÷ ६ = ३$\frac{१}{३}$ कोस
तीसरी पृ० ३ + १ = ४, ४ × ३ = १२, १२ ÷ ६ = २ ,,	४ × ४ = १६, १६ ÷ ६ = २$\frac{२}{३}$,,	४ × ७ = २८, २८ ÷ ६ = ४$\frac{२}{३}$ कोस
चौथी पृ०–४ + १ = ५, ५ × ३ = १५, १५ ÷ ६ = २$\frac{१}{२}$,	५ × ४ = २०, २० ÷ ६ = ३$\frac{१}{३}$,,	५ × ७ = ३५, ३५ ÷ ६ = ५$\frac{५}{६}$ कोस
पाँचवी पृ०–५ + १ = ६, ६ × ३ = १८, १८ ÷ ६ = ३ ,,	६ × ४ = २४, २४ ÷ ६ = ४ ,,	६ × ७ = ४२, ४२ ÷ ६ = ७ कोस
छठी पृ०–६ + १ = ७, ७ × ३ = २१, २१ ÷ ६ = ३$\frac{१}{२}$,,	७ × ४ = २८, २८ ÷ ६ = ४$\frac{२}{३}$,,	७ × ७ = ४९, ४९ ÷ ६ = ८$\frac{१}{६}$ कोस
सातवी पृ०–७ + १ = ८, ८ × ३ = २४, २४ ÷ ६ = ४ ,,	८ × ४ = ३२, ३२ ÷ ६ = ५$\frac{१}{३}$,,	प्रकीर्णकों का अभाव है।

अहवा—

आदी छ अट्ठ चोद्दस, तद्दल-वड्ढिदय जाव सत्त-खिदी ।
कोसच्छ-हिदे इंदय-सेढी-पइण्णयाण बहलत्तं ॥१५८॥

इ० १ । $\frac{३}{२}$ । २ । $\frac{५}{२}$ । ३ । $\frac{७}{२}$ । ४ । सेढी $\frac{४}{३}$ । २ । $\frac{८}{३}$ । $\frac{१०}{३}$ । ४ । $\frac{१४}{३}$ । $\frac{१६}{३}$ ।
प्र० $\frac{७}{३}$ । $\frac{७}{२}$ । $\frac{१४}{३}$ । $\frac{३५}{६}$ । ७ । $\frac{४९}{६}$ ।

अर्थ—अथवा- यहाँ आदि का प्रमाण क्रमशः छह, आठ और चौदह है। इसमे दूसरी पृथिवी से लेकर सातवी पृथिवी पर्यन्त उत्तरोत्तर इसी आदि के अर्ध भाग को जोडकर प्राप्त सख्या में छह कोस का भाग देने पर क्रमशः विवक्षित पृथिवी के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो का बाहल्य निकल आता है ॥१५८॥

विशेषार्थ—पहली पृथिवी के आदि (मुख) इन्द्रक बिलों का बाहल्य प्राप्त करने के लिए ६, श्रेणीबद्ध बिलो के लिए ८ और प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य प्राप्त करने हेतु १४ है। इसमें दूसरी पृथिवी से सातवी पृथिवी पर्यन्त उत्तरोत्तर इसी आदि (मुख) के अर्ध-भाग को जोडकर जो लब्ध प्राप्त हो उसमे ६ का भाग देने पर क्रमश इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो का बाहल्य प्राप्त हो जाता है। यथा—

पृथिवियाँ	इन्द्रक, श्रेणीबद्ध व प्रकीर्णक बिलों के मुख या आदि के प्रमाण +	अर्धमुख के प्रमाण =	योगफल —	भागहार =	इन्द्रक बिलों का बाहल्य	श्रेणीबद्ध बिलों का बाहल्य	प्रकीर्णक बिलों का बाहल्य
१	६, ८, १४ +	०, ०, ० =	६, ८, १४ —	० =	१ कोस	१ १/३ कोस	२ १/३ कोस
२	६, ८, १४ +	३, ४, ७ =	९, १२, २१ —	६ =	१ १/२ ,,	२ ,,	३ १/२ ,,
३	९ १२, २१ +	३, ४, ७ =	१२, १६ २८ —	६ =	२ ,,	२ २/३ ,,	४ २/३ ,,
४	१२, १६, २८ +	३ ४, ७ =	१५, २०, ३५ —	६ =	२ १/२ ,,	३ १/३ ,,	५ ५/६ ,,
५	१५, २०, ३५ +	३, ४, ७ =	१८, २४, ४२ —	६ =	३ ,,	४ ,,	७ ,,
६	१८, २४, ४२ +	३, ४, ७ =	२१ २८, ४९ —	६ =	३ १/२ ,,	४ २/३ ,,	८ १/६ ,,
७	२१, २८, ० +	३, ४ ० =	२४, ३२ ० —	६ =	४ ,,	५ १/३ ,,	० ,,

रत्नप्रभादि छह पृथिवियों में इन्द्रकादि बिलों का स्वस्थान ऊर्ध्वग अन्तराल

रयणादि-छट्ठमंतं,णिय-णिय-पुढवीण बहल-मज्झादो ।
जोयण-सहस्स-जुगलं, अवणिय सेसं करेज्ज कोसाणि ।।१५९।।

अर्थ —रत्नप्रभा पृथिवी को आदि लेकर छठी पृथिवी-पर्यन्त अपनी-अपनी पृथिवी के बाहल्य में से दो हजार योजन कम करके शेष योजनों के कोस बनाना चाहिए ।।१५९।।

णिय-णिय-इंदय-सेढीबद्धाण पइण्णयाण बहलाइं ।
णिय-णिय-पदर-पवण्णिद-संखा-गुणिदाण लद्धरासी य ।।१६०।।

पुव्विल्लय-रासीणं, मज्झे तं सोहिदूण पत्तेक्कं ।
एक्कोण-णिय- [1]णियिंदय-चउ-गुणिदेणं च भजिदव्व ।।१६१।।

लद्धो जोयण-संखा, णिय-णिय [2]णयंतरालमुड्ढेण ।
जाणेज्ज परट्ठाणे, किंचूणय-रज्जु-परिमाणं ।।१६२।।

१. द ज. ठ. णियणिइदय, ब क णिय-णिय-इदय । २ द. ज. ठ. तराणमुड्ढेण, ब क. तराणमुट्ठेण ।

अर्थ—अपने-अपने पटलो की पूर्व-वर्णित सख्या से गुणित अपनी-अपनी पृथिवी के इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो के बाहल्य को पूर्वोक्त राशि मे से (दो हजार योजन कम विवक्षित पृथिवी के बाहल्य के किये गये कोसो मे मे) कम करके प्रत्येक मे एक कम अपने-अपने इन्द्रक प्रमाण से गुणित चार का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतने योजन प्रमाण अपनी-अपनी पृथिवी के इन्द्रकादि बिलो मे ऊर्ध्वग अन्तराल तथा परस्थान (एक पृथिवी के अन्तिम और अगली पृथिवी के आदिभूत इन्द्रकादि बिलो) मे कुछ कम एक राजू प्रमाण अन्तराल समझना चाहिए ।।१६०-१६२।।

विशेषार्थ -रत्नप्रभादि छहो पृथिविया की मोटाई पूर्व मे कही गयी है, इन पृथिवियो मे ऊपर नीचे एक-एक हजार योजन मे बिल नही है, अत पृथिवियो की मोटाई मे मे २००० याजन घटाने पर जो शेष रहे, उसके कोस बनाने हेतु चार से गुणित कर लब्ध मे से अपनी-अपनी पृथिवी के इन्द्रक बिलो का बाहल्य घटाकर एक कम इन्द्रक बिलो से गुणित चार का भाग देने पर अपनी-अपनी पृथिवी के इन्द्रक बिलो का ऊर्ध्व अन्तराल प्राप्त होता है। यथा—

पहली पृथिवी के इन्द्रक बिलो का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$= \frac{(८०,००० - २,०००) \times ४ - (१ \times १३)}{(१३ - १) \times ४} = ६,४९९\tfrac{३५}{४८} \text{ योजन ।}$$

दूसरी पृथिवी के इन्द्रक बिलो का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$= \frac{(३२,००० - २,०००) \times ४ - (\tfrac{३}{२} \times ११)}{(११ - १) \times ४} = २,९९९\tfrac{४७}{८०} \text{ योजन ।}$$

तीसरी पृथिवी के इन्द्रक बिलो का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$= \frac{(२८,००० - २०००) \times ४ - (२ \times ९)}{(९ - १) \times ४} = ३,२४९\tfrac{७}{१६} \text{ योजन ।}$$

चौथी पृथिवी के इन्द्रक बिलो का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$= \frac{(२४,००० - २०००) \times ४ - (\tfrac{५}{२} \times ७)}{(७ - १) \times ४} = ३,६६५\tfrac{१५}{१६} \text{ योजन ।}$$

पाँचवी पृथिवी के इन्द्रक बिलो का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$= \frac{(२०,००० - २०००) \times ४ - (३ \times ५)}{(५ - १) \times ४} = ४,४९९\tfrac{१}{१६} \text{ योजन ।}$$

छठी पृथिवी के इन्द्रक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल—

$$= \frac{(१६,००० — २०००) \times ४ — (\frac{७}{३} \times ३)}{(३ — १) \times ४} = ६,९९८\frac{११}{१२} \text{ योजन।}$$

सातवीं पृथिवी में इन्द्रक एवं श्रेणीबद्ध बिलों के अधस्तन और उपरिम पृथिवियों का बाहल्य

सत्तम-खिदीअ बहले, इंदय-सेढीए बहल-परिमाणं ।
सोधिय-दलिदे हेट्ठिम-उवरिम-भागा हवंति एदाणं ॥१६३॥

अर्थ—सातवीं पृथिवी के बाहल्य में से इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों के बाहल्य प्रमाण को घटाकर अवशिष्ट राशि को आधा करने पर क्रमशः इन इन्द्रक और श्रेणीबद्ध बिलों के ऊपर-नीचे की पृथिवियों की मोटाई के प्रमाण निकलते हैं ॥१६३॥

विशेषार्थ—$\frac{८००० - १}{२} = ३,९९९\frac{१}{२}$ योजन सातवीं पृथिवी के इन्द्रक बिल के नीचे और ऊपर की पृथिवी का बाहल्य ।

$\frac{८००० - \frac{४}{३}}{२} = ३,९९९\frac{१}{३}$ योजन सातवीं पृथिवी के श्रेणीबद्ध बिलों के ऊपर-नीचे की पृथिवी का बाहल्य ।

पहली पृथिवी के अन्तिम और दूसरी पृथिवी के प्रथम इन्द्रक का परस्थान अन्तराल

पढम-बिदीयवणीणं[1], रुंदं सोहेज्ज एक्क-रज्जूए ।
जोयण-ति-सहस्स-जुदे, होदि परट्ठाण-विच्चालं ॥१६४॥

अर्थ—पहली और दूसरी पृथिवी के बाहल्य प्रमाण को एक राजू में से कम करके अवशिष्ट राशि में तीन हजार योजन घटाने पर पहली पृथिवी के अन्तिम और दूसरी पृथिवी के प्रथम बिल के मध्य में परस्थान अन्तराल का प्रमाण निकलता है ॥१६४॥

विशेषार्थ—पहली पृथिवी की मोटाई १,८०००० योजन और दूसरी पृथिवी की मोटाई ३२,००० योजन प्रमाण है। इस मोटाई से रहित दोनों पृथिवियों के मध्य में एक राजू प्रमाण अन्तराल है। यद्यपि एक हजार योजन प्रमाण चित्रा पृथिवी की मोटाई पहली पृथिवी की मोटाई में सम्मिलित है, परन्तु उसकी गणना ऊर्ध्व लोक की मोटाई में की गयी है, अतएव इसमें से इन एक हजार योजनों को कम कर देना चाहिए। इसके अतिरिक्त पहली पृथिवी के नीचे और दूसरी पृथिवी

१. द. ब. पढम-खिदीयवणीण ।

के ऊपर एक-एक हजार योजन प्रमाण क्षेत्र मे नारकियो के बिल न होने से इन दो हजार योजनों को भी कम कर देने पर (१,८०, ००० + ३२,००० — ३०००) = शेष २,०६००० योजनो से रहित एक राजू प्रमाण पहली पृथिवी के अन्तिम (विक्रान्त) और दूसरी पृथिवी के प्रथम (स्तनक) इन्द्रक के बीच परस्थान अन्तराल रहता है ।

दूसरी पृथिवी से छठी पृथिवी तक परस्थान अन्तराल

दु-सहस्स-जोयणाधिय-रज्जू बिदियादि-पुढवि-रुंदूणं ।
छट्ठो त्ति [1]परट्ठाणे, विच्चाल-पमाणमुद्दिट्ठं ॥१६५॥

अर्थ—दो हजार योजन अधिक एक राजू मे से दूसरी आदि पृथिवियो के बाहल्य को घटा देने पर जो शेष रहे उतना छठी पृथिवी पर्यन्त (इन्द्रक बिलो के) परस्थान मे अन्तराल का प्रमाण कहा गया है ॥१६५॥

विशेषार्थ—गाथा में—एक राजू मे दो हजार योजन जोडकर पश्चात् पृथिवियो का बाहल्य घटाने का निर्देश है किन्तु १७० आदि गाथाओ मे बाहल्य मे से २००० योजन घटाकर पश्चात् राजू में से कम किया गया है । यथा—

१ राजू—२६,००० योजन ।

छठी एव सातवी पृथिवी के इन्द्रको का परस्थान अन्तराल

सय-कदि-रूऊणद्धं, रज्जु-जुदं चरिम-भूमि-रुदूण ।
[2]मघविस्स चरिम-इंदय-अवहिट्ठाणस्स विच्चालं ॥१६६॥

अर्थ—सौ के वर्ग मे से एक कम करके शेष को आधा कर और उसे एक राजू में जोडकर लब्ध में से अन्तिम भूमि के बाहल्य को घटा देने पर मघवी पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक और (माघवी-पृथिवी के) अवधिस्थान इन्द्रक के बीच परस्थान अन्तराल का प्रमाण निकलता है ॥१६६॥

विशेषार्थ—सौ के वर्ग मे से एक घटाकर आधा करने पर—(१००^2—१ = ९९९९) ÷ २ = ४९९९½ योजन प्राप्त होते हैं। इन्हें एक राजू में जोड़कर लब्ध (१ राजू + ४९९९½ यो०) में से अन्तिम भूमि के बाहल्य (८००० यो०) को घटा देने पर (१ राजू + ४९९९½ यो०)— ८००० यो० = १ राजू—(८००० यो० — ४९९९½ यो०) = १ राजू—३०००½ योजन छठी पृथिवी के अन्तिम लल्लंक इन्द्रक और सातवी पृथिवी के अवधिस्थान इन्द्रक के परस्थान अन्तराल का प्रमाण प्राप्त होता है।

१. ब. परिट्ठाणे । २. द. ज. ठ. मघवस्स ।

पहली पृथिवी के इन्द्रक-बिलों का स्वस्थान अन्तराल

णवणवदि-जुद-चउस्सय-छ सहस्सा जोयणादि बे कोसा ।
एक्करस-कला-बारस-हिदा य घम्मिदयाण विच्चालं ॥१६७॥

जो ६४९९ । को २ । $\frac{११}{१२}$ ।

अर्थ—घर्मा पृथिवी के इन्द्रक बिलों का अन्तराल छह हजार चार सौ निन्यानवै योजन, दो कोस और एक कोस के बारह भागों में से ग्यारह-भाग प्रमाण है ॥१६७॥

विशेषार्थ—गाथा १५९-१६२ के नियमानुसार पहली पृथिवी के इन्द्रक बिलों का अन्तराल $\frac{(८०,००० - २०००) \times ४ - (१ \times १३)}{(१३ - १) \times ४} = ६,४९९ \frac{३५}{४८}$ योजन अथवा ६,४९९ योजन २$\frac{११}{१२}$ कोस है।

पहली और दूसरी पृथिवियों के इन्द्रक-बिलों का परस्थान अन्तराल

रयणप्पह-चरमिंदय-सक्कर-पुढविंदयाण विच्चालं ।
दो-लक्ख-णव-सहस्सा, जोयण-हीणेक्क-रज्जू य ॥१६८॥

७ । रिण । जो २०९००० ।

अर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक और शर्करा प्रभा के आदि (प्रथम) इन्द्रक बिलों का अन्तराल दो लाख नौ हजार (२,०९,०००) योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू—२,०९,००० योजन प्रमाण है ॥१६८॥

दूसरी पृथिवी के इन्द्रकों का स्वस्थान अन्तराल

एक्क-विहीणा जोयण-ति-सहस्सा धणु-सहस्स-चत्तारि ।
सत्त-सया वंसाए, एक्कारस-इंदयाण विच्चालं ॥१६९॥

जो २९९९ । दंड ४७०० ।

अर्थ—वंशा पृथिवी के ग्यारह इन्द्रक बिलों का अन्तराल एक कम तीन हजार योजन और चार हजार सात सौ धनुष प्रमाण है ॥१६९॥

विशेषार्थ- दूसरी पृ० के इन्द्रक बिलों का अन्तराल—

$$\frac{(३२,००० - ३०००) \times ४ - (\frac{३}{२} \times ११)}{(११ - १) \times ४} = २,९९९\frac{४६}{८०}$$ योजन अथवा २,९९९ यो० और ४७०० धनुष है।

दूसरी और तीसरी पृथिवी के इन्द्रक-बिलों का परस्थान अन्तराल

[1]एक्को हवेदि रज्जू, छब्बीस-सहस्स-जोयण-विहीणा।
[2]थललोलुगस्स तत्तिदयस्स, दोण्हं पि विच्चालं ॥१७०॥

७। रिण। यो २६०००।

अर्थ— वंशा पृथिवी के अन्तिम स्तनलोलुक इन्द्रक से मेघा पृथिवी के प्रथम तप्त का अर्थात् दोनों इन्द्रक बिलों का अन्तराल छब्बीस हजार योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू— २६,००० योजन प्रमाण है ॥१७०॥

तीसरी पृथिवी के इन्द्रको का स्वस्थान अन्तराल

तिण्णि सहस्सा दु-सया, जोयण-उणवण्ण तदिय-पुढवीए।
पणतीस-सय-धणूणि, पत्तेक्कं इदयाण विच्चालं ॥१७१॥

यो ३२४९। दंड ३५००।

अर्थ- तीसरी पृथिवी के प्रत्येक इन्द्रक बिल का अन्तराल तीन हजार दो सौ उनचास योजन और तीन हजार पाँच सौ धनुष प्रमाण है ॥१७१॥

विशेषार्थ— $$\frac{(२८,००० - २०००) \times ४ - (२ \times ९)}{(९ - १) \times ४} = ३,२४९\frac{९}{१६}$$ योजन। अथवा ३,२४९ योजन ३५०० धनुष प्रमाण अन्तराल है।

तीसरी और चौथी पृथिवी के इन्द्रको का परस्थान अन्तराल

एक्को हवेदि रज्जू, बावीस-सहस्स-जोयण-विहीणा।
दोण्हं विच्चालमिणं - संपज्जलिदार - णामाणं ॥१७२॥

७। रिण। जो २२०००।

१. ब. क. ज ठ एक्का। २ द ब. क ज ठ. घणलोलुगस्स।

अर्थ—तीसरी पृथिवी का अन्तिम इन्द्रक सम्प्रज्वलित और चौथी पृथिवी का प्रथम इन्द्रक आर, इन दोनों इन्द्रक बिलों का अन्तराल बाईस हजार योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू— २२००० योजन प्रमाण है ॥१७२॥

चौथी पृथिवी के इन्द्रकों का स्वस्थान अन्तराल

तिण्णि सहस्सा [1]छस्सय-पणसट्ठी-जोयणाणि पंकाए ।
पण्णत्तरि-सय-दंडा, पत्तेक्कं इंदयाण विच्चालं ॥१७३॥

जो ३६६५ । दंड ७५०० ।

अर्थ—पंकप्रभा पृथिवी के इन्द्रक बिलों का अन्तराल तीन हजार छह सौ पैंसठ योजन और सात हजार पाँच सौ दण्ड प्रमाण है ॥१७३॥

विशेषार्थ—$\frac{(२४,००० - २०००) \times ४ - (६ \times ७)}{(७ - १) \times ४} = ३,६६५\frac{१}{४}$ योजन अथवा ३६६५ योजन ७५०० धनुष प्रमाण अन्तराल है।

चौथी और पाँचवी पृथिवी के इन्द्रकों का परस्थान अन्तराल

एक्को हवेदि रज्जू, अट्ठरस-सहस्स-जोयण-[2]विहीणा ।
खडखड-तमिंदयाणं, दोण्हं विच्चाल - परिमाणं ॥१७४॥

७ । रिण । जो १८००० ।

अर्थ—चौथी पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक खडखड और पाँचवीं पृथिवी के प्रथम इन्द्रक तम, इन दोनों के अन्तराल का प्रमाण अठारह हजार योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू—१८,००० योजन है ॥१७४॥

पाँचवी पृथिवी के इन्द्रकों का स्वस्थान अन्तराल

चत्तारि सहस्साणि, चउ-सय णवणउदि जोयणाणि च ।
पंच-सयाणि दंडा, धूमपहा-इंदयाण विच्चालं ॥१७५॥

जो ४४९९ । दंड ५०० ।

---

१. द ब क ज ठ छस्सट्ठी २ द. ब जोयण विहीणा ।

अर्थ—धूमप्रभा के इन्द्रक बिलों का अन्तराल चार हजार चार सौ निन्यानवै योजन और पांच सौ दण्ड प्रमाण है ।।१७५।।

विशेषार्थ—$\frac{(२०,००० - २०००) \times ४ - (३ \times ५)}{(५ - १) \times ४}$ = ४४९९$\frac{१}{१६}$ योजन अथवा ४,४९९ योजन ५०० धनुष अन्तराल है।

पांचवीं और छठी पृथिवी के इन्द्रकों का परस्थान अन्तराल

चोद्दस-सहस्स-जोयण-परिहीणो होदि केवलो रज्जू ।
तिमिसिंदयस्स हिम-इंदयस्स दोण्हं पि विच्चालं ।।१७६।।

। रिण । जो १४००० ।

अर्थ—पांचवीं पृथिवी के अन्तिम इन्द्रक तिमिस्र और छठी पृथिवी के प्रथम इन्द्रक हिम, इन दोनों बिलों का अन्तराल चौदह हजार योजन कम एक राजू अर्थात् १ राजू—१४,००० योजन प्रमाण है ।।१७६।।

छठी पृथिवी के इन्द्रकों का स्वस्थान अन्तराल

अट्ठाणउदी णव-सय-छ-सहस्सा [1]जोयणाणि मघवीए ।
पणवण्ण-सयाणि धणू, पत्तेक्कं इंदयाण विच्चालं ।।१७७।।

जो ६९९८ । दंड ५५०० ।

अर्थ—मघवी पृथिवी में प्रत्येक इन्द्रक का अन्तराल छह हजार नौ सौ अट्ठानवै योजन और पांच हजार पांच सौ धनुष है ।।१७७।।

विशेषार्थ—$\frac{(१६,००० - २०००) \times ४ - (\frac{५}{२} \times ३)}{(३ - १) \times ४}$ = ६९९८$\frac{१}{१६}$ योजन अथवा ६,९९८ योजन ५,५०० धनुष अन्तराल है।

छठी और सातवीं पृथिवी के इन्द्रकों का पर-स्थान अन्तराल

[2]छट्ठम-खिदि-चरिमिंदय-अवहिट्ठाणाण होइ विच्चालं ।
एक्को रज्जू ऊणो, जोयण-ति-सहस्स-कोस-जुगलेहिं ।।१७८।।

। रिण । जो ३००० । को २ ।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. जोयणादि २. द. छट्ठम ।

अर्थ—छठी पृथिवी के अंतिम इन्द्रक लल्लंक और सातवी पृथिवी के अवधिस्थान इन्द्रक का अन्तराल तीन हजार योजन और दो कोस कम एक राजू अर्थात् १ राजू — ३००० योजन २ कोस प्रमाण है ।।१७८।।

अवधिस्थान इन्द्रक की ऊर्ध्व एवं अधस्तन भूमि के बाहल्य का प्रमाण

तिण्णि सहस्सा णव-सय णवणउदी[1] जोयणाणि बे कोसा ।
उड्ढाधर - भूमीणं, अवहिट्ठाणस्स परिमाणं ।।१७९।।

३९९९ । को २ ।

।। इंदय-विच्चालं समत्तं ।।

अर्थ—अवधिस्थान इन्द्रक की ऊर्ध्व और अधस्तन भूमि के बाहल्य का प्रमाण तीन हजार नौ सौ निन्यानबै योजन और दो कोस है ।।१७९।।

विशेषार्थ—गाथा १६३ के अनुसार—

$\frac{८०००}{२} - \frac{१}{२}$ = ३,९९९$\frac{१}{२}$ योजन बाहल्य सातवी पृथिवी के अवधिस्थान इन्द्रक बिल के नीचे की और ऊपर की पृथिवी का है ।

।। इन्द्रक बिलो के अन्तराल का वर्णन समाप्त हुआ ।।

धर्मादिक पृथिवियों में श्रेणीबद्ध बिलों के स्वस्थान अन्तराल का प्रमाण

प्रथम नरक में श्रेणीबद्धो का अन्तराल

णवणउदि-जुद-चउस्सय-छ-सहस्सा जोयणाणि बे कोसा ।
पंच-कला णव - भजिदा, घम्माए सेढिबद्ध-विच्चालं ।।१८०।।

६४९९ । को २ । $\frac{५}{९}$ ।

अर्थ—धर्मा पृथिवी मे श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल छह हजार चार सौ निन्यानबै योजन दो कोस और एक कोस के नौ-भागो मे से पांच भाग प्रमाण है ।।१८०।।

नोट—१८० से १८६ तक की गाथाओं द्वारा सातो पृथिवियो के श्रेणीबद्ध बिलो का पृथक्-पृथक् अन्तराल गाथा १५९-१६२ के नियमानुसार प्राप्त होगा । यथा—

---

१. द. णउणउदी ।

विशेषार्थ (८०,०००—२०००—$\frac{४२}{१२}$ ÷ ($\frac{१२-१}{१}$) = (७८,०००—$\frac{४२}{१२}$) × $\frac{१}{१२}$ = $\frac{३,३३,६८७}{...}$ = ६,४९९$\frac{२}{३}\frac{३}{६}$ योजन् अथवा ६,४९९ योजन २$\frac{५}{६}$ कोस पहली पृथिवी मे श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल है।

दूसरे नरक मे श्रेणीबद्धो का अन्तराल

णवणउदि-णव-सयाणि दु-सहस्सा जोयणाणि वंसाए ।
ति-सहस्स-छ-सय-दंडा, [1]उड्ढेण सेढिबद्ध-विच्चालं ॥१८१॥

जो २९९९ । दड ३६०० ।

अर्थ—वशा पृथिवी मे श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल दो हजार नौ सौ निन्यानवै योजन और तीन हजार छह सौ धनुष प्रमाण है ॥१८१॥

विशेषार्थ—(३२,०००—२०००)—($\frac{३}{१}$ × $\frac{११}{१}$ × $\frac{५}{४}$) ÷ $\frac{११-१}{१}$ = ($\frac{३०,०००}{१}$ — $\frac{११}{१}$) × $\frac{१}{१०}$ = २,९९९$\frac{९}{२०}$ योजन अथवा २,९९९ योजन ३,६०० दण्ड अन्तराल है।

तीसरे नरक मे श्रेणीबद्धो का अन्तराल

उणवण्णा दु-सयाणि, ति-सहस्सा जोयणाणि मेघाए ।
दोण्णि सहस्साणि, धणू सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८२॥

जो ३२४९ । दड २००० ।

अर्थ - मेघा पृथिवी मे श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल तीन हजार दो सौ उनचास योजन और दो हजार धनुष है ॥१८२॥

विशेषार्थ—(२८,०००—२०००)—($\frac{८}{३}$ × $\frac{६}{१}$ × $\frac{१}{४}$) ÷ $\frac{८}{१}$ = ($\frac{२६,०००}{१}$ — $\frac{६}{१}$) × $\frac{१}{८}$ = ३,२४९$\frac{१}{४}$ योजन अथवा ३,२४९ योजन २००० दण्ड मेघा पृथिवी मे श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल है।

चतुर्थ नरक मे श्रेणीबद्धो का अन्तराल

णव-हिद-बावीस-सहस्स-दंड-हीणा [2]हुवेदि छासट्ठी ।
जोयण-छत्तीस[3] - सयं, तुरिमाए सेढीबद्ध-विच्चालं ॥१८३॥

जो ३६६५ । दड ५५५५ । $\frac{५}{९}$ ।

१ द ओउड्ढीण, ब क. उड्ढीण । २. द हुवेदि ३. ब बत्तीससय ।

अर्थ—चौथी पृथिवी मे श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल, बाईस हजार मे नौ का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने (२२,००० ÷ ९ = २,४४४$\frac{४}{९}$, ८००० − २४४४$\frac{४}{९}$ = ५,५५५$\frac{५}{९}$) धनुष कम तीन हजार छह सौ छयासठ योजन प्रमाण है ॥१८३॥

विशेषार्थ—(२४,००० − २०००) − ($\frac{१०}{३}$ × $\frac{७}{९}$ × $\frac{१}{४}$) ÷ $\frac{६}{९}$ = ($\frac{२२०००}{९}$ − $\frac{३५}{६}$) × $\frac{१}{६}$ = ३,६६५$\frac{२५}{३६}$ योजन अथवा ३,६६५ योजन ५,५५५$\frac{५}{९}$ धनुष अन्तराल है।

पाँचवे नरक मे श्रेणीबद्धो का अन्तराल

[1]अट्ठाणउदी जोयण-चउदाल-सयाणि छस्सहस्स-धणू।
धूमप्पह - पुढवीए, सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८४॥

जो ४४९८। दड ६०००।

अर्थ—धूमप्रभा पृथिवी मे श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल चार हजार चार सौ अट्ठानबै योजन और छह हजार धनुष है ॥१८४॥

विशेषार्थ—(२०,००० − २०००) − ($\frac{४}{९}$ × $\frac{५}{१}$ × $\frac{१}{४}$) ÷ $\frac{४}{९}$ = ($\frac{१८०००}{९}$ − $\frac{५}{९}$) × $\frac{९}{४}$ = ४,४९८$\frac{३}{४}$ योजन अथवा ४,४९८ योजन ६००० धनुष अन्तराल है।

छठे नरक मे श्रेणीबद्धो का अन्तराल

अट्ठाणउदी णव-सय-छ-सहस्सा जोयणाणि मघवीए।
दोण्णि सहस्साणि, धणू सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८५॥

जो ६,९९८। दड २०००।

अर्थ—मघवी पृथिवी मे श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल छह हजार नौ सौ अट्ठानबै योजन और दो हजार धनुष है ॥१८५॥

विशेषार्थ—(१६,००० − २०००) − ($\frac{१४}{३}$ × $\frac{३}{४}$ × $\frac{१}{४}$) ÷ (३ − १) = ($\frac{१४०००}{१}$ − $\frac{७}{८}$) × $\frac{१}{२}$ = ६,९९८$\frac{१}{४}$ योजन या ६,९९८ यो० २००० दण्ड प्रमाण अन्तराल है।

१. ब अट्ठाणणउदी।

सातवे नरक मे श्रेणीबद्धों का अन्तराल

णवणउदि-सहिय-णव-सय-ति-सहस्सा जोयणाणि एक्क-कला ।
ति-हिदा य माघवीए, सेढीबद्धाण विच्चालं ॥१८६॥

जो ३९९९ । $\frac{१}{३}$ ।

अर्थ--माघवी पृथिवी मे श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल तीन हजार नौ सौ निन्यानबै योजन और एक योजन के तीसरे-भाग प्रमाण है ॥१८६॥

विशेषार्थ—सातवी पृथिवी की मोटाई ८००० योजन है और श्रेणीबद्धो का बाहल्य $\frac{४}{३}$ यो० है। इसे ८००० यो० बाहल्य मे से घटाकर आधा करने पर अन्तराल का प्रमाण प्राप्त होता है। यथा—$\frac{८०००}{१} - \frac{४}{३} = \frac{२४०००-४}{३} \times \frac{१}{२} = \frac{११९९८}{३}$ योजन अर्थात् $३,९९९\frac{१}{३}$ यो० सातवी पृथिवी मे श्रेणीबद्धबिलो का अन्तराल है।

घर्मादिक-पृथिवियों मे श्रेणीबद्ध बिलो के परस्थान अन्तरालो का प्रमाण

सट्ठाणे विच्चालं, एवं जाणिज्ज तह परट्ठाणे ।
जं इंदय-परठाणे[1] भणिदं तं एत्थ वत्तव्वं ॥१८७॥

णवरि विसेसो एसो, लल्लंकय-अवहिठाण-विच्चाले ।
[2]जोयण - छब्भागूण - सेढीबद्धाण विच्चाल ॥१८८॥

। सेढीबद्धाण विच्चाल [3]समत्त ।

अर्थ—यह श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल स्वस्थान मे समझना चाहिए। तथा परस्थान मे जो इन्द्रक बिलो का अन्तराल कहा जा चुका है, उसी को यहाँ भी कहना चाहिए, किन्तु विशेषता यह है कि लल्लक और अवधिस्थान इन्द्रक के मध्य मे जो अन्तराल कहा गया है, उसमे से एक योजन के छह भागो मे से एक-भाग कम यहाँ श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल जानना चाहिए ॥१८७-१८८॥

विशेषार्थ--गाथा १८० से १८६ पर्यन्त श्रेणीबद्ध बिलो का अन्तराल स्वस्थान मे कहा गया है। तथा गाथा १६४ एव १६५ मे इन्द्रक बिलो का जो परस्थान (एक पृथिवी के अन्तिम और अगली पृथिवी के प्रथम बिल का) अन्तराल कहा गया है, वही अन्तराल श्रेणीबद्ध बिलो का है। यथा—

द. क. ज. ठ इदयपरणाणे, ब इदयवरठाणे। २. द. ब जायणयाध। ३. ब. सम्मत्त।

पहली घर्मापृथिवी की—१,८०,००० योजन और वंशा की ३२,००० योजन प्रमाण मोटाई है। इन दोनों का योग २,१२,००० योजन हुआ, इसमें से चित्रा पृथिवी की मोटाई १००० यो०, पहली पृथिवी के नीचे १००० योजन और दूसरी पृथिवी के ऊपर का एक हजार योजन इस प्रकार ३००० योजन घटा देने पर (२,१२००० -- ३०००) = २,०९००० योजन अवशेष रहे, इनको एक राजू में से घटा (१ राजू---२,०९०००) कर जो अवशेष रहे वही पहली पृथिवी के अन्तिम और दूसरी पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल है।

वंशा पृथिवी के नीचे का १००० योजन + मेघा पृथिवी के ऊपर का १००० योजन = दो हजार योजनों को मेघा पृथिवी की मोटाई (२८,००० योजनों) में से कम कर देने पर (२८,०००— २००० =) २६,००० योजन अवशेष रहे। इन्हें एक राजू में से घटा देने पर (१ राजू– २६,०००) जो अवशेष रहे, वही वंशा पृथिवी के अन्तिम श्रेणीबद्ध और मेघा पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल है।

अञ्जना पृथिवी की मोटाई २४,००० योजन है। २४,००० -- २००० = २२,००० योजन कम एक राजू (१ राजू -- २२,००० यो०) प्रमाण मेघा पृथिवी के अन्तिम श्रेणीबद्ध और अञ्जना पृथिवी के आदि श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल है।

अरिष्टा पृथिवी की मोटाई २०,००० योजन — २००० यो० = १८,०००। १ राजू — १८,००० योजन अञ्जना के अन्तिम और अरिष्टा के प्रथम श्रेणीबद्ध बिलों का परस्थान अन्तराल है।

मघवी पृथिवी की मोटाई १६,००० -- २००० = १४,००० योजन। १ राजू — १४,००० योजन अरिष्टा के अन्तिम और मघवी पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध-बिलों का परस्थान अन्तराल है।

गा० १६६ में छठी पृ० के अन्तिम इन्द्रक लल्लक और मानवी पृ० के अवधिस्थान इन्द्रक का परस्थान अन्तराल १ राजू --- ८००० योजन + ४९९९$\frac{2}{3}$ योजन कहा गया है। इसमें से एक योजन का छठा भाग ($\frac{1}{6}$ यो०) कम कर देने पर {१ राजू — ८००० + (४,९९९$\frac{2}{3}$ — $\frac{1}{6}$)} = १ राजू— ८००० + ४९९९$\frac{1}{2}$ योजन अर्थात् १ राजू — ३०००$\frac{1}{2}$ योजन छठी पृथिवी के अन्तिम और सातवीं पृथिवी के प्रथम श्रेणीबद्ध बिल का परस्थान अन्तराल है।

।। श्रेणीबद्ध बिलों के अन्तराल का वर्णन समाप्त हुआ ।।

घर्मादिक छह पृथिवियों मे प्रकीर्णक-बिलों के स्वस्थान एवं परस्थान अन्तरालों का प्रमाण

छक्कदि-हिदेक्कणउदी-कोसोणा छस्सहस्स-पंच-सया ।
जोयणया घम्माए, पइण्णयाणं हवेदि विच्चालं ॥१८९ ॥

६४९९ । को १ । $\frac{१७}{३६}$ ।

अर्थ—घर्मा पृथिवी मे प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल, इक्यानबै मे छह के वर्ग का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतने कोस कम छह हजार पाँच सौ योजन प्रमाण है ॥१८९॥

विशेषार्थ—योजन ६,५०० — ($\frac{९१}{६\times६}\times\frac{१}{४}$) = ६४९९ यो० १ $\frac{१७}{३६}$ कोस, अथवा — घर्मा पृथिवी की मोटाई ८०,०००—२००० = ७८,००० यो० । ($\frac{७८०००}{१}$ — $\frac{९१}{१२}$) ÷ $\frac{१३-१}{१}$ = ($\frac{७८०००}{१}$ — $\frac{९१}{१२}$) × $\frac{१}{१२}$ = ६,४९९ $\frac{५३}{१४४}$ योजन या ६४९९ योजन १ $\frac{१७}{३६}$ कोस पहली पृथिवी मे प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल है ।

णवणउदी-जुद-णव-सय-दु-सहस्सा जोयणाणि वंसाए ।
तिण्णि-सयाणि-दंडा, उड्ढेण पइण्णयाण विच्चालं ॥१९०॥

२९९९ । दण्ड ३०० ।

अर्थ—वंशा पृथिवी मे प्रकीर्णक बिलों का ऊर्ध्वग अन्तराल दो हजार नौ सौ निन्यानबै योजन और तीन सौ धनुष प्रमाण है ॥१९०॥

विशेषार्थ—३२,०००—२००० = $\frac{३००००}{१}$—($\frac{७}{२}\times\frac{११}{२}\times\frac{१}{४}$)—$\frac{(११-१)}{१}$ ($\frac{३००००}{१}$ — $\frac{७७}{८}$) × $\frac{१}{१०}$ = २,९९९ $\frac{३}{८०}$ योजन या २,९९९ यो० ३०० दण्ड वंशा पृथिवी मे प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल

अट्ठत्ताल दु-सय, ति-सहस्स-जोयणाणि[1] मेघाए ।
पणवण्ण-सयाणि धणू, उड्ढेण पइण्णयाण विच्चालं ॥१९१॥

३२४८ । दंड ५५०० ।

अर्थ—मेघा पृथिवी मे प्रकीर्णक बिलों का ऊर्ध्वग अन्तराल तीन हजार, दो सौ अडतालीस योजन और पाँच हजार पाँच सौ धनुष है ॥१९१॥

---

१. द. जोयणाणि ।

विशेषार्थ—(२८,०००—२०००=२६,०००) — ($\frac{७}{२}$ × $\frac{६}{१}$ × $\frac{१}{२}$) ÷ $\frac{(९-१)}{१}$ = ($\frac{२६०००}{१}$ — $\frac{२१}{२}$) × $\frac{१}{८}$ = ३,२४८ $\frac{११}{१६}$ योजन या ३,२४८ योजन ५५०० दण्ड मेघा पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल है ।

चउसट्ठि छस्सयाणि, ति-सहस्सा जोयणाणि तुरिमाए ।
उणहत्तरी-सहस्सा, पण-सय-दंडा य णव-भजिदा ।।१९२।।

३६६४ । दंड $\frac{६९५००}{९}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल तीन हजार, छह सौ चौंसठ योजन और नौ से भाजित उनहत्तर हजार, पाँच सौ धनुष प्रमाण है ।।१९२।।

विशेषार्थ—(२४,००० — २००० = २२,०००) — ($\frac{३५}{६}$ × $\frac{७}{१}$ × $\frac{१}{४}$) ÷ $\frac{७-१}{१}$ = $\frac{२२,०००}{१}$ — $\frac{२४५}{२४}$) × $\frac{१}{६}$ = ३,६६४ $\frac{१३९}{१४४}$ याजन या ३,६६४ योजन $\frac{६९५००}{९}$ दण्ड अञ्जना पृथिवी मे प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल है ।

सत्ताणउदी-जोयण-चउदाल-सयाणि पंचम-खिदीए ।
पण-सय-जुद-छ-सहस्सा, दंडेण पइण्णयाण विच्चालं ।।१९३।।

४४९७ । दंड ६५००

अर्थ—पाँचवी पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल चार हजार चार सौ सत्तानबे योजन और छह हजार पाँच सौ धनुष प्रमाण है ।।१९३।।

विशेषार्थ—(२०,००० — २००० = १८,०००) — ($\frac{७}{१}$ × $\frac{५}{१}$ × $\frac{१}{४}$) ÷ $\frac{(५-१)}{१}$ = ($\frac{१८०००}{१}$ - $\frac{३५}{४}$) × $\frac{१}{४}$ = ४,४९७ $\frac{१३}{१६}$ योजन या ४,४९७ योजन ६,५०० दण्ड अरिष्टा पृथिवी में प्रकीर्णक बिलो का ऊर्ध्व अन्तराल है ।

छण्णउदि णव-सयाणि छ-सहस्सा जोयणाणि मघवीए ।
पणहत्तरि सय-दंडा, उड्ढेण पइण्णयाण विच्चालं ।।१९४।।

।। ६९९६ । दंड ७५०० ।।

अर्थ—मघवी नामक छठी पृथिवी में प्रकीर्णक बिलों का ऊर्ध्व अन्तराल छह हजार नौ सौ छयानबे योजन और पचहत्तर सौ धनुष प्रमाण है ।।१९४।।

विशेषार्थ – (१६,०००—२००० = १४,०००) — ($\frac{४२}{६} \times \frac{३}{१} \times \frac{१}{४}$) ÷ $\frac{३-१}{१}$ = ($\frac{१४,०००}{१}$ — $\frac{४२}{८}$) × $\frac{१}{२}$ = ६,९९६ $\frac{१५}{१६}$ योजन अथवा ६.९९६ योजन ७,५०० दण्ड (धनुष) मघवी पृथिवी मे प्रकीर्णक बिलो का ऊर्ध्व अन्तराल है ।

[1]सट्ठाणे विच्चालं एवं, जाणिज्ज तह परट्ठाणे ।
जं इंदय-परठाणे, भणिदं तं एत्थ [2]वत्तव्वं ॥१९५॥

। एवं पइण्णयाणं विच्चालं समत्तं ।

॥ एवं णिवास-खेत्तं समत्तं ॥१॥

अर्थ—इस प्रकार यह प्रकीर्णक बिलो का अन्तराल स्वस्थान में समझना चाहिए। परस्थान में जो इन्द्रक बिलो का अन्तराल कहा जा चुका है, उसी को यहाँ पर भी कहना चाहिए ॥१९५॥

। इसप्रकार प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल समाप्त हुआ ।

॥ इस प्रकार निवास-क्षेत्र का वर्णन समाप्त हुआ ॥१॥

(तालिका सामने के पृष्ठ पर देखिये ।

१ ठ. भट्ठाणे २. द. वत्पव्व ।

इन्द्रक, श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलों का स्वस्थान, परस्थान अन्तराल—

गा० १९४–१९५

क्रमांक	नरकों के नाम	इन्द्रक-बिलों का अन्तराल		श्रेणीबद्ध बिलों का अन्तराल		प्रकीर्णक बिलों का अन्तराल	
		स्वस्थान	परस्थान	स्वस्थान	परस्थान	स्वस्थान	परस्थान
१	घम्मा	६,४९९ ३५/४८ यो०	१ राजू – २०,९००० यो.	६,४९९ २३/३६ यो.	१रा – २,०९००० यो.	६,४९९ ४३/१४४ यो.	इन्द्रक-बिलों के परस्थान प्रमाण सदृश
२	वंशा	२,९९९ ४७/८० यो०	१ राजू – २६,००० यो.	२,९९९ ६/२७ यो	१ „ – २६,००० यो.	२,९९९ ३/८० यो.	
३	मेघा	३,२४९ ७/९६ यो०	१ राजू – २२,००० यो.	३,२४९ १/४ यो.	१ „ – २२,००० यो.	३,२४८ ११/१२ यो.	
४	अंजना	३,६६५ १५/१६ यो०	१ राजू – १८,००० यो.	३ ६६५ २५/३६ यो.	१ „ – १८,००० यो.	३,६६४ १३६/१४४ यो.	
५	अरिष्टा	४,४९९ १/९६ यो०	१ राजू – १४,००० यो.	४,४९८ ३/४ यो.	१ „ – १४,००० यो.	४,४९७ १३/१२ यो.	
६	मघवी	६,९९८ ११/१२ यो०	१ राजू – ३,०००२/३ यो.	६,९९८ १/४ यो.	१ „ – ३०००२/३ यो.	६,९९६ १५/१२ यो.	
७	माघवी	०		३,९९९ १/३ यो		०	

प्रत्येक नरक के नारकियों की संख्या का प्रमाण

घम्माए णारइया, संखातीताओ होंति सेढीओ ।
एदाणं गुणगारा, बिदंगुल-बिदिय-मूल-किंचूणं ॥१९६॥

| − २ + ।
‾‾‾‾‾ १२

अर्थ—घर्मा पृथिवी मे नारकी जीव असंख्यात होते हैं। इनकी सख्या निकालने के लिए गुणकार घनांगुल के द्वितीय वर्गमूल से कुछ कम है। अर्थात् इस गुणकार से जगच्छ्रेणी को गुणा करने पर जो राशि उत्पन्न हो, उतने नारकी जीव घर्मा पृथिवी मे विद्यमान हैं ॥१९६॥

विशेषार्थ--श्रेणी × घनांगुल के दूसरे वर्गमूल से कुछ कम = घर्मा पृ० के नारकी। संदृष्टि का अभिप्राय इस प्रकार है-- — = जगच्छ्रेणी, २ = दूसरा, + = घनांगुल, १२ = कुछ कम, । = वगमूल।

वंसाए णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ता वि ।
सो रासी सेढीए, बारस-मूलावहिद सेढी ॥१९७॥

$\frac{-}{१२}$ ।

अर्थ—वंशा पृथिवी में नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असंख्यातभाग मात्र हैं, वह राशि भी जगच्छ्रेणी के बारहवें वर्गमून से भाजित जगच्छ्रेणी मात्र है ॥१९७॥

श्रेणी ÷ श्रेणी का बारहवाँ वर्गमूल वंशा पृथिवी के नारकियो का प्रमाण

मेघाए णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ता वि ।
सेढीए [1]दसम-मूलेण, भाजिदो होदि सो सेढी ॥१९८॥

$\frac{-}{१०}$ ।

अर्थ—मेघा पृथिवी मे नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असंख्यातभाग प्रमाण होते हुए भी जगच्छ्रेणी के दसवें वगमूल मे भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण है ॥१९८॥

श्रेणी ÷ श्रेणी का दसवाँ वर्गमूल = मेघा पृ० के नारकियो का प्रमाण।

तुरिमाए णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ते वि ।
सो सेढीए अट्ठम-मूलेणं, अवहिदा सेढी ॥१९९॥

$\frac{-}{८}$ ।

---

१ द. क. ठ दसमूलेण ।

अर्थ—चौथी पृथिवी मे नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असख्यातभाग प्रमाण हैं, वह प्रमाण भी जगच्छ्रेणी मे जगच्छ्रेणी के आठवे वर्गमूल का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना है ।।१९९।।

श्रेणी—श्रेणी का आठवां वर्गमूल　चौथी पृ० के नारकियो का प्रमाण

पंचम-खिदि-णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ते वि ।
सो सेढीए छट्ठम-मूलेणं भाजिदा सेढी ।।२००।।

अर्थ—पाँचवी पृथिवी मे नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असख्यातवे-भाग प्रमाण होकर भी जगच्छ्रेणी के छठे वर्गमूल से भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण है ।।२००।।

श्रेणी—श्रेणी का छठा वर्गमूल—पाँचवी पृ० के नारकियो का प्रमाण ।

मघवीए णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्ते वि ।
सेढीए तदिय-मूलेण, [1]हरिद-सेढीअ सो रासी ।।२०१।।

$\frac{}{3}$ ।

अर्थ—मघवी पृथिवी मे भी नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असंख्यातवें भाग प्रमाण हैं, वह प्रमाण भी जगच्छ्रेणी मे उसके तीसरे वर्गमूल का भाग देने पर जो लब्ध आवे, उतना है ।।२०१।।

श्रेणी—श्रेणी का तीसरा वर्गमूल=छठी पृ० के नारकियो का प्रमाण।

सत्तम-खिदि-णारइया, सेढीए असंखभाग-मेत्त वि ।
सेढीऐ बिदिय-मूलेण, हरिद-सेढीअ सो रासी ।।२०२।।

। एवं संख। समत्ता ।।२।।

अर्थ—सातवी पृथिवी में नारकी जीव जगच्छ्रेणी के असख्यातवे भाग प्रमाण है, वह राशि जगच्छ्रेणी के द्वितीय वर्गमूल मे भाजित जगच्छ्रेणी प्रमाण है ।।२०२।।

श्रेणी—श्रेणी का दूसरा वर्गमूल=सातवी पृ० के नारकियों का प्रमाण।

इस प्रकार संख्या का वर्णन समाप्त हुआ ।।२।।

१. द. ब क. हरिदा सेढीय

पहली पृथिवी में पटलक्रम से नारकियो की आयु का प्रमाण

णिरय पदरेसु[1] आऊ, सीमंतादीसु दोसु संखेज्जा ।
तदिए संखासंखो, दससु असंखो तहेव सेसेसु ॥२०३॥

७ । ७ । ७ रि । १० । रि । से । रि[2]

अर्थ—नरक-पटलों मे से सीमन्त आदिक दो पटलो में संख्यात वर्ष की आयु है । तीसरे पटल में संख्यात एव असख्यात वर्ष की आयु है और आगे के दस पटलो मे तथा शेष पटलो मे भी असख्यात वर्ष प्रमाण ही नारकियो की आयु होती है ॥२०३॥

विशेषार्थ—सदृष्टि का अभिप्राय है—७ =,सख्यात वर्ष, ७ रि=,सख्यात एव असख्यात वर्ष १० =दस पटल, से =शेष पटल, रि =असख्यात वर्ष ।

एक्कत्तिण्णि य सत्तं, दह सत्तारह दुवीस तेत्तीसा ।
रयणादी-चरिमिंदय[3] - जेट्ठाऊ उवहि-उवमाणा ॥२०४॥

१ । ३ । ७ । १० । १७ । २२ । ३३ । सागरोवमाणि ।

अर्थ—रत्नप्रभादिक सातो पृथिवियो के अन्तिम इन्द्रक बिलो मे क्रमश एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, बाईस और तैंतीस सागरोपम-प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ॥२०४॥

दस-णउदि-सहस्साणिं, आऊ अवरो वरो य सीमंते ।
वरिसाणि णउदि-लक्खा, णिर-इंदय-आउ-उक्कस्सो[4] ॥२०५॥

अर्थ—सीमन्त इन्द्रक मे जघन्य आयु दस हजार (१०,०००) वर्ष और उत्कृष्ट आयु नब्बे (९०,०००) हजार वर्ष-प्रमाण है । निरय इन्द्रक मे उत्कृष्ट आयु का प्रमाण नब्बे लाख (९०,०००००) वर्ष है ॥२०५॥

रोरुगए जेट्ठाऊ, संखातीदा हु पुव्व-कोडीओ ।
भंतस्सुक्कस्साऊ, सायर-उवमस्स दसमंसो ॥२०६॥

पुव्व । रि । सा । $\frac{१}{१०}$ ।

अर्थ—रौरुक इन्द्रक मे उत्कृष्ट आयु असख्यात पूर्व कोटी और भ्रान्त इन्द्रक मे सागरोपम के दसवें-भाग ($\frac{१}{१०}$ सागर) प्रमाण उत्कृष्ट आयु है ॥२०६॥

---

१. द. ज. क. ठ पदरस्स । २ द २ । ७ । ७० । १० । ० ॥ ३. ब. चरमिंदिय । ४. द. ब आउक्कस्सो ।

वसमंस चउत्थस्स य, जेट्ठाऊ सोहिऊरण रणव-भजिदे ।
म्राउस्स पढम-भूए,[1] , रणायव्वा हारिण-वड्ढीम्रो ।।२०७।।

$\frac{1}{10}$ ।

म्रर्थ—पहली पृथिवी के चतुर्थ पटल मे जो एक सागर के दसवे भाग प्रमारण उत्कृष्ट म्रायु है, उसे पहली पृथिवीस्थ नारकियो की उत्कृष्ट म्रायु मे से कम करके शेष मे नौ का भाग देने पर जो लब्ध म्रावे उतना, पहली पृथिवी के म्रवशिष्ट नौ पटलो मे म्रायु के प्रमारण को लाने के लिए हानि-वृद्धि का प्रमारण जानना चाहिए । (इस हानि-वृद्धि के प्रमारण को चतुर्थादि पटलो की म्रायु में उत्तरोत्तर जोडने पर पचमादि पटलो मे म्रायु का प्रमारण निकलता है) ।।२०७।।

रत्नप्रभा पृ० मे उत्कृष्ट म्रायु एक सागरोपम है, म्रतः १ सा $- \frac{1}{10} = \frac{9}{10}$, $\frac{9}{10} \div \frac{9}{1} = \frac{1}{10}$ सागर हानि-वृद्धि का प्रमाण हुम्रा ।

सायर-उवमा इगि-दु-ति-चउ-पण-छस्सत्त-म्रट्ठ-रणव-दसया ।
दस-भजिदा रयणप्पह-तुरिमिंदय-पहुदि-जेट्ठाऊ ।।२०८।।

$\frac{1}{10}$ । $\frac{2}{10}$ । $\frac{3}{10}$ । $\frac{4}{10}$ । $\frac{5}{10}$ । $\frac{6}{10}$ । $\frac{7}{10}$ । $\frac{8}{10}$ । $\frac{9}{10}$ । $\frac{10}{10}$ ।

म्रर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के चतुर्थ पचमादि इन्द्रको मे क्रमश दस मे भाजित एक, दो, तीन, चार, पॉच, छह, सात, म्राठ, नौ म्रौर दस सागरोपम प्रमारण उत्कृष्ट म्रायु है ।।२०८।।

भ्रान्त मे $\frac{1}{10}$ सागर, उद्भ्रान्त मे $\frac{2}{10}$, सभ्रान्त मे $\frac{3}{10}$, म्रसभ्रान्त मे $\frac{4}{10}$, विभ्रान्त में $\frac{5}{10}$, तप्त मे $\frac{6}{10}$, त्रसित मे $\frac{7}{10}$ वक्रान्त मे $\frac{8}{10}$; म्रवक्रान्त मे $\frac{9}{10}$ म्रौर विक्रान्त इन्द्रक बिल मे उत्कृष्टायु $\frac{10}{10}$ या १ सागर प्रमाण है ।

आयु की हानि-वृद्धि का प्रमारण प्राप्त करने का विधान

उवरिम-खिदि-जेट्ठाऊ, सोहिय[2] हेट्ठिम-खिदीए जेट्ठम्मि ।
सेस रिणय-रिणय-इंदय-संखा-भजिदम्मि हारिण-वड्ढीम्रो ।।२०९।।

म्रर्थ—उपरिम पृथिवी की उत्कृष्ट म्रायु को नीचे की पृथिवी की उत्कृष्ट म्रायु मे से कम करके शेष मे म्रपने-म्रपने इन्द्रको की संख्या का भाग देने पर जो लब्ध म्रावे, उतना विवक्षित पृथिवी मे म्रायु की हानि-वृद्धि का प्रमारण जानना चाहिए ।।२०९।।

१. पढमभाए । २. द. ब. ज. क. ठ. सोहस ।

उदाहरण--दूसरी पृ० की उ० आयु सागर (३—१=)२÷११ = $\frac{2}{11}$ सागर दूसरी पृथिवी में आयु की हानि-वृद्धि का प्रमाण है।

दूसरी पृथिवी में पटल-क्रम से नारकियों की आयु का प्रमाण

तेरह-उवही पढमे, दो-दो-जुत्ता[1] य जाव तेत्तीसं।
एक्कारसेहि भजिदा, बिदिय-खिदी-इंदयाण[2] जेट्ठाऊ ॥२१०॥

$\frac{13}{11}$ । $\frac{15}{11}$ । $\frac{17}{11}$ । $\frac{19}{11}$ । $\frac{21}{11}$ । $\frac{23}{11}$ । $\frac{25}{11}$ । $\frac{27}{11}$ । $\frac{29}{11}$ । $\frac{31}{11}$ । $\frac{33}{11}$ ।

अर्थ - दूसरी पृथिवी के ग्यारह इन्द्रक बिलों में से प्रथम इन्द्रक बिल में ग्यारह से भाजित तेरह $\frac{13}{11}$ सागरोपम प्रमाण उत्कृष्ट आयु है। इसमें तैतीस ($\frac{33}{11}$) प्राप्त होने तक ग्यारह से भाजित दो दो ($\frac{2}{11}$) को मिलाने पर क्रमश दूसरी पृथिवी के शेष द्वितीयादिक इन्द्रकों की उत्कृष्ट आयु का प्रमाण होता है ॥२१०॥

स्तनक इन्द्रक मे $\frac{13}{11}$ सागर, तनक मे $\frac{15}{11}$; मनक मे $\frac{17}{11}$, वनक मे $\frac{19}{11}$, घात मे $\frac{21}{11}$, सघात मे $\frac{23}{11}$, जिह्वा मे $\frac{25}{11}$, जिह्वक मे $\frac{27}{11}$ लोल मे $\frac{29}{11}$, लोलक मे $\frac{31}{11}$ और स्तनलोलुक मे $\frac{33}{11}$ या ३ सागर प्रमाण उत्कृष्टायु है।

तीसरी पृथिवी मे पटल-क्रम से नारकियों की आयु का प्रमाण

इगतीस-उवहि-उवमा, पभवो चउ-वड्ढिदो य पत्तेक्कं।
जा तेसठि णव-भजिदं, एवं तदियावणिम्मि जेट्ठाऊ ॥२११॥

$\frac{31}{9}$ । $\frac{35}{9}$ । $\frac{39}{9}$ । $\frac{43}{9}$ । $\frac{47}{9}$ । $\frac{51}{9}$ । $\frac{55}{9}$ । $\frac{59}{9}$ । $\frac{63}{9}$ ।

अर्थ —तीसरी पृथिवी मे नौ से भाजित इकतीस ($\frac{31}{9}$) सागरोपम प्रभव या आदि है। इसके आगे प्रत्येक पटल मे नौ से भाजित चार ($\frac{4}{9}$) की तिरेसठ ($\frac{63}{9}$) तक वृद्धि करने पर उत्कृष्ट आयु का प्रमाण निकलता है ॥२११॥

तप्त मे $\frac{31}{9}$, त्रसित मे $\frac{35}{9}$, तपन मे $\frac{39}{9}$, तापन मे $\frac{43}{9}$, निदाघ मे $\frac{47}{9}$, प्रज्वलित मे $\frac{51}{9}$, उज्ज्वलित मे $\frac{55}{9}$, सज्वलित मे $\frac{59}{9}$ और सप्रज्वलित नामक इन्द्रक मे $\frac{63}{9}$ अथवा ७ सागर प्रमाण उत्कृष्टायु है।

---

१ द दोद्दो जेट्ठा य । ज क. ठ दोद्दा जेत्ता य । २ बिदीयइंदयाग ।

चौथी पृथिवी मे नारकियों की आयु का प्रमाण

बावण्णुवही-उवमा, पभओ तिय वड्ढिदा य पत्तेक्कं ।
सत्तरि-परियंतं ते, सत्त-हिदा तुरिम-पुढवि-जेट्ठाऊ ॥२१२॥

५२	५५	५८	६१	६४	६७	७०
७	७	७	७	७	७	७

अर्थ—चौथी पृथिवी मे सात से भाजित बावन सागरोपम प्रभव है। इसके आगे प्रत्येक पटल में सत्तर पर्यन्त सात से भाजित तीन ($\frac{३}{७}$) की वृद्धि करने पर उत्कृष्टायु का प्रमाण निकलता है ॥२१२॥

आर में $\frac{५२}{७}$, मार मे $\frac{५५}{७}$, तार मे $\frac{५८}{७}$, तत्त्व मे $\frac{६१}{७}$, तमक मे $\frac{६४}{७}$; खाड मे $\frac{६७}{७}$, खडखड मे $\frac{७०}{७}$ या १० सागरोपम उत्कृष्ट आयु है ॥२१२॥

पाँचवी पृथिवी मे नारकियो की आयु का प्रमाण

सगवण्णोवहि-उवमा, आदी सत्ताहिया य पत्तेक्कं ।
पणसीदी-परिअंतं, पंच-हिदा पंचमीअ जेट्ठाऊ ॥२१३॥

५७	६४	७१	७८	८५
५	५	५	५	५

अर्थ—पाँचवी पृथिवी मे पाँच से भाजित सत्तावन सागरोपम आदि है। अनन्तर प्रत्येक पटल मे पचासी तक पाँच से भाजित सात-सात ($\frac{७}{५}$) के जोडने पर उत्कृष्ट आयु का प्रमाण जाना जाता है ॥२१३॥

तम में $\frac{५७}{५}$ सागरोपम, भ्रम मे $\frac{६४}{५}$, झस में $\frac{७१}{५}$, अन्ध मे $\frac{७८}{५}$ और तिमिस्र इन्द्रक की उत्कृष्टायु $\frac{८५}{५}$ अर्थात् १७ सागर प्रमाण है।

छठी पृथिवी में नारकियो की आयु का प्रमाण

छप्पण्णा इगिसट्ठी, [1]छासट्ठी होंति उवहि-उवमाणा ।
तिय-भजिदा मघवीए, णारय-जीवाण जेट्ठाऊ ॥२१४॥

५६	६१	६६
३	३	३

१. क. ब. बासट्ठी ।

अर्थ--मघवी पृथिवी के तीन पटलो में नारकियो की उत्कृष्टायु क्रमश· तीन से भाजित छप्पन, इकसठ और छयासठ सागरोपम है ।।२१४।।

हिम मे ५६/३, वर्दल मे ६१/३ और लल्लक मे ६६/३ या २२ सागर प्रमाण उत्कृष्टायु है।

सातवी पृथिवी मे नारकियो की आयु का प्रमाण एव सर्व पृथिवियो के नारकियो
की जघन्यायु का प्रमाण

सत्तम-खिदि-जीवाणं, आऊ तेत्तीस-उवहि-परिमाणा ।
उवरिम-उक्कस्साऊ, [1]समय-जुदो हेट्ठिमे जहण्ण खु ।।२१५।।

३३ ।[2]

अर्थ—सातवी पृथिवी के जीवो की आयु तेतीस सागरोपम प्रमाण है। ऊपर-ऊपर के पटलो मे जो उत्कृष्ट आयु है, उसमे एक-एक समय मिलाने पर वही नीचे के पटलो मे जघन्यायु हो जाती है ।।२१५।।

अवधिस्थान नामक इन्द्रक की आयु ३३ सागरोपम प्रमाण है।

श्रेणीबद्ध एवं प्रकीर्णक बिलो मे स्थित नारकियो की आयु

एवं सत्त-खिदीणं, पत्तेक्कं इंदयाण जो आऊ ।
सेढि-विसेढि-गदाणं, सो चेय पइण्णयाणं पि ।।२१६।।

एव आऊ समत्ता ।।३।।

अर्थ—इस प्रकार सातो पृथिवियो के प्रत्येक इन्द्रक में जो उत्कृष्ट आयु कही गई है, वही वहां के श्रेणीबद्ध और विश्रेणीगत (प्रकीर्णक) बिलो मे भी (आयु) समझनी चाहिए ।।२१६।।

इस प्रकार आयु का वर्णन समाप्त हुआ ।।३।।

१. द. ठ. समओ जुदो, ब. क. ज. समउ-जुदो । २. द. २० । ३३ ।; ब २२ । ३३ ।

सातों नरकों के प्रत्येक पटल की जघन्य-उत्कृष्ट आयु का विवरण, गाथा २०३-२११

घर्मा पृथिवी			वंशा पृथिवी			मेघा पृथिवी		
पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल सं०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
१	१०,००० वर्ष	९०,००० वर्ष	१	१ सागर	$१\frac{२}{११}$ सागर	१	३ सागर	$३\frac{४}{९}$ सागर
२	९० ००० वर्ष	९० लाख वर्ष	२	$१\frac{२}{११}$,,	$१\frac{४}{११}$ सागर	२	$३\frac{४}{९}$,,	$३\frac{८}{९}$,,
३	९० लाख वर्ष	असं० पूर्व कोटिया	३	$१\frac{४}{११}$,,	$१\frac{६}{११}$ सागर	३	$३\frac{८}{९}$,,	$४\frac{३}{९}$,,
४	असं० पूर्व कोटियाँ	$\frac{१}{१०}$ सागर	४	$१\frac{६}{११}$,,	$१\frac{८}{११}$ सागर	४	$४\frac{३}{९}$,,	$४\frac{७}{९}$,,
५	$\frac{१}{१०}$ सागर	$\frac{२}{१०}$ सागर	५	$१\frac{८}{११}$,,	$१\frac{१०}{११}$ सागर	५	$४\frac{७}{९}$,,	$५\frac{२}{९}$,,
६	$\frac{२}{१०}$,,	$\frac{३}{१०}$ सागर	६	$१\frac{१०}{११}$,,	$२\frac{१}{११}$ सागर	६	$५\frac{२}{९}$,,	$५\frac{२}{३}$,,
७	$\frac{३}{१०}$,,	$\frac{४}{१०}$ सागर	७	$२\frac{१}{११}$,,	$२\frac{३}{११}$,,	७	$५\frac{२}{३}$,,	$६\frac{१}{९}$,,
८	$\frac{४}{१०}$,,	$\frac{१}{२}$ सागर	८	$२\frac{३}{११}$,,	$२\frac{५}{११}$,,	८	$६\frac{१}{९}$,,	$६\frac{५}{९}$,,
९	$\frac{१}{२}$,,	$\frac{३}{५}$,,	९	$२\frac{५}{११}$,,	$२\frac{७}{११}$,,	९	$६\frac{५}{९}$,,	७ सागर
१०	$\frac{३}{५}$,,	$\frac{७}{१०}$,,	१०	$२\frac{७}{११}$,,	$२\frac{९}{११}$,,			
११	$\frac{७}{१०}$,,	$\frac{४}{५}$,,	११	$२\frac{९}{११}$,,	३ सागर			
१२	$\frac{४}{५}$,,	$\frac{९}{१०}$,,						
१३	$\frac{९}{१०}$,,	१ सागरोपम						

सातो नरको के प्रत्येक पटल की जघन्य–उत्कृष्ट आयु का विवरण, गा. २१२-२१६											
अञ्जना पृथिवी			अरिष्टा पृथिवी			मघवी पृथिवी			माघवी पृथिवी		
पटल क्र०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल क्र०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल क्र०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु	पटल क्र०	जघन्य आयु	उत्कृष्ट आयु
१	७ सागर	७$\frac{३}{७}$ सागर	१	१० सागर	११$\frac{२}{५}$ सा०	१	१७ सागर	१८$\frac{२}{३}$ सागर	१	२२ सागर	३३ सागर
२	७$\frac{३}{७}$,,	७$\frac{६}{७}$ सागर	२	११$\frac{२}{५}$,,	१२$\frac{४}{५}$,,	२	१८$\frac{२}{३}$,,	२०$\frac{१}{३}$,,			
३	७$\frac{६}{७}$,,	८$\frac{२}{७}$ सागर	३	१२$\frac{४}{५}$,,	१४$\frac{१}{५}$,,	३	२०$\frac{१}{३}$,,	२२ ,,			
४	८$\frac{२}{७}$,,	८$\frac{५}{७}$ सागर	४	१४$\frac{१}{५}$,,	१५$\frac{३}{५}$,,						
५	८$\frac{५}{७}$,,	९$\frac{१}{७}$ सागर	५	१५$\frac{३}{५}$,,	१७ सागर						
६	९$\frac{१}{७}$,,	९$\frac{४}{७}$ सागर									
७	९$\frac{४}{७}$,,	१० सागर									

नोट:—१ प्रत्येक पटल की जघन्य आयु में एक समय अधिक करना चाहिए। गा० २१५।

२ यह जघन्य-उत्कृष्ट आयु का प्रमाण सातो पृथिवियो के इन्द्रक बिलो का कहा गया है, यही प्रमाण प्रत्येक पृथिवी के श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो मे रहने वाले नारकियो का भी जानना चाहिए। गा० २१६।

पहली पृथिवी मे पटलक्रम मे नारकियो के शरीर का उत्सेध

सत्त-ति-छ-दंड-हत्थंगुलाणि कमसो हवंति घम्माए ।
चरिमिंदयम्मि उदम्रो, दुगुणो-दुगुणो य सेस-परिमाणं[1] ॥२१७॥

द ७, ह ३, अ ६ । द १५, ह २, अ १२ । द ३१, ह १ । द ६२, ह २ ।
द १२५ । द २५० । द ५००

म्रर्थ—घर्मा पृथिवी के म्रन्तिम इन्द्रक मे नारकियो के शरीर की ऊँचाई सात धनुष, तीन हाथ और छह अगुल है। इसके आगे शेष पृथिवियो के अन्तिम इन्द्रको मे रहने वाले नारकियो के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण उत्तरोत्तर इससे दुगुना-दुगुना होता गया है ॥२१७॥

विशेषार्थ घर्मा पृथिवी मे शरीर की ऊँचाई ७ दड, ३ हाथ, ६ अगुल, वशा पृ० मे १५ दण्ड, २ हाथ, १२ अगुल मेघा पृ० मे ३१ दण्ड, १ हाथ, अजना पृ० मे ६२ दण्ड, २ हाथ, अरिष्टा पृ० मे १२५ दण्ड, मघवी पृ० मे २५० दण्ड और माघवी पृथिवी मे ५०० दण्ड ऊँचाई है।

रयणप्पहक्खिदीए[2], उदम्रो[3] सीमत-णाम-पडलम्मि ।
जीवाणं हत्थ-तियं, सेसेसुं हाणि-वड्ढीम्रो ॥२१८॥

ह ३ ।

म्रर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के सीमन्त नामक पटल मे जीवो के शरीर की ऊँचाई तीन हाथ है, इसके आगे शेष पटलो मे शरीर की ऊँचाई हानि-वृद्धि को लिये हुए है ॥२१८॥

म्रादी म्रते सोहिय, रूऊणिंदा-हिदम्मि हाणि-चया ।
मुह-सहिदे खिदि-सुद्धे, णिय-णिय-पदरेसु उच्छेहो ॥२१९॥

ह २ । अ ८ । भा $\frac{2}{3}$ ।

म्रर्थ—अन्त मे से आदि को घटाकर शेष मे एक कम अपने इन्द्रक के प्रमाण का भाग देने पर जो लब्ध आवे उतना प्रथम पृथिवी मे हानि-वृद्धि का प्रमाण है। इसे उत्तरोत्तर मुख मे मिलाने अथवा भूमि मे से कम करने पर अपने-अपने पटलो में ऊँचाई का प्रमाण ज्ञात होता है ॥२१९॥

---

१. द. ठ. ज. सेसपरिमाणं । २. द. ब. ज. क. ठ. पुत्थीए । ३. द. श्रोदम्रो ।

उदाहरण—अन्त ७ धनुष, ३ हाथ, ६ अंगुल, आदि ३ हाथ, ७ ध०, ३ हा०, ६ अ. अर्थात् (३१¼ हाथ—३ हाथ=२८¼) ÷ (१३−१) = ११३/४ × १/१२ = २ हाथ ८½ अंगुल हानि-वृद्धि का प्रमाण है।

हाणि-चयाण पमाणं, घम्माए होंति दोण्णि हत्था य ।
अट्ठंगुलाणि अंगुल-भागो [1]दोहि विहत्तो य ॥२२०॥

ह २ । अ ८ । भा ½ ।

अर्थ—घर्मा पृथिवी में इस हानि-वृद्धि का प्रमाण दो हाथ, आठ अंगुल और एक अंगुल का दूसरा ½ भाग है ॥२२०॥

हानि-चय का प्रमाण २ हाथ, ८½ अंगुल प्रमाण है।

एक्क-धणुमेक्क-हत्थो, सत्तरसंगुल-दलं च णिरयम्मि ।
इगि-दंडो तिय-हत्था[2] सत्तरसं अंगुलाणि रोरुगए ॥२२१॥

द १, ह १, अ, १७/२ । द १, ह ३, अ १७ ।

अर्थ—पहली पृथिवी के निरय नामक द्वितीय पटल में एक धनुष, एक हाथ और सत्तरह अंगुल के आधे अर्थात् साढ़े आठ अंगुल प्रमाण तथा रौरुक पटल में एक धनुष, तीन हाथ और सत्तरह अंगुल प्रमाण शरीर की ऊँचाई है ॥२२१॥

दो दंडा दो हत्था, भंतम्मि दिवड्ढमंगुलं होदि ।
उब्भंते दंड-तियं, दहंगुलाणि च उच्छेहो ॥२२२॥

द २, ह २, अ ३/२ । द ३, अंगु १० ।

अर्थ—भ्रान्त पटल में दो धनुष, दो हाथ और डेढ़ अंगुल, तथा उद्भ्रान्त पटल में तीन धनुष एवं दस अंगुल प्रमाण शरीर का उत्सेध है ॥२२२॥

तिय दंडा दो हत्था, अट्ठारह अंगुलाणि पव्वद्धं ।
संभंत[3] - णाम-इदय-उच्छेहो पढम-पुढवीए ॥२२३॥

द ३, ह २ अ १८ भा ½ ।

१ द दोहि विहत्थो य ।

अर्थ—पहली पृथिवी के सम्भ्रान्त नामक इन्द्रक में शरीर की ऊँचाई तीन धनुष, दो हाथ और साढ़े अठारह अंगुल प्रमाण है ॥२२३॥

चत्तारो चावाणि, सत्तावीसं च अंगुलाणि पि ।
होदि असंभंतिदय-उदग्रो पढमाए पुढवीए ॥२२४॥

द ४, अ २७ ।

अर्थ - पहली पृथिवी के असम्भ्रान्त इन्द्रक में नारकियों के शरीर की ऊँचाई का प्रमाण चार धनुष और सत्ताईस अंगुल है ॥२२४॥

चत्तारो कोदंडा, तिय हत्था अंगुलाणि तेवीसं ।
दलिदाणि होदि उदग्रो, विब्भंतय-णाम पडलम्मि ॥२२५॥

द ४, ह ३, अ $\frac{२३}{२}$ ।

अर्थ— विभ्रान्त नामक पटल में चार धनुष, तीन हाथ और तेईस अंगुल के आधे अर्थात् साढ़े ग्यारह अंगुल प्रमाण उत्सेध है ॥२२५॥

पंच च्चिय कोदंडा, एक्को हत्थो य बीस पव्वाणि ।
तत्तिदयम्मि उदग्रो, पण्णत्तो पढम-खोणीए ॥२२६॥

द ५, ह १, अ २० ।

अर्थ - पहली पृथिवी के तप्त इन्द्रक में शरीर का उत्सेध पाँच धनुष, एक हाथ और बीस अंगुल प्रमाण कहा गया है ॥२२६॥

छ च्चिय कोदडाणि, चत्तारो अंगुलाणि पव्वद्धं ।
उच्छेहो णादव्वो, पडलम्मि य तसिद-णामम्मि ॥२२७॥

द ६, अ ४ भा $\frac{१}{२}$ ।

अर्थ—त्रसित नामक पटल में नारकियों के शरीर की ऊँचाई छह धनुष और अर्ध अंगुल सहित चार अंगुल प्रमाण जाननी चाहिए ॥२२७॥

वारणासरणाणि छ च्चिय, दो हत्था तेरसंगुलाणि पि ।
वक्कंत-णाम-पडले, उच्छेहो पढम-पुढवीए ।।२२८।।

द ६, ह २, अ १३ ।

अर्थ— पहली पृथिवी के वक्रान्त पटल मे शरीर का उत्सेध छह धनुष, दो हाथ और तेरह अगुल है ।।२२८।।

सत्त य सरासणाणि, अंगुलया एक्कवीस-पव्वद्ध ।
पडलम्मि य उच्छेहो, होदि अवक्कत-णामम्मि ।।२२९।।

द ७, अ २१½ ।

अर्थ—अवक्रान्त नामक पटल मे सात धनुष और साढे इक्कीस अगुल प्रमाण शरीर का उत्सेध है ।।२२९।।

सत्त विसिखासणाणि, हत्थाइ तिण्णि छच्च अंगुलयं ।
चरमिंदयम्मि उदओ, विक्कते पढम-पुढमीए ।।२३०।।

द ७, ह ३, अ ६ ।

अर्थ—पहली पृथिवी के विक्रान्त नामक अन्तिम इन्द्रक मे शरीर का उत्सेध सात धनुष, तीन हाथ और छह अगुल है ।।२३०।।

दूसरी पृथिवी मे उत्सेध की वृद्धि का प्रमाण

दो हत्था वीसंगुल, एक्कारस-भजिद-दो वि पव्वाइं ।
वंसाए वड्ढीओ, मुह-सहिदा होंति उच्छेहो ।।२३१।।

ह २, अ २० भा २/११ ।

अर्थ—वशा पृथिवी मे दो हाथ, बीस अगुल और ग्यारह से भाजित दो-भाग पटल में वृद्धि होती है। इस वृद्धि को मुख अर्थात् पहली पृथिवी के उत्कृष्ट उत्सेध-प्रमाण तर मिलाते जाने से क्रमशः दूसरी पृथिवी के प्रथमादि पटलो मे उत्सेध का प्रमाण नि है ।।२३१।।

दूसरी पृथिवी मे पटलक्रम मे नारकियो के शरीर का उत्सेध

अट्ठ विसिहासणाणि, दो हत्था अंगुलाणि चउवीसं ।
एक्कारस-भजिदाइं, उदओ थणगम्मि बिदिय-वसुहाए ।।२३२।।

द ८, ह २, अ $\frac{२४}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के स्तनक नामक प्रथम इन्द्रक मे नारकियो के शरीर का उत्सेध आठ धनुष, दो हाथ और ग्यारह से भाजित चौबीस अंगुल-प्रमाण है ।।२३२।।

णव दंडा बावीसंगुलाणि एक्करस-भजिद चउ-भागा ।
बिदिय-पुढवीए तणगिंदयम्हि णारइय उच्छेहो ।।२३३।।

द ९, अ २२ भा $\frac{४}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के तनक इन्द्रक मे नारकियो के शरीर की ऊँचाई नौ धनुष, बाईस अंगुल और ग्यारह से भाजित चार भाग प्रमाण है ।।२३३।।

णव दंडा तिय-हत्थं, चउरुत्तर-दो-सयाणि पव्वाणि ।
एक्कारस-भजिदाणि, उदओ मण-इंदयम्मि जीवाण ।।२३४।।

द ९, ह ३, अ १८ भा $\frac{४}{११}$ ।

अर्थ—मन(क)इन्द्रक मे जीवो के शरीर का उत्सेध नौ धनुष, तीन हाथ और ग्यारह से भाजित दो सौ चार अंगुल प्रमाण है ।।२३४।।

दस दंडा दो हत्था, चोद्दस पव्वाणि अट्ठ भागा य ।
एक्कारसेहि भजिदा, उदओ [1]वणगिंदयम्मि बिदियाए ।।२३५।।

द १०, ह २, अ १४ भा $\frac{८}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के वनक इन्द्रक मे शरीर का उत्सेध दस-धनुष, दो हाथ, चौदह अंगुल और आठ अंगुलो का ग्यारहवाँ भाग है ।।२३५।।

---

१ द ब क ज ठ. नणगिंदयम्मि ।

एक्कारस चावाणि, एक्को हत्थो दसंगुलाणि पि ।
एक्करस-हिद-दससा, उदश्रो [1]घादिदयम्मि बिदियाए ।।२३६।।

द ११, ह १, अं १० भा $\frac{१०}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के घात इन्द्रक मे ग्यारह धनुष, १ हाथ, दस अगुल और ग्यारह से भाजित दस-भाग प्रमाण शरीर का उत्सेध है ।।२३६।।

बारस सरासणाणि, पव्वाणि अट्ठहत्तरी होंति ।
एक्कारस-भजिदाणि, संघादे णारयाण उच्छेहो ।।२३७।।

द १२ अ० $\frac{७८}{११}$ ।

अर्थ—सघात इन्द्रक में नारकियो के शरीर का उत्सेध बारह धनुष और ग्यारह मे भाजित अठहत्तर अगुल प्रमाण है ।।२३७।।

बारस सरासणाणि, तिय हत्था तिण्णि अंगुलाणि च ।
एक्करस-हिद-ति-भाया उदश्रो जिब्भिदअम्मि बिदियाए ।।२३८।।

द १२, ह ३, अ ३ भा $\frac{३}{११}$ ।

अर्थ—दूसरी पृथिवी के जिह्व इन्द्रक मे शरीर का उत्सेध बारह धनुष, तीन हाथ, तीन अगुल और ग्यारह से भाजित तीन भाग प्रमाण है ।।२३८।।

तेवण्णा हत्थाइं, तेवीसा अंगुलाणि पण भागा ।
एक्कारसेहिं [2]भजिदा, जिब्भग-पडलम्मि उच्छेहो ।।२३९।।

ह ५३ अ २३ भा $\frac{५}{११}$ ।

अर्थ—जिह्वक पटल मे शरीर का उत्सेध तिरेपन हाथ (१३ दण्ड १ हाथ) तेईस अगुल और एक अगुल के ग्यारह-भागो मे से पाँच-भाग प्रमाण है ।।२३९।।

१. ब. घादिदियम्मि । २. द भजिदाण ।

चोद्दस दंडा सोलस-जुत्ताणि सयाणि दोण्हि पव्वाणि ।
एक्कारस-भजिदाइ, उदओ [1]लोलिंदयम्हि बिदियाए ।।२४०।।

द १४, अ $\frac{२१६}{११}$ ।

अर्थ -दूसरी पृथिवी के लोल नामक इन्द्रक मे शरीर का उत्सेध चौदह धनुष और ग्यारह से भाजित दो सौ सोलह (१९ $\frac{७}{११}$) अंगुल प्रमाण है ।।२४०।।

एक्कोण-सट्ठि हत्था, [2]पण्णरसं अंगुलाणि णव भागा ।
एक्कारसेहि भजिदा, लोलयणामम्मि उच्छेहो ।।२४१।।

ह ५९, अ १५ भा $\frac{९}{११}$ ।

अर्थ लोलक नामक पटल मे नारकियो के शरीर की ऊँचाई उनसठ हाथ (१४ दण्ड, ३ हाथ), १५ अंगुल और ग्यारह से भाजित अंगुल के नौ-भाग प्रमाण है ।।२४१।।

पण्णरसं कोदंडा, दो हत्था बारसंगुलाणि च ।
अंतिम-पडले [4]थणलोलगम्मि बिदियाअ उच्छेहो ।।२४२।।

द १५, ह २, अ १२ ।

अर्थ -दूसरी पृथिवी के स्तनलोलक (लोलुक) नामक अन्तिम पटल मे पन्द्रह धनुष, दो हाथ और बारह अंगुल-प्रमाण शरीर का उत्सेध है ।।२४२।।

तीसरी पृथिवी मे उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण

एक्क धणू बे [5]हत्था, बावीसं अंगुलाणि बे भागा ।
तिय-भजिदा[6] णादव्वा[7] , मेघाए हाणि-वड्ढीओ ।।२४३।।

ध १, ह २, अ २२ भा $\frac{२}{३}$ ।

---

१ द. क. ज. ठ लोलय । २. ब पणरस । ३ ब पण्णरस । ४. ब. द. ठ. थणलोलगम्मि ।
५ द. हत्थ । ६. द. क. ठ. भजिद । ७ द. क. ठ. णादव्वो, ब. णायव्वो ।

अर्थ- मेघा पृथिवी मे एक धनुष, दो हाथ, २२ अंगुल और तीन मे भाजित एक अंगुल के दो-भाग-प्रमाण हानि-वृद्धि जाननी चाहिए ॥२४३॥

तीसरी पृथिवी मे पटल-क्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

सत्तरसं चावाणि, चोत्तीसं अंगुलाणि दो भागा ।
तिय-भजिदा मेघाए, उदम्रो तत्तिदयम्मि जीवाणं ॥२४४॥

ध १७, अ ३४ भा $\frac{2}{3}$ ।

अर्थ —मेघा पृथिवी के तप्त इन्द्रक मे जीवों के शरीर का उत्सेध सत्तरह धनुष, चौतीस अंगुल (१ हाथ, १० अंगुल) और तीन मे भाजित अंगुल के दो-भाग प्रमाण है ॥२४४॥

एक्कोणवीस दंडा, अट्ठावीसंगुलाणि [1]तिहिदाणि ।
तसिदिदयम्मि तदियक्खोणीए णारयाण उच्छेहो ॥२४५॥

ध १९, अ $\frac{28}{3}$ ।

अर्थ--तीसरी पृथिवी के त्रसित इन्द्रक मे नारकियों का उत्सेध उन्नीस धनुष और तीन से भाजित अट्ठाईस ($9\frac{1}{3}$) अंगुल प्रमाण है ॥२४५॥

वीसए सिखासयाणि, असीदिमेत्ताणि अंगुलाणि च ।
[2]तदिय-पुढवीए तवणि - दयम्मि णारइय उच्छेहो ॥२४६॥

द २० । अ ८० ।

अर्थ तीसरी पृथिवी के तपन इन्द्रक बिल मे नारकियों के शरीर का उत्सेध बीस धनुष अस्सी (३ हाथ ८) अंगुल प्रमाण है ॥२४६॥

णउदि-पमाणा हत्था, [3]तिदय-विहत्ताणि वीस पव्वाणि ।
मेघाए [4]तावणिदय-ठिदाण जीवाण उच्छेहो ॥२४७॥

ह ९०, अं $\frac{20}{3}$ ।

१ द क. ठ निहिदाणि । २ द.ब. क ठ तदिय चय पुढवीए । ३. द तीयविहत्थाणि, क. तीद विहत्थाणि, ठ तीदी विहत्थाणि, ब तदिविहत्ताणि । ४ द. ब. क. ठ. तवणिदय ।

अर्थ—मेघा पृथिवी के तापन इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध नब्बे हाथ (२२ धनुष २ हाथ) और तीन से भाजित बीस अंगुल प्रमाण है ।।२४७।।

सत्ताणउदी हत्था, सोलस पव्वाणि तिय-विहत्ताणि ।
उदओ णिदाहणामा-पडले, णेरइय जीवाणं ।।२४८।।

ह ९७, अ $\frac{16}{3}$ ।

अर्थ—निदाघ नामक पटल में नारकी जीवों के शरीर की ऊंचाई सत्तानवे (२४ दण्ड १) हाथ और तीन से भाजित सोलह-अंगुल प्रमाण है ।।२४८।।

छव्वीसं चावाणि, चत्तारो अंगुलाणि मेघाए ।
पज्जलिद-णाम-पडले, ठिदाण जीवाण उच्छेहो ।।२४९।।

ध २६, अ ४ ।

अर्थ—मेघा पृथिवी के प्रज्वलित नामक पटल में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध छब्बीस धनुष और चार अंगुल प्रमाण है ।।२४९।।

सत्तावीसं दंडा, तिय-हत्था अट्ठ अंगुलाणि च ।
तिय-भजिदाइं उदओ, [1]उज्जलिदे णारयाण णादव्वो ।।२५०।।

ध २७, ह ३, अ $\frac{8}{3}$ ।

अर्थ—उज्वलित इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध सत्ताईस धनुष, तीन हाथ और तीन से भाजित आठ अंगुल प्रमाण है ।।२५०।।

एक्कोणतीस[2] दंडा, दो हत्था अंगुलाणि चत्तारि ।
तिय-भजिदाइं उदओ, [3]संजलिदे तदिय-पुढवीए ।।२५१।।

ध २९, ह २, अ $\frac{4}{3}$ ।

१. द. उज्जलिदो । २ ब क. एकोणतीस । ३. सजलि-तदिय ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी के सञ्ज्वलित इन्द्रक में शरीर का उत्सेध उनतीस धनुष, दो हाथ और तीन से भाजित चार (४/३) अंगुल प्रमाण है ॥२५१॥

एक्कत्तीसं दंडा, एक्को हत्थो अ तदिय-पुढवीए ।
संपज्जलिदे[2] चरिमिदयम्हि [3]णारइय उस्सेहो ॥२५२॥

ध ३१, ह १ ।

अर्थ—तीसरी पृथिवी के सम्प्रज्वलित नामक अन्तिम इन्द्रक में नारकियों के शरीर का उत्सेध इकतीस-धनुष और एक हाथ प्रमाण है ॥२५२॥

चौथी पृथिवी में उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण

चउ दंडा इगि हत्थो, पव्वाणि वीस-सत्त-पविहत्ता ।
चउ भागा तुरिमाए, पुढवीए हाणि-वड्ढीओ ॥२५३॥

ध ४, ह १, अ २० भा ४/७ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी में चार धनुष, एक हाथ, बीस अंगुल और सात से भाजित चार-भाग प्रमाण हानि-वृद्धि है ॥२५३॥

चौथी पृथिवी में पटल क्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

पणतीसं दंडाइं, हत्थाइं दोण्णि वीस-पव्वाणि ।
सत्त-हिदा चउ-भागा, उदओ आर-ट्ठिदाण जीवाण ॥२५४॥

ध ३५, ह २, अ २० भा ४/७ ।

अर्थ—आर पटल में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध पैंतीस धनुष, दो हाथ, बीस अंगुल और सात से भाजित चार-भाग-प्रमाण है ॥२५४॥

---

१ ब तदिह । २ द ब क ठ सजलिदे । ३ द ब क ठ णारइया ।

चालीसं कोदंडा, वीसब्भहिम्रं सयं च पव्वाणि ।
सत्त-हिदा उच्छेहो, [1]तुरिमाए मार-पडल-जीवाणं ॥२५५॥

ध ४०, अ $\frac{१२०}{७}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी के मार नामक पटल मे रहने वाले जीवों के शरीर की ऊँचाई चालीस धनुष और सात मे भाजित एक सौ बीस (१७$\frac{१}{७}$)अंगुल प्रमाण है ॥२५५॥

चउदाल चावाणि, दो हत्था अंगुलाणि छण्णउदी ।
सत्त-हिदा उच्छेहो, तारिंदय-संठिदाण जीवाणं ॥२५६॥

ध ४४, ह २, अ $\frac{९६}{७}$ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी के तार इन्द्रक मे स्थित जीवो के शरीर का उत्सेध चवालीस धनुष, दो हाथ और सात से भाजित छ्यानबै (१३$\frac{५}{७}$) अंगुल प्रमाण है ॥२५६॥

एक्कोणपण्ण दंडा, बाहत्तरि अंगुला य सत्त-हिदा ।
तच्चिदयम्मि[2] तुरिमक्खोणीए णारयाण उच्छेहो ॥२५७॥

ध ४९, अ $\frac{७२}{७}$ ।

अर्थ चौथी पृथिवी मे तत्व (चर्चा) इन्द्रक मे नारकियो के शरीर का उत्सेध उनचास धनुष और सात मे भाजित बहत्तर (१०$\frac{२}{७}$) अंगुल प्रमाण है ॥२५७॥

[3]तेवण्णा चावाणि, बिय हत्था अट्ठताल पव्वाणि ।
सत्त-हिदाणि उदम्रो, तमगिंदय-संठिदाण जीवाण ॥२५८॥

ध ५३, ह २, अ $\frac{४८}{७}$ ।

अर्थ—तमक इन्द्रक में स्थित जीवो के शरीर का उत्सेध तिरेपन धनुष, दो हाथ और सात मे भाजित अडतालीस (६$\frac{६}{७}$) अंगुल प्रमाण है ॥२५८॥

१ द ब क. ठ 'पचगए। २. द. ब क. ठ तत्तिदयम्मि । ३. ब तेण्णाव

अट्ठावण्णा दंडा, सत्त-हिदा अंगुला य चउवीसं ।
खाडिदयम्मि तुरिमक्खोणीए णारयाण उच्छेहो ॥२५९॥

ध ५८, अ $\frac{२४}{७}$ ।

अर्थ चौथी पृथिवी के खाड इन्द्रक मे नारकियों के शरीर का उत्सेध अट्ठावन धनुष और सात से भाजित चौबीस (३ $\frac{३}{७}$) अंगुल प्रमाण है ॥२५९॥

वासट्ठी कोदंडा, हत्थाइं दोण्णि तुरिम-पुढवीए ।
चरिमिंदयम्मि खडखड-णामाए णारयाण उच्छेहो ॥२६०॥

द ६२, ह २ ।

अर्थ—चौथी पृथिवी के खडखड नामक अन्तिम इन्द्रक मे नारकियो के शरीर का उत्सेध बासठ धनुष और दो हाथ प्रमाण है ॥२६०॥

पाँचवी पृथिवी के उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण

बारस सरासणाणि, दो हत्था पंचमीए पुढवीए ।
खय-वड्ढीय पमाणं, णिद्दिट्ठ वीयराएहिं ॥२६१॥

द १२, ह २ ।

अर्थ -वीतरागदेव ने पाँचवी पृथिवी मे क्षय एवं वृद्धि का प्रमाण बारह धनुष और दो हाथ कहा है ॥२६१॥

पाँचवी पृथिवी मे पटलक्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

पणहत्तरि-परिमाणा, कोदंडा पंचमीए पुढवीए ।
पढमिंदयम्मि उदओ, तम-णामे संठिदाण जीवाणं ॥२६२॥

द ७५ ।

अर्थ—पाँचवी पृथिवी के तम (क) नामक प्रथम इन्द्रक बिल मे स्थित जीवो के शरीर की ऊँचाई पचहत्तर धनुष प्रमाण है ॥२६२॥

सत्तासीदी दंडा, दो हत्था पंचमीए खोणीए।
पडलम्मि य भम-णामे, णारय-जीवाण उच्छेहो ॥२६३॥

द ८७, ह २।

अर्थ पाँचवी पृथिवी के भ्रम नामक पटल मे नारकी जीवों के शरीर का उत्सेध सत्तासी धनुष और दो हाथ-प्रमाण है ॥२६३॥

एक्कं कोदंड-सयं, झस-णामे णारयाण उच्छेहो।
चावाणि बारसुत्तर-सयमेक्कं अंधयम्मि दो हत्था ॥२६४॥

द १००। द ११२, ह २।

अर्थ--झस नामक पटल मे मात्र सौ धनुष तथा अन्धक पटल मे एक सौ बारह धनुष और दो हाथ प्रमाण नारकियों के शरीर की ऊंचाई है ॥२६४॥

एक्कं कोदंड-सयं, अब्भहियं पंचवीस-रूवेहिं।
धूमप्पहाए[1] चरिमिंदयम्मि तिमिसम्मि उच्छेहो ॥२६५॥

द १२५।

अर्थ – धूमप्रभा पृथिवी के तिमिस्र नामक अन्तिम इन्द्रक मे नारकियो के शरीर का उत्सेध पच्चीस अधिक एक सौ अर्थात् एक सौ पच्चीस धनुष प्रमाण है ॥२६५॥

छठी पृथिवी के उत्सेध की हानि-वृद्धि का प्रमाण

एक्कत्तालं दंडा, हत्थाइं दोण्णि सोलसंगुलया।
छट्ठीए वसुहाए, परिमाणं हाणि-वड्ढीए ॥२६६॥

दंड ४१, ह २, अ १६।

अर्थ– छठी पृथिवी मे हानि-वृद्धि का प्रमाण इकतालीस धनुष, दो हाथ और सोलह अंगुल है ॥२६६॥

१ द क. ठ धूमप्पहाय

छठी पृथिवी में पटलक्रम से नारकियों के शरीर का उत्सेध

छासट्ठी-अहिय-सयं, कोदंडा दोण्णि होंति हत्था य ।
सोलस पव्वा य पुढ, हिम-पडल-गदाण उच्छेहो ।।२६७।।

द १६६, ह २, अ १६ ।

अर्थ - (छठी पृथिवी के) हिम पटलगत जीवों के शरीर की ऊँचाई एक सौ छयासठ धनुष, दो हाथ और सोलह अंगुल प्रमाण है ।।२६७।।

दोण्णि सयाणि अट्ठाउत्तर-दंडाणि अंगुलाणि च ।
बत्तीसं [1]छट्ठीए, [2]वद्दल-ठिद-जीव-उच्छेहो ।।२६८।।

द २०८, अ ३२ ।

अर्थ – छठी पृथिवी के वर्दल पटल में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध दो सौ आठ धनुष और बत्तीस (१ हाथ ८) अंगुल प्रमाण है ।।२६८।।

पण्णासब्भहियाणि, दोण्णि सयाणि सरासणाणि च ।
लल्लंक-णाम-इंदय-ठिदाण जीवाण उच्छेहो ।।२६९।।

द २५० ।

अर्थ – लल्लक नामक इन्द्रक में स्थित जीवों के शरीर का उत्सेध दो सौ पचास धनुष-प्रमाण है ।।२६९।।

सातवीं पृथिवी के नारकियों के शरीर का उत्सेध

पुढमीए सत्तमिए, अवधिट्ठाणम्हि एक्क पडलम्हि ।
पच - सयाणि दडा, णारय - जीवाण उस्सेहो ।।२७०।।

द ५०० ।

१ द छट्ठाए । २. द क ठ. बदलट्ठिदल-जीव ।

अर्थ—सातवी पृथिवी के अवधिस्थान पटल मे नारकियों का उत्सेध पाँच सौ (५००) धनुष प्रमाण है ॥२७०॥

श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक-बिलो के नारकियो का उत्सेध

एवं रयणादीणं, पत्तेक्कं इदयाण जो उदओ ।
सेढि-विसेढि-गदाणं, पइण्णयाणं च सो च्चेअ ॥२७१॥

॥ इदि णारयाण उच्छेहो समत्तो[1] ॥४॥

अर्थ इस प्रकार रत्नप्रभादिक पृथिवियो के प्रत्येक इन्द्रक मे शरीर का जो उत्सेध है, वही उत्सेध उन-उन पृथिवियो के श्रेणीबद्ध और विश्रेणीगत प्रकीर्णक बिलो मे स्थित नारकियो के शरीर का भी जानना चाहिए ॥२७१॥

॥ इस प्रकार नारकियो के शरीर का उत्सेध-प्रमाण समाप्त हुआ ॥४॥

नोट—गाथा २१७, २२० से २२६, २३१ से २४१, २४३ से २५१, २५३ से २५६, २६१ से २६४ और २६६ से २६६ से सम्बन्धित मूल सदृष्टियो का अर्थ निम्नाकित तालिका द्वारा दर्शाया गया है—

[तालिका अगले पृष्ठ पर देखिये]

१. द समत्ता ।

सातो नरकों के प्रत्येक पटल-स्थित नारकियों के शरीर के उत्सेध का विवरण, गाथा २१८-२५२											
पहली पृथिवी				दूसरी पृथिवी				तीसरी पृथिवी			
पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल
१	०	३	०	१	८	२	$२\frac{२}{११}$	१	१७	१	$१०\frac{२}{३}$
२	१	१	$८\frac{१}{२}$	२	९	०	$२२\frac{४}{११}$	२	१९	०	$९\frac{१}{३}$
३	१	३	१७	३	९	३	$१८\frac{६}{११}$	३	२०	३	८
४	२	२	$१\frac{१}{२}$	४	१०	२	$१४\frac{८}{११}$	४	२२	२	$६\frac{२}{३}$
५	३	०	१०	५	११	१	$१०\frac{१०}{११}$	५	२४	१	$५\frac{१}{३}$
६	३	२	$१८\frac{१}{२}$	६	१२	०	$७\frac{१}{११}$	६	२६	०	४
७	४	१	३	७	१२	३	$३\frac{३}{११}$	७	२७	३	$२\frac{२}{३}$
८	४	३	$११\frac{१}{२}$	८	१३	१	$२३\frac{५}{११}$	८	२९	२	$१\frac{१}{३}$
९	५	१	२०	९	१४	०	$१९\frac{७}{११}$	९	३१	१	०
१०	६	०	$४\frac{१}{२}$	१०	१४	३	$१५\frac{९}{११}$				
११	६	२	१३	११	१५	२	१२				
१२	७	०	$२१\frac{१}{२}$								
१३	७	३	६								

सातों नरकों के प्रत्येक पटल-स्थित नारकियों के शरीर के उत्सेध का विवरण, गाथा २५४-२७०															
चौथी पृथिवी				पाँचवीं पृथिवी				छठी पृथिवी				सातवीं पृथिवी	
पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष	हाथ	अंगुल	पटल सं०	धनुष
१	३५	२	२० ४/७	१	७५	०	०	१	१६६	२	१६	१	५००
२	४०	०	१७ १/७	२	८७	२	०	२	२०८	१	८		
३	४४	२	१३ ५/७	३	१००	०	०	३	२५०	०	०		
४	४९	०	१० २/७	४	११२	२	०						
५	५३	२	६ ६/७	५	१२५	०	०						
६	५८	०	३ ३/७										
७	६२	२	०										

रत्नप्रभादि पृथिवियों मे अवधिज्ञान का निरूपण

रयणप्पहावणीए, कोसा चत्तारि ओहिणाण-खिदी ।
तप्परदो पत्तेक्कं, परिहाणी गाउदद्धेण ॥२७२॥

को ४ । $\frac{७}{२}$ । ३ । $\frac{५}{२}$ । २ । $\frac{३}{२}$ । १ ।

॥ ओहि समत्ता ॥५॥

अर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी में अवधिज्ञान का क्षेत्र चार कोस प्रमाण है, इसके आगे प्रत्येक पृथिवी मे उक्त अवधि-क्षेत्र मे से अर्धगव्यूति (कोस) की कमी होती गयी है ॥२७२॥

विशेषार्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के नारकी जीव अपने अवधिज्ञान मे ४ कोस तक, शर्करा के ३½ कोस तक, बालुका पृ० के ३ कोस तक, पक पृ० के २½ कोस तक, धूम पृ० के २ कोस तक, तम. पृ० के १½ कोस तक और महातम प्रभा के नारकी जीव एक कोस तक जानते है।

॥ इसप्रकार अवधिज्ञान का वर्णन समाप्त हुआ ॥५॥

नारकी जीवो मे बीस-प्ररूपणाओं का निर्देश

गुणजीवा पज्जत्ती, पाणा सण्णाय मग्गणा कमसो ।
उवजोगा [1]कहिदव्वा, णारइयाणं जहा-जोग्गं[2] ॥२७३॥

अर्थ—नारकी जीवो मे यथायोग्य क्रमश गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा, मार्गणा और उपयोग (ज्ञान-दर्शन), इनका कथन करने योग्य है ॥२७३॥

नारकी जीवो में गुणस्थान

चत्तारो गुणठाणा, णारय-जीवाण होंति सव्वाणं ।
मिच्छादिट्ठी सासण- मिस्साणि तह अविरदो सम्मो ॥२७४॥

अर्थ—सब नारकी जीवो के मिथ्यादृष्टि सासादन, मिश्र और अविरतसम्यग्दृष्टि, ये चार गुणस्थान हो सकते है ॥२७४॥

१. क. कयदव्वा। २. द जहाजोग :

उपरिम गुणस्थानों का निषेध

ताण अपच्चक्खाणावरणोदय-सहिद-सव्व-जीवाणं ।
हिंसाणंद-जुदाणं, णाणाविह-संकिलेस-पउराणं ॥२७५॥

देसविरदादि-उवरिम-दस-गुणठाणाण[1] हेदु-भूदाओ ।
जाओ विसोहियाओ[2], कइया वि ण ताओ जायंति ॥२७६॥

अर्थ—अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय से सहित, हिंसानन्दी रौद्र-ध्यान और नाना प्रकार के प्रचुर संक्लेशों से संयुक्त उन सब नारकी जीवों के देशविरत आदि उपरिम दस गुण-स्थानों के हेतुभूत जो विशुद्ध परिणाम है, वे कदापि नहीं होते है ॥२७५-२७६॥

नारकी जीवों मे जीव-समास और पर्याप्तियाँ

पज्जत्तापज्जत्ता, जीव-समासा य होंति एदाणं ।
पज्जत्ती छब्भेया, तेत्तियमेत्ता अपज्जत्ती ॥२७७॥

अर्थ—इन नारकी जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त ये दो जीवसमास तथा छह प्रकार की पर्याप्तियाँ एवं इतनी (छह) ही अपर्याप्तियाँ भी होती है ॥२७७॥

नारकी जीवों मे प्राण और संज्ञाएँ

पंच वि इंदिय-पाणा, [3]मण-वय-कायाणि आउपाणा य ।
आणप्पाणप्पाणा, दस पाणा होंति चउ सण्णा ॥२७८॥

अर्थ—(नारकी जीवों के) पाँच इन्द्रिय प्राण, मन-वचन-काय ये तीन बल प्राण, आयु-प्राण और आनपान प्राण (श्वासोच्छ्वास) ये दसों प्राण तथा आहार, भय, मैथुन और परिग्रह, ये चारों संज्ञाएँ होती है ॥२७८॥

नारकी जीवों मे चौदह मार्गणाएँ

णिरय-गदीए सहिदा, पंचक्खा तह य होंति तस-काया ।
चउ-मण-वय-दुग-वेगुव्विय-कम्मइय - सरीरजोग - जुदा ॥२७९॥

१ द. ब ज क ठ गुणठाणाणि । २ ब उवसोभियाउ । ३. ठ. ज मणि, वचि ।

होंति णपुंसय-वेदा, णारय-जीवा य दव्व-भावेहिं ।
सयल-कसाया-सत्ता, संजुत्ता णाण-छक्केण ।।२८०।।

ते सव्वे णारइया, विविहेहिं असजमेहिं परिपुण्णा ।
चक्खु - अचक्खू - ओही-दंसण - तिदएण जुत्ता य ।।२८१।।

भावेसुं तिय-लेस्सा, ताओ किण्हा य णील-काओया ।
दव्वेणुक्कड-किण्हा[1] , भव्वाभव्वा य ते सव्वे ।।२८२।।

छस्सम्मत्ता ताइं, उवसम - खइयाइ-वेदगं-मिच्छो ।
[2]सासंण-मिस्सा य तहा, संणी आहारिणो अणाहारा ।।२८३।।

अर्थ—सब नारकी नरक गति से सहित, पचेन्द्रिय, त्रसकाय वाले, चार मनोयोगी, चार वचनयोगी तथा दो वैक्रियिक और कार्मण, इन तीन काय-योगो से सयुक्त होते है। वे नारकी जीव द्रव्य और भाव से नपुसक वेद वाले, सम्पूर्ण कषायो से युक्त, छह ज्ञान वाले, विविध प्रकार के असयमो से परिपूर्ण, चक्षु, अचक्षु, अवधि, इन तीन दर्शनो से युक्त, भाव की अपेक्षा कृष्ण, नील, कापोत, इन तीन लेश्याओ और द्रव्य की अपेक्षा उत्कृष्ट कृष्ण लेश्या से सहित, भव्यत्व और अभव्यत्व परिणाम से युक्त, औपशमिक, क्षायिक, वेदक, मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन छह सम्यक्त्वो से सहित, सज्ञी, आहारक एव अनाहारक होते है ।।२७९-२८३।।

विशेषार्थ—नरक-भूमियो मे स्थित सभी नारकी जीव १ गति (नरक), २ जाति (पचेन्द्रिय), ३ काय (त्रस), ४ योग (सत्य, असत्य, उभय, अनुभयरूप चार मनोयोग, चार वचन योग तथा वैक्रियिक, वैक्रियिक मिश्र और कामण तीन काययोग), ५ वेद (नपुसकवेद), ६ कषाय (स्त्रीवेद और पुरुषवेद से रहित तेईस), ७ ज्ञान (मति, श्रुत, अवधि, कुमति, कुश्रुत और विभग), ८ असयम, ९ दर्शन (चक्षु, अचक्षु अवधि), १० लेश्या (भावापेक्षा तीन अशुभ और द्रव्यापेक्षा उत्कृष्ट कृष्ण), ११ भव्यत्व (एव अभव्यत्व), १२ सम्यक्त्व (औपशमिक, क्षायिक, वेदक, मिथ्यात्व सासादन और मिश्र), १३ संज्ञी और १४ आहारक (एव अनाहारक) इन चौदह मार्गणाओ मे से यथायोग्य भिन्न-भिन्न मार्गणाओ से सयुक्त होते है ।

१ द. किण्हो । २. ब सासणि-मिस्सा ।

नारकी जीवो मे उपयोग

सायार-अणायारा, उवयोगा दोण्णि होंति तेसिं च ।
तिव्व-कसाएण जुदा, तिव्वोदय-अप्पसत्त-पयडि-जुदा ॥२८४॥

॥ गुणठाणादी समत्ता ॥६॥

अर्थ—तीव्र कषाय एव तीव्र उदयवाली पाप-प्रकृतियो से युक्त उन-उन नारकी जीवो के साकार (ज्ञान) और निराकार (दर्शन) दोनो ही उपयोग होते है ॥२८४॥

॥ इसप्रकार गुणस्थानादि का वर्णन समाप्त हुआ ॥६॥

नरको मे उत्पन्न होने वाले जीवो का निरूपण

पढम-धरंतमसण्णी, पढमं बिदियासु सरिसओ जादि ।
पढमादी-तदियंतं, पक्खी भुजगा[1] वि आतुरिमं ॥२८५॥

पंचम-खिदि-परियंत, सिंहो इत्थी वि छट्ठ-खिदि-अंतं ।
आसत्तम-भूवलयं, मच्छा मणुवा य वच्चंति ॥२८६॥

अर्थ—पहली पृथिवी के अन्त-पर्यन्त असज्ञी तथा पहली और दूसरी पृथिवी में सरीसृप जाता है। पहली से तीसरी पृथिवी पर्यन्त पक्षी एव चौथी पृथिवी पर्यन्त भुजगादिक उत्पन्न होते हैं ॥२८५॥

अर्थ—पाँचवी पृथिवी पर्यन्त सिंह, छठी पृथिवी तक स्त्री और सातवी भूमि तक मत्स्य एव मनुष्य ही जाते है ॥२८६॥

नरको मे निरन्तर उत्पत्ति का प्रमाण

अट्ठ-सग छक्क-पण-चउ-तिय-दुग-बाराओ सत्त-पुढवीसु ।
कमसो उप्पज्जंते, असण्णि-पमुहाइ उक्कस्से ॥२८७॥

॥ उप्पण्णमाण-जीवाण वण्णण समत्त[2] ॥७॥

---

१. द. ज ठ. भुयगाविवायए । २ द ज सम्मत्ता ।

अर्थ—सातों पृथिवियों में क्रमशः वे असंज्ञी आदिक जीव उत्कृष्ट-रूप से आठ, सात, छह, पाँच चार, तीन और दो बार उत्पन्न होते हैं ॥२८७॥

विशेषार्थ—नरक से निकला हुआ कोई भी जीव असंज्ञी और सम्मूर्च्छन जन्म वाला नहीं होता तथा सातवें नरक से निकला हुआ कोई भी जीव मनुष्य नहीं होता, अतः क्रमशः सातों नरक से और सप्तम नरक से निकले हुए जीव को असंज्ञी, मत्स्य और मनुष्य पर्याय धारण करने के पूर्व एक बार नियम से क्रमशः संज्ञी तथा गर्भज तिर्यञ्च पर्याय धारण करनी ही पड़ती है। इसी कारण इन जीवों के बीच में एक-एक पर्याय का अन्तर होता है, किन्तु सरीसृप, पक्षी, सर्प, सिंह और स्त्री के लिए ऐसा नियम नहीं है, वे बीच में अन्य किसी पर्याय का अन्तर डाले बिना ही उत्पन्न हो सकते हैं।

॥ इसप्रकार उत्पद्यमान जीवों का वर्णन समाप्त हुआ ॥७॥

रत्नप्रभादिक पृथिवियों में जन्म-मरण के अन्तराल का प्रमाण

चउवीस मुहुत्ताणि, सत्त दिणा एक्क पक्ख-मासं च।
दो-चउ-छम्मासाइं, पढमादो जम्म-मरण-अंतरियं ॥२८८॥

मु २४। दि ७। दि १५। मा १। मा २। मा ४। मा ६।

॥ जम्मण-मरण-अंतर-काल-पमाणं समत्तं[1] ॥८॥

अर्थ—चौबीस मुहूर्त, सात दिन, एक पक्ष, एक मास, दो मास, चार मास और छह मास यह क्रमशः प्रथमादिक पृथिवियों में जन्म-मरण के अन्तर का प्रमाण है ॥२८८॥

विशेषार्थ—यदि कोई भी जीव पहली पृथिवी में जन्म या मरण न करे तो अधिक से अधिक २४ मुहूर्त तक, दूसरी में सात दिन तक, तीसरी में एक पक्ष (पन्द्रह दिन) तक, चौथी में एक माह तक, पाँचवीं में दो माह तक, छठी में ४ माह तक और सातवीं पृथिवी में उत्कृष्टतः ६ माह तक न करे इसके बाद नियम से वहाँ जन्म-मरण होगा ही होगा।

॥ इसप्रकार जन्म-मरण के अन्तर-काल का प्रमाण समाप्त हुआ ॥८॥

---

१. द. ज. सम्मत्ता।

नरकों मे एक समय मे जन्म-मरण करने वालो का प्रमाण

रयणादि-णारयाणं, णिय-सखादो असंखभागमिदा ।
पडि-समयं जायते, [1]तत्तिय-मेत्ता य मरंति पुढं ॥२८९॥

—२+ । १२ । १० । ८ । ६ । ३ । २ ।
१३/१२ रि रि रि रि रि रि
रि

॥ [2]उप्पज्जण-मरणाण - परिमाण-वण्णाणा समत्ता ॥९॥

ग्रर्थ —रत्नप्रभादिक पृथिवियो मे स्थित नारकियो के अपनी सख्या के असख्यातवे भाग-प्रमाण नारकी प्रत्येक समय मे उत्पन्न होते है और उतने ही मरते हैं ॥२८९॥

विशेषार्थ—रत्नप्रभादि पृथिवियो मे स्थित नारकियो की अपनी-अपनी (गाथा१९६ से २०२ पर्यन्त दर्शायी गयी) सख्या के असख्यातवे भाग प्रमाण नारकी जीव प्रत्येक समय मे उत्पन्न होते है और मरते है । सदृष्टि का अभिप्राय इस प्रकार है .— = जगच्छ्रेणी, २ = दूसरा, + = घनागुल, । = वर्गमूल, १३/१२ कुछ कम, रि = असख्यात का भाग ।

॥ इस प्रकार एक समय मे जन्म-मरण करने वाले जीवो का कथन समाप्त हुआ ॥९॥

नरक से निकले हुए जीवों की उत्पत्ति का कथन

णिक्कता णिरयादो, गब्भ-भवे कम्म-सण्णि-पज्जत्ते ।
णर-तिरिएसु जम्मदि, [3]तिरियं चिय चरम-पुढवीदो ॥२९०॥

ग्रर्थ —नरक से निकले हुए जीव गर्भज, कर्मभूमिज, सज्ञी एवं पर्याप्तक मनुष्यों और तिर्यञ्चो मे ही जन्म लेते है परन्तु सातवी पृथिवी से निकला हुआ जीव तिर्यञ्च ही होता है (मनुष्य नही होता) ॥२९०॥

१. द क ज. ठ. तेत्तियमेत्ताए । २. द. ब. ज. क. ठ. उपज्ज । ३. द. तिरियेचिय, क. ज. ठ. तिरियच्चिय ।

वालेसु[1] दाढीसु[2], पक्खीसु जलचरेसु जाऊणं ।
संखेज्जाऊ-जुत्ता, केई णिरएसु वच्चंति ।।२६१।।

अर्थ—नरको से निकले हुए उन जीवो मे से कितने ही जीव व्यालो (सर्पादिकों) मे, डाढों वाले (तीक्ष्ण दाँतो वाले व्याघ्रादिक पशुग्रों) मे (गृद्धादिक) पक्षियों मे तथा जलचर जोवो मे जन्म लेकर ग्रौर सख्यात वर्ष की ग्रायु प्राप्तकर पुनः नरकों मे जाते हैं ।।२६१।।

केसव-बल-चक्कहरा, ण होंति कइयावि णिरय-संचारी ।
जायंते तित्थयरा, तदीय-खोणीग्र परियंतं ।।२६२।।

अर्थ—नरको में रहने वाले जीव वहाँ से निकलकर नारायण,(प्रतिनारायण), बलभद्र ग्रौर चक्रवर्ती कदापि नही होते हैं । तीसरी पृथिवी पर्यन्त के नारकी जीव वहाँ से निकल कर तीर्थंकर हो सकते हैं ।।२६२।।

ग्रातुरिम-खिदी चरिमगधारणो संजदा य धूमंतं ।
छट्ठंतं देसवदा, सम्मत्तधरा केइ चरिमंतं ।।२६३।।

।। ग्रागमण-वण्णणा समत्ता ।।१०।।

अर्थ—चौथी पृथिवी पर्यन्त के नारकी वहाँ से निकलकर चरम-शरीरी, धूमप्रभा पृथिवी तक के जीव सकलसयमी एव छठी पृथिवी-पर्यन्त के नारकी जीव देशव्रती हो सकते हैं । सातवी पृथिवी से निकले हुए जीवो मे से विरले ही सम्यक्त्व के धारक होते है ।।२६३।।

।। इस प्रकार ग्रागमन का वर्णन समाप्त हुग्रा ।।१०।।

नरकायु के बन्धक परिणाम

ग्राउस्स बंध-समये, सिलो व्व सेलो[3] व्व वेणु-मूले य ।
किमिरायव्व[4] कसाग्रोदयम्हि बंधेदि णिरयाउ ।।२६४।।

---

१. द. ब. ज. क. ठ वालीसुं । २. द क. ज. ठ. दालीसु ३. द. ब. क. ज. ठ. सिलोव्व सिलोव्व । ४. ज. ठ. किमिराउकसाउदयमि, द कसाग्रोदयमि, क. कसाया उदयमि ।

अर्थ—आयुबन्ध के समय शिला की रेखा सदृश क्रोध, शैल सदृश मान, बांस की जड़ सदृश माया और किमिराग [किरमिच (लालरंग)] सदृश लोभ कषाय का उदय होने पर नरकायु का बन्ध होता है ।।२९४।।

किण्हाय णील-काऊणुदयादो बंधिऊण णिरयाऊ ।
मरिऊण ताहि जुत्तो, पावइ णिरयं महाघोरं[1] ।।२९५।।

अर्थ—कृष्ण, नील अथवा कापोत इन तीन लेश्याओं का उदय होने से (जीव) नरकायु बांधकर और मरकर उन्हीं लेश्याओं से युक्त हुआ महा-भयानक नरक को प्राप्त करता है ।।२९५।।

अशुभ-लेश्या युक्त जीवों के लक्षण

किण्हादि-ति-लेस्स-जुदा, जे पुरिसा ताण लक्खणं एदं ।
गोत्तं तह स-कलत्तं, एक्क वछेदि मारिदुं दुट्ठो ।।२९६।।

धम्मदया-परिचत्तो[2], अमुक्क-वइरो पयंड-कलह-यरो ।
बहु-कोहो किण्हाए, जम्मदि धूमादि-चरिमंते[3] ।।२९७।।

अर्थ—जो पुरुष कृष्णादि तीन लेश्याओं सहित होते हैं, उनके लक्षण इस प्रकार हैं—ऐसे दुष्ट पुरुष (अपने ही) गोत्रीय तथा एक मात्र स्वकलत्र को भी मारने की इच्छा करते हैं, दयाधर्म से रहित होते हैं, कभी शत्रुता का त्याग नहीं करते, प्रचण्ड कलह करने वाले और बहुत क्रोधी होते हैं। कृष्ण लेश्याधारी ऐसे जीव धूमप्रभा पृथिवी से लेकर अन्तिम पृथिवी पर्यन्त जन्म लेते हैं। २९६-२९७ ।।

विसयासत्तो विमदी, माणी विण्णाण-वज्जिदो मंदो ।
अलसो भीरू माया-पवंच-बहुलो य णिद्दालू ।।२९८।।

परवंचणप्पसत्तो, लोहंधो धण्ण धण्ण-सुहाकंखी[4] ।
बहु-सण्णा णीलाए, जम्मदि तदियादि धूमंतं ।।२९९।।

---

१ द. ब. क. ज. ठ. प्रत्यो गाथेयं अग्रिम-गाथाया पश्चादुपलभ्यते । २. ब. परिचित्तो । ३. ज. ठ चरिमंतो । ४ द. ज. ठ. धण्णधण्णसुहाकंखी । क. धण-धण सुहाकखी ।

अर्थ—विषयों में आसक्त, मति-हीन, मानी, विवेक-बुद्धि से रहित, मूर्ख, आलसी, कायर, प्रचुर माया-प्रपंच में संलग्न, निद्राशील. दूसरों को ठगने मे तत्पर, लोभ से अन्धा, धन-धान्यजनित सुख का इच्छुक एव बहुसज्ञा (आहार-भय-मैथुन और परिग्रह संज्ञाओं में) आसक्त जीव नील लेश्या को धारण कर बालुकाप्रभा पृथ्वी से धूमप्रभा पृथिवी पर्यन्त जन्म लेता है ।।२९८-२९९।।

> अप्पाणं मण्णंता, अण्णं णिंदेदि अलिय-दोसेहिं ।
> भीरू सोक-विसण्णो, परावमाणी असूया अ[1] ।।३००।।
>
> अमुणिय-कज्जाकज्जो, थुव्वंतो [2]परम-पहरिसं वहइ ।
> अप्पं पि वि मण्णंतो, परं पि कस्स वि ण-पत्तिअई ।।३०१।।
>
> थुव्वंतो देइ धणं, मरिदुं वंछेदि[3] समर-संघट्टे ।
> काऊए संजुत्तो, जम्मदि घम्मादि-मेघंतं ।।३०२।।

।। आऊ-बंधण-परिणामा समत्ता ।।११।।

अर्थ—जो स्वयं की प्रशंसा और मिथ्या दोषो के द्वारा दूसरो की निन्दा करता है, भीरु है, शोक से खेद खिन्न होता है, पर का अपमान करता है. ईर्ष्याग्रस्त है, कार्य-अकार्य को नही समझता है, चंचलचित्त होते हुए भी अत्यन्त हर्ष का अनुभव करता है, अपने समान ही दूसरो को भी समझकर किसी का भी विश्वास नही करना है, स्तुति करने वालो को धन देता है और समर-सघर्ष मे मरने की इच्छा करता है, ऐसा प्राणी कापोत लेश्या से सयुक्त होकर घर्मा से मेघा पृथिवी पर्यन्त जन्म लेता है ।।३००-३०२।।

।। इस प्रकार आयु-बन्धक परिणामो का कथन समाप्त हुआ ।।११।।

रत्नप्रभादि नरको मे जन्म-भूमियो के आकारादि

> इंदय- [4]सेढीबद्ध-प्पइण्णयाणं हवंति उवरिम्मि ।
> दाहि बहु अस्सि-जुदो, अंतो वट्टा अहोमुहा-कंठा ।।३०३।।
>
> चेट्टंति जम्मभूमी, सा घम्मप्पहुदि-खेत्त-तिदयम्मि ।
> उट्टिय[5] -कोत्थलि-कुंभी-मोद्दलि-मोग्गर-मुइंग-णालि-णिहा ।।३०४।।

१. द. ब. क. ज. ठ. असूयाय । २ द. ब. ज. क. ठ. परमपहइ सव्वहइ । ३. द. वुं छेदि । [४. द.] ब. क. ठ. इंदियसेढी । ५. द. उव्विय, ब. क. ज. ठ. उत्तिय ।

अर्थ—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो के ऊपर अनेक प्रकार की तलवारों से युक्त, भीतर गोल और अधोमुखकण्ठ वाली जन्म-भूमियाँ हैं। वे जन्मभूमियाँ घर्मा पृथिवी से तीसरी मेघा पृथिवी पर्यन्त उष्ट्रिका, कोथली, कुम्भी, मुद्गलिका, मुद्गर, मृदग और नाली के सदृश है ।।३०३-३०४।।

गो-हत्थि-तुरय-भत्था, [1]अज्जप्पुड-अंबरीस-दोणीओ ।
चउ-पंचम-पुढवीसु, आयारो जम्म-भूमीणं ।।३०५।।

अर्थ - चौथी और पाँचवी पृथिवी मे जन्म-भूमियो के आकार गाय, हाथी, घोडा, भस्त्रा, अब्जपुट, अम्बरीष (भडभूजा के भाड) और द्रोणी (नाव) जैसे है ।।३०५।।

झल्लरि - [2]मल्लय - पत्थी - केयूर-मसूर-साणय-किलिंजा ।
धय - दीवि - [3]चक्कवायस्सिगाल - सरिसा महाभीमा ।।३०६।।

अज्ज-खर-करह-सरिसा[4], संदोल अ-रिक्ख-संणिहायारा ।
छस्सत्तम - पुढवीणं, [5]दुरिक्ख - णिज्जा महाघोरा ।।३०७।।

अर्थ—छठी और सातवी पृथिवी की जन्म-भूमियाँ झालर (वाद्य-विशेष), मल्लक (पात्र-विशेष), बाँस का बना हुआ पात्र, केयूर, मसूर, शाणक, किलिंज (तृण की बनी बडी टोकरी), ध्वज, द्वीपी, चक्रवाल, शृगाल, अज, खर, करभ, सदोलक (झूला) और रीछ के सदृश हैं। ये जन्म-भूमियाँ दुष्प्रेक्ष्य एव महाभयानक है ।।३०६-३०७।।

करवत्त-सरिच्छाओ, अंते वट्टा समंतदो[6] ठाओ ।
वज्जमईओ णारय-जम्मण-भूमीओ [7]भीमाओ ।।३०८।।

अर्थ —नारकियो की (उपर्युक्त) जन्म-भूमियाँ अन्त मे करोत के सदृश, चारो ओर से गोल, वज्रमय, कठोर और भयकर है ।।३०८।।

१. द. ब. क. ज. ठ. अतपुढ । २ ज ठ मल्लरि, मल्लय, क मल्लय पक्खी । ३ द. चक्क-वायसीगाल । ज. क. ठ. चक्कचायासीगाल । ब चक्कचावासीगाल । ४ क. ज. ठ. सरिछा सदोलभ्र । ५. द धुरिक्खणिज्जा ६. द समतदाऊ । ७ द. ब. क ज ठ भीमाए ।

नरकों मे दुर्गन्ध

अज-गज-महिस-तुरंगम-खरोट्ठ-मज्जार-मेस-पहुदीणं ।
[1]कुथिताण गंधादो, णिरए गंधा अणंतगुणा ॥३०६॥

अर्थ—बकरी, हाथी, भैस, घोडा, गधा, ऊँट, बिलाव और मेढे आदि के सड-गले शरीरों की दुर्गन्ध की अपेक्षा नरको मे अनन्तगुणी दुर्गन्ध है ॥३०६॥

जन्म-भूमियों का विस्तार

पण-कोस-वास-जुत्ता, होंति जहण्णम्हि जम्म-भूमीओ ।
जेट्ठे [2]चउस्सयाणि, दह-पण्णरसं च मज्झिमए ॥३१०॥

। ५ । ४०० । १०-१५ ।

अर्थ—नारकी जीवो की जन्म-भूमियो का विस्तार जघन्यत पाँच कोस, उत्कृष्टत चार सौ कोस और मध्यम रूप से दस-पन्द्रह कोस प्रमाण वाला है ॥३१०॥

विशेषार्थ—इन्द्रक, श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो के ऊपर जो जन्म-भूमियाँ है, उनका जघन्य विस्तार ५ कोस, मध्यम विस्तार १०-१५ कोस और उत्कृष्ट विस्तार ४०० कोस प्रमाण है।

जन्म-भूमियो की ऊँचाई एव आकार

जम्मण-खिदीण उदया, णिय-णिय-रुंदाणि पंच-गुणिदाणि ।
सत्त-ति-दुगेक्क-कोणा[3], पण-कोणा होंति एदाओ ॥३११॥

। २५ । २००० । ५०-७५ ॥ ७ । ३ । २ । १ । ५ ।

अर्थ—जन्म-भूमियां की ऊँचाई अपने-अपने विस्तार की अपेक्षा पाँच गुनी है। ये जन्म-भूमियाँ सात, तीन, दो, एक और पांच कोन वाली है ॥३११॥

विशेषार्थ—जन्म-भूमियो की जघन्य ऊँचाई (५ × ५) = २५ कोस या ६$\frac{१}{४}$ योजन, मध्यम ऊँचाई (१० × ५ = ५०), (१५ × ५) -७५ कोस अथवा १२$\frac{१}{२}$, १८$\frac{३}{४}$ योजन और उत्कृष्ट ऊँचाई

---

१ द कुथिताण। २ द. ज. क चउम्मयाणि। ठ. चउसयाणि। ३. द. ब. कोणे।

(४०० × ५)=२००० कोस अथवा ५०० योजन प्रमाण है। वे जन्म-भूमियाँ ७। ३। २। १ और ५ कोन वाली हैं।

जन्म-भूमियो के द्वार-कोण एव दरवाजे

एक्क दु ति पंच सत्त य, जम्मण-खेत्तेसु दार-कोणाणि ।
तेत्तियमेत्ता दारा, सेढीबद्धे पइण्णए एवं ॥३१२॥

॥ १ । २ । ३ । ५ । ७ ॥

अर्थ—जन्म-भूमियो मे एक, दो तीन, पाँच और सात द्वारकोण तथा इतने ही दरवाजे होते है, इस प्रकार की व्यवस्था केवल श्रेणीबद्ध और प्रकीर्णक बिलो मे ही है ॥३१२॥

ति-द्दार-ति-कोणाओ, इंदय-णिरयाण[1] जम्म-भूमीओ ।
णिच्चंधयार-बहुला, [2]कत्थुरीहिंतो अणत-गुणो ॥३१३॥

॥ जम्मण-भूमी गदा ॥१२॥

अर्थ—इन्द्रक बिलो की जन्म-भूमियाँ तीन द्वार और तीन कोनो से युक्त हैं। उक्त सम्पूर्ण जन्म-भूमियाँ नित्य ही कस्तूरी से भी अनन्तगुणित काले अन्धकार से व्याप्त हैं ॥३१३॥

॥ इसप्रकार जन्मभूमियो का वर्णन समाप्त हुआ ॥१२॥

नरको के दु.खो का वर्णन

पावेणं णिरय-बिले, जादूण तो[3] मुहुत्तमेत्तेण ।
छप्पज्जत्ति पाविय, आकस्सिय-भय-जुदो-होदि[4] ॥३१४॥

भीदोए कंपमाणो, चलिदुं दुक्खेण [5]पेल्लिओ संतो ।
छत्तीसाउह-मज्झे, पडिदूण तत्थ उप्पलइ ॥३१५॥

१. द. ब. क णिरयाणि, ज. ठ. णिरायाणि। २. क ज. ठ. कच्छुरी। ३. द. तामुहुत्तण मेत्ते, ब. क. ज. ठ. ता मुहुत्तण-मेत्ते। ४. ब होदि। ५. द. पविओ, ब. पच्छिओ, क. पच्छिउ, ज. पछिओ, ठ. पच्छिउं।

अर्थ—नारकी जीव पाप से नरकबिल मे उत्पन्न होकर और एक मुहूर्त मात्र काल मे छह पर्याप्तियों को प्राप्त कर आकस्मिक भय से युक्त होता है। भय से काँपता हुआ बड़े कष्ट से चलने के लिए प्रस्तुत होकर छत्तीस आयुधो के मध्य मे गिरकर वहाँ से उछलता है ॥३१४-३१५॥

उच्छेह-जोयणाणि, सत्त धणू छस्सहस्स-पंच-सया ।
उप्पलइ पढम-खेत्ते, दुगुण दुगुणं कमेण सेसेसु ॥३१६॥

॥ जो ७ । ध ६५०० ॥

अर्थ—पहली पृथिवी मे जीव सात उत्सेध योजन और छह हजार, पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊँचा उछलता है, शेष पृथिवियो मे उछलने का प्रमाण क्रमश उत्तरोत्तर दूना-दूना है ॥३१६॥

विशेषार्थ—घर्मा पृथ्वी के नारकी ७ उत्सेध योजन ३$\frac{1}{4}$ कोस, वंशा के १५ योजन २$\frac{1}{2}$ कोस, मेघा के ३१ योजन १ कोस, अञ्जना के ६२$\frac{1}{2}$ योजन, अरिष्टा के १२५ याजन, मघवी के २५० योजन और माघवी पृथ्वी के नारकी जीव ५०० योजन ऊँचे उछलते है। लीख, जूं एवं जव आदि की परिभाषा मे सिद्ध किया गया अगुल उत्सेधागुल कहलाता है। नारकियों के शरीर की ऊँचाई और उनके निवास (बिलो) स्थानों का माप इसी उत्सेधागुल से होता है, अत उछलने का माप भी उत्सेधागुल से दिया गया है।

दट्ठूण मय-सिलिबं, जह वग्घो तह पुराण-णेरइया ।
णव-णारयं णिसंसा, णिब्भच्छता पधावंति ॥३१७॥

अर्थ—जैसे व्याघ्र, मृगशावक को देखकर उस पर झपटता है, वैसे ही क्रूर पुराने नारकी नये नारकी को देखकर धमकाते हुए उसकी ओर दौड़ते है ॥३१७॥

साण-गणा एक्केक्के, दुक्खं [1]दावंति दारुण-पयारं ।
तह अण्णोण्णं णिच्च, दुस्सह - पीडाओ कुव्वंति ॥३१८॥

अर्थ जिस प्रकार कुत्तो के झुण्ड एक दूसरे को दारुण दुःख देते है उसी प्रकार वे नारकी भी नित्य ही परस्पर एक दूसरे को असह्य रूप से पीडित किया करते है ॥३१८॥

चक्क-सर-सूल-तोमर-मोग्गर-करवत्त- [2]कोंत-सूईणं ।
मुसलासि-प्पहुदीणं, वण-णग- [3]दावाणलादीण ॥३१९॥

---

१. द ब क ज. ठ धावति । २ द कुत । ३. द ब क. ज. ठ दावाणणादीण ।

वय-वग्घ-तरच्छ सिगाल-साण मज्जार - सीह- [1]पक्खीणं ।
[2]अण्णोण्णं च सया ते, णिय-णिय-देहं विगुव्वंति ।।३२०।।

अर्थ--वे नारकी जीव, चक्र, बाण, शूली, तोमर, मुद्गर, करोत, भाला, सुई, मूसल और तलवार आदिक शस्त्रास्त्र रूप वन एवं पर्वत की आग रूप तथा भेडिया, व्याघ्र, तरक्ष (श्वापद), शृगाल कुत्ता, बिलाव और सिंह आदि पशुओं एवं पक्षियों के समान परस्पर सदैव अपने-अपने शरीर की विक्रिया किया करते हैं ।।३१९-३२०।।

गहिर-बिल- धूम-मारुद-अइतत्त-कहल्लि-जंत-चुल्लीणं[3] ।
कडरिण-पीसरिण-दव्वीण, रूवमण्णे विकुव्वंति ।।३२१।।

अर्थ--अन्य नारकी जीव, गहरे बिल, धुँआ, वायु, अत्यन्त तपे हुए खप्पर, यंत्र, चूल्हे, कण्डनी (एक प्रकार का कूटने का उपकरण), चक्की और दर्वी (बर्छी) आकाररूप अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं ।।३२१।।

सूवर-वणग्गि-सोणिद-किमि-सरि-दह-कूव- [4]वाइ-पहुदीणं ।
पुह-पुह-रूव-विहीणा, णिय-णिय देहं पकुव्वंति ।।३२२।।

अर्थ--नारकी जीव शूकर, दावानल तथा शोणित और कीडों से युक्त नदी, तालाब, कूप एवं वापी आदि रूप पृथक्-पृथक् रूप से रहित अपने-अपने शरीर की विक्रिया करते हैं। तात्पर्य यह है कि नारकियों के अपृथक् विक्रिया होती है, देवों के सदृश उनके पृथक् विक्रिया नहीं होती ।।३२२।।

पेच्छिय पलायमाणं, णारइयं वग्घ-केसरि-प्पहुदी ।
वज्जमय-वियल-तोंडा, [5]कत्थ वि भक्खंति रोसेण ।।३२३।।

अर्थ-- वज्रमय विकट मुखवाले व्याघ्र और सिंहादिक, पीछे को भागने वाले दूसरे नारकी को कहीं पर भी क्रोध से खा डालते हैं ।।३२३।।

पीलिज्जंते[6] केई, जंत-सहस्सेहिं विरस-तिलवंता ।
अण्णे हम्मंति तहिं, अवरे छेज्जंति विविह-भंगेहिं ।।३२४।।

---

१. द ब क ज. ठ. पसूण । २ द अण्णाण । ३. ब. जतच्चूलीण । ४. द. कूवबाव । ५ द. तुंडो कत्थवि । क तोंडो कत्थवि, ज. ठ. तोडे कत्थवि । ६ द. ठ. पालिज्जते ।

अर्थ—चिल्लाते हुए कितने ही नारकी जीव हजारो यन्त्रो (कोल्हूओ) मे तिल की तरह पेल दिये जाते हैं। दूसरे नारकी जीव वही पर मारे जाते है और इतर नारकी विविध प्रकार से छेदे जाते है ॥३२४॥

अण्णोण्णं बज्झंते, वज्जोवम-संखलाहिं थंमेसु ।
पज्जलिदम्मि हुदासे, केई छुब्भंति दुप्पिच्छे ॥३२५॥

अर्थ—कई नारकी परस्पर वज्रतुल्य साँकलो द्वारा खम्भो मे बाँधे जाते हैं और कई अत्यन्त जाज्वल्यमान दुष्प्रेक्ष्य अग्नि मे फेके जाते हैं ॥३२५॥

फालिज्जंते केई, दारुण-करवत्त-कंटग्र-मुहेहिं ।
अण्णे भयंकरेहिं, विज्झंति विचित्त-भल्लेहिं ॥३२६॥

अर्थ—कई नारकी विदारक करोत (आरी) के काँटो के मुखो मे फाड़े जाते है और इतर नारकी भयकर और विचित्र भालो से बींधे जाते है ॥३२६॥

लोह-कडाहावट्ठिद-तेल्ले तत्तम्मि के वि छुब्भंति ।
[1]घेत्तूणं पच्चंते, जलत-जालुक्कडे जलणे ॥३२७॥

अर्थ—कितने ही नारकी जीव लोहे के कडाहो मे स्थित गरम—तेल मे फेके जाते है और कितने ही जलती हुई ज्वालाओ से उत्कट अग्नि मे पकाये जाते है ॥३२७॥

इंगालजाल-मुम्मुर-अग्गी-दज्झंत-मह-सरीरा ते ।
सीदल-जल-मण्णंता, धाविय पविसंति वइतरिणिं ॥३२८॥

अर्थ—कोयले और उपलो की आग मे जलते हुए स्थूल शरीर वाले वे नारकी जीव शीतल जल समझते हुए वैतरिणी नदी मे दौडकर प्रवेश करते है ॥३२८॥

कत्तरि-सलिलायारा, णारइया तत्थ ताण अंगाणि ।
छिंदंति [2]दुस्सहावो, पावंता विविह-पीडाओ ॥३२९॥

---

१. द पुरूण २. द दुस्सहावे ।

अर्थ—उस वैतरिणी नदी मे कर्तरी (कैंची) के समान तीक्ष्ण जल के आकार परिणत हुए दूसरे नारकी उन नारकियो के शरीरो को अनेक प्रकार की दुस्सह पीडाओ को पहुँचाते हुए छेदते हैं ॥३२६॥

जलयर-कच्छव-मंडुक-मयर-पहुदीण विविह[1] - रूवधरा ।
अण्णोण्णं [2]भक्खंते, वइतरिणि-जलम्मि[3] णारइया ॥३३०॥

अर्थ—वैतरिणी नदी के जल मे नारकी कछुआ, मेढक और मगर आदि जलचर जीवो के विविध रूप धारण-कर एक दूसरे का भक्षण करते है ॥३३०॥

वइतरणी-सलिलादो, णिस्सरिदा पव्वदं पलावंति ।
तस्सिहरमारुहंते, तत्तो लोट्टंति अण्णोण्णं ॥३३१॥

गिरि-कंदर विसंतो, खज्जंते वग्घ-सिंह, पहुदीहिं ।
वज्जुक्कड-दाडेहिं, दारुण-दुक्खाणि सहमाणा ॥३३२॥

अर्थ—(पश्चात्) वैतरणी के जल मे निकलते हुए (वे नारकी) पर्वत की ओर भागते हैं। वे उन पर्वतो के शिखरो पर चढते है तथा वहाँ से एक - दूसरे को गिराते है। (इस प्रकार) दारुण दुःखो को सहते हुए (वे नारकी) पर्वत की गुफाओ मे प्रवेश करते है। वहाँ वज्र सदृश प्रचण्ड दाढो वाले व्याघ्रो एव सिहो आदि के द्वारा खाये जाते हैं ॥३३१-३३२॥

विउल-सिला-विच्चाले, दट्ठूण बिलाणि [4]झत्ति पविसंति ।
तत्थ वि विसाल-जालो, उट्ठदि सहसा-महाअग्गी ॥३३३॥

अर्थ—पश्चात् वे नारकी विस्तीर्ण शिलाओ के बीच मे बिलो को देखकर शीघ्र ही उनमे प्रवेश करते है परन्तु वहाँ पर भी सहसा विशाल ज्वालाओ वाली महान् अग्नि उठती है ॥३३३॥

दारुण-हुदास-जाला-मालाहिं दज्झमाण-सव्वंगा ।
सीदल-छायं मण्णिय, असिपत्त-वणम्मि पविसंति ॥३३४॥

१ द. विविहस्सयरूवधरा। २. द. भक्खता। ३ द. ब. क. ज. ठ. जलचरमि। ४. द. झति, ब. क. ज. ठ जति।

अर्थ—पुन. जिनके सम्पूर्ण अग भीषण अग्नि की ज्वाला-समूहों से जल रहे हैं, ऐसे वे नारकी (वृक्षों की) शीतल छाया जानकर असिपत्रवन में प्रवेश करते हैं ।।३३४।।

तत्थ वि विविह-तरूणं, पवण-हदा तवग्र-पत्त-फल-पुंजा ।
णिवडंति ताण उवरिं, दुप्पिच्छा वज्जदंडे व ।।३३५।।

अर्थ—वहाँ पर भी विविध प्रकार के वृक्ष, गुच्छे, पत्र और फलो के समूह पवन से ताडित होकर उन नारकियों के ऊपर दुष्प्रेक्ष्य वज्रदण्ड के समान गिरते है ।।३३५।।

चक्क-सर-कणय-तोमर-मोग्गर-करवाल-कोंत-मुसलाणि ।
अण्णाणि वि ताण सिरं, असिपत्त-वणादु णिवडंति ।।३३६।।

अर्थ—उस असिपत्र-वन से चक्र, बाण, कनक (शलाकाकार ज्योतिःपिंड), तोमर (बाण-विशेष), मुद्गर, तलवार, भाला, मूसल तथा अन्य और भी अस्त्र-शस्त्र उन नारकियों के सिरो पर गिरते है ।।३३६।।

छिण्ण[1] - सिरा भिण्ण-करा, [2]तुडिदच्छा लंबमाण-अंतचया ।
रुहिरारुण-घोरतणू, णिस्सरणा तं वणं[3] पि मुंचंति ।।३३७।।

अर्थ - अनन्तर छिन्न सिर वाले, खण्डित हाथ वाले, व्यथित नेत्र-वाले, लटकती हुई आंतो के समूह वाले और खून से लाल तथा भयानक वे नारकी अशरण होते हुए उस वन को भी छोड देते है ।।३३७।।

गिद्धा गरुडा काया, विहगा अवरे वि वज्जमय-तुंडा ।
कादूण [4]खंड-खंडं, ताणंगं ताणि कवलंति ।।३३८।।

अर्थ -गृद्ध, गरुड, काक तथा और भी वज्रमय मुख (चोंच) वाले पक्षी नारकियों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके खा जाते है ।।३३८।।

१. ब. क. ज ठ. णिच्छिण्णमिरा । २. द. ब क. ज. ठ. बुदियच्छा । ३. द ब. क. ज ठ तव्वणम्मि । ४. द. खडु-दताणग, ब क ज ठ खडु-दना ताणग ।

अंगोवंगट्ठीणं, चुण्णं काढूण चंड - घावेंहि ।
विउण - वणाणं मज्झे, छुहंति बहुखार-दव्वाणि ॥३३९॥

जइ विलवयंति करुणं, [1]लग्गंते जइ वि चलण-जुगलम्मि ।
तह विह सण्णं खंडिय, छुहंति चुल्लीसु णारइया ॥३४०॥

अर्थ—अन्य नारकी उन नारकियों के अंगों और उपांगों की हड्डियों का प्रचंड घातों से चूर्ण करके विस्तृत घावों के मध्य मे क्षार-पदार्थों को डालते हैं, जिससे वे नारकी करुणापूर्ण विलाप करते हैं और चरणो में आ लगते हैं, तथापि अन्य नारकी उसी खिन्न अवस्था में उन्हें खण्ड-खण्ड करके चूल्हे मे डाल देते हैं ॥३३९-३४०॥

लोहमय-जुवइ-पडिमं, परदार-रदाण[2] गाढमंगेसु ।
लायंते अइ-तत्तं, खिवंति जलणे जलंतम्मि ॥३४१॥

अर्थ—पर-स्त्री में आसक्त रहने वाले जीवो के शरीरों मे अतिशय तपी हुई लोहमय युवती की मूर्ति को दृढता से लगाते है और उन्हे जलती हुई आग मे फेंक देते हैं ॥३४१॥

मसाहार-रदाणं, णारइया ताण अंग-मंसाइं ।
छेत्तूण तम्मुहेसुं, छुहंति रुहिरोल्लरूवाणि ॥३४२॥

अर्थ—जो जीव पूर्व भव मे मास-भक्षण के प्रेमी थे, उनके शरीर के मांस को काटकर अन्य नारकी रक्त से भीगे हुए उन्ही मास-खंडो को उन्ही के मुखो मे डालते है ॥३४२॥

[3]महु-मज्जाहाराणं, णारइया तम्मुहेसु अइ-तत्तं ।
लोह-दवं[4] घल्लंते, विलीयमाणंग - पब्भारं ॥३४३॥

अर्थ—मधु और मद्य का सेवन करने वाले प्राणियों के मुखों में नारकी अत्यन्त तपे हुए द्रवित लोहे को डालते हैं, जिससे उनके सतप्त अवयव-समूह भी पिघल जाते है ॥३४३॥

करवाल-पहर-भिण्णं, कूव-जलं जह पुणो वि संघडदि ।
तह णारयाण अंगं, छिज्जंत विविह-सत्थेहिं[5] ॥३४४॥

१. द अभगते, ब. क. ज. ठ अगने । २. द. परदार-रदाणि । ३. ज. ठ. मुहु । ४ ब. लोहदव्वं ।
५. द. विविह-संत्तेहि ।

अर्थ—जिस प्रकार तलवार के प्रहार से भिन्न हुआ कुए का जल फिर से मिल जाता है, उसी प्रकार अनेकानेक शस्त्रो से छेदा गया नारकियो का शरीर भी फिर से मिल जाता है । अर्थात् अनेकानेक शस्त्रों से छेदने पर भी नारकियो का अकाल-मरण कभी नही होता ॥३४४॥

कच्छुरि-करकच - [1]सूई-खदिरंगारादि-विविह-भंगीहिं ।
अण्णोण्ण[2] - जादणाओ, कुणंति णिरएसु णारइया ॥३४५॥

अर्थ—नरकों मे कच्छुरि (कपिकच्छु केवाँच अर्थात् खाज पैदा करने वाली औषधि), करोंत, सुई और खैर की आग इत्यादि विविध प्रकारों से नारकी परस्पर यातनाएँ दिया करते हैं ॥३४५॥

अइ-तित्त-कडुव-कत्थरि-सत्तीदो[3] मट्टियं अणंतगुणं ।
घम्माए णारइया, थोवं ति चिरेण भुंजंति ॥३४६॥

अर्थ—घर्मा पृथ्वी के नारकी अत्यन्त तिक्त और कडवी कत्थरि (कचरी या अचार ?) की शक्ति से भी अनन्तगुनी तिक्त और कडवी थोडी-थोडी मिट्टी चिरकाल खाते रहते है ॥३४६॥

अज-गज-महिस-तुरगम-खरोट्ठ-मज्जार - [4]मेस-पहुदीण ।
कुहिताणं गंधादो, अणंत - गुणिदो हुवेदि आहारो ॥३४७॥

अर्थ—नरकों मे बकरी, हाथी, भैंस, घोडा, गधा, ऊँट, बिल्ली और मेढ़े आदि के सड़े हुए शरीरों को गंध से अनन्तगुनी गन्धवाला आहार होता है ॥३४७॥

अदि-कुणिम-मसुह-मण्णं, रयणप्पह-पहुदि जाव चरिमखिदि ।
संखातीद - गुणेहिं, दुगुच्छणिज्जो हु आहारो ॥३४८॥

अर्थ—रत्नप्रभा से लेकर अन्तिम पृथिवी पर्यन्त अत्यन्त सड़ा, अशुभ और उत्तरोत्तर असंख्यात गुणा ग्लानिकर अन्य प्रकार का ही आहार होता है ॥३४८॥

---

१. द. ब. क. ज. ठ. सूओए । २. द. ब. अण्णेण । ३. द. सत्तीदोमथिम, ब. क. ज. ठ. सतीदोबमंभिय
४. द. ब. क. तुरग । ५ ज. ठ. उपद्दुदाण ।

प्रत्येक पृथिवी के आहार की गंध-शक्ति का प्रमाण

घम्माए आहारो, कोसस्सब्भंतरम्मि ठिद-जीवे ।
इह ¹मारइ गंधेणं, सेसे कोसद्ध-वड्ढिया सत्ती ॥३४९॥

॥ १ । $1\frac{1}{2}$ । २ । $2\frac{1}{2}$ । ३ । $3\frac{1}{2}$ । ४ ॥

अर्थ--घर्मा पृथिवी में जो आहार है, उसकी गंध से यहाँ पर (मध्यलोक में) एक कोस के भीतर स्थित जीव मर सकते हैं, इसके आगे शेष दूसरी आदि पृथिवियों में इसकी घातक शक्ति आधा-आधा कोस और भी बढ़ती गयी है ॥३४९॥

विशेषार्थ--प्रथम नरक के नारकी जिस मिट्टी का आहार करते हैं, वह मिट्टी अपनी दुर्गन्ध से मनुष्यक्षेत्र के एक कोस में स्थित जीवों को, द्वितीय नरक की मिट्टी $1\frac{1}{2}$ कोस में, तृतीय की २ कोस में, चतुर्थ की $2\frac{1}{2}$ कोस में, पंचम की ३ कोस में, षष्ठ की $3\frac{1}{2}$ कोस में और सप्तम नरक की मिट्टी ४ कोस में स्थित जीवों को मार सकती है ।

असुरकुमार-देवों में उत्पन्न होने के कारण

पुव्वं बद्ध - सुराऊ, अणंतअणुबंधि-अण्णदर-उदया ।
णासिय-ति-रयण-भावा-णर-तिरिया केइ असुर-सुरा ॥३५०॥

अर्थ—पूर्व में देवायु का बंध करने वाले कोई-कोई, मनुष्य और तिर्यंच अनन्तानुबन्धी में से किसी एक का उदय आजाने से रत्नत्रय के भाव को नष्ट करके असुर-कुमार जाति के देव होते हैं ॥३५०॥

असुरकुमार-देवों की जातियाँ एवं उनके कार्य

सिकदाणणासिपत्ता[2], महबल-काला य साम-सबला[3] हि ।
रुद्दंबरिसा विलसिद - णामो महरुद्द - खर - णामा ॥३५१॥

---

१. द ब मारदि ।

२ अंबे अंबरिसी चेव, सामे य सबलेत्ति य ।
रोद्दोवरुद्द काले य महाकालेत्ति आवरे ॥६८॥
असिपत्ते धणु कुंभे वालुवेयरणीवि य ।
खरस्सरे महाघोसे एव पण्णरसाहिया ॥६९॥ सूत्रकृतांग-निर्युक्ति, प्रवचनसारोद्धार — पृ० ३२१

कालग्गिरुद्द-णामा, कुंभो[1] वेतरणि-पहुदि-असुर-सुरा ।
गंतूण वालुकंतं, णारइयाण[2] पकोपंति ।।३५२।।

अर्थ – सिकतानन, असिपत्र, महाबल, महाकाल श्याम, सबल, रुद्र, अम्बरीष, विलसित, महारुद्र, महाखर, काल अग्निरुद्र, कुम्भ और वैतरणी आदिक असुरकुमार जाति के देव तीसरी बालुकाप्रभा पृथिवी तक जाकर नारकी जीवों को कुपित करते हैं ।।३५१-३५२।।

इह खेत्ते जह मणुवा, पेच्छंते मेस-महिस-जुद्धादिं ।
तह णिरये असुर-सुरा, णारय-कलहं पतुट्ठ-मणा ।।३५३।।

अर्थ—इस क्षेत्र (मध्यलोक) मे जैसे मनुष्य, मैढे और भैंसे आदि के युद्ध को देखते हैं, उसी प्रकार नरक मे असुरकुमार जाति के देव नारकियो के युद्ध को देखते है और मन मे सन्तुष्ट होते है ।।३५३।।

नरकों मे दुःख भोगने की अवधि

एक्क ति सग दस सत्तरस, [3]तह बावीसं होंति तेत्तीसं ।
जा [4]सायर-उवमाणा, पावंते ताव मह-दुक्खं ।।३५४।।

अर्थ—रत्नप्रभादि पृथिवियों मे नारकी जीव जब तक क्रमशः एक, तीन, सात, दस, सत्तरह, बाईस और तैंतीस सागरोपम पूर्ण होते है, तब तक बहुत भारी दुःख उठाते हैं ।।३५४।।

णिरएसु णत्थि सोक्खं, [5]णिमेस-मेत्तं पि णारयाण सदा ।
दुक्खाइं दारुणाइं, वड्ढंते पच्चमाणाणं ।।३५५।।

अर्थ—नरको के दुःखों मे पचने वाले नारकियों को क्षणमात्र के लिए भी सुख नहीं है, अपितु उनके दारुण-दुःख बढते ही रहते है ।।३५५।।

कदलीघादेण विणा, णारय-गत्ताणि आउ-अवसाणे ।
मारुद-पहदब्भाइं व, णिस्सेसाणि विलीयंते ।।३५६।।

१. द ब क ज ठ कुंभी । २ द णारयप्पकोपंति । ३. द. तसय । ४. द. जह अरउवभा, क ज ठ जह अरउवमा । ५. द ब क. ज ठ अणमिममेत्त पि ।

अर्थ - नारकियों के शरीर कदलीघात (अकालमरण) के बिना पूर्ण आयु के अन्त में वायु में ताडित मेघों के सदृश सम्पूर्ण विलीन हो जाते हैं ॥३५६॥

एवं बहुविह-दुक्खं, जीवा पावंति पुव्व-कद दोसा ।
तद्दुक्खस्स सरूवं, को सक्कइ वण्णिदुं सयलं ॥३५७॥

अर्थ - इस प्रकार पूर्व में किये गये दोषों से जीव (नरकों में) नाना प्रकार के दुःख प्राप्त करते हैं, उस दुःख के सम्पूर्ण स्वरूप का वर्णन करने में कौन समर्थ है? ॥३५७॥

नरकों में उत्पन्न होने के अन्य भी कारण

सम्मत्त-रयण-पव्वद-सिहरादो मिच्छभाव-खिदि-पडिदो ।
णिरयादिसु अइ-दुक्ख, पाविय[1] पविसइ णिगोदम्मि ॥३५८॥

अर्थ—सम्यक्त्व रूपी रत्नपर्वत के शिखर से मिथ्यात्व-भावरूपी पृथिवी पर पतित हुआ प्राणी नारकादि पर्यायों में अत्यन्त दुःख-प्राप्त कर (परम्परा से) निगोद में प्रवेश करता है ॥३५८॥

सम्मत्तं देसजमं, लहिदूणं[2] विसय-हेदुणा चलिदो ।
णिरयादिसु अइ-दुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि ॥३५९॥

अर्थ—सम्यक्त्व और देशचारित्र को प्राप्त कर जीव विषयसुख के निमित्त (सम्यक्त्व और चारित्र से) चलायमान हुआ नरकों में अत्यन्त दुःख भोगकर (परम्परा से) निगोद में प्रविष्ट होता है ॥३५९॥

सम्मत्त सयलजमं, लहिदूणं विसय-कारणा चलिदो ।
णिरयादिसु[3] अइ-दुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि ॥३६०॥

अर्थ - सम्यक्त्व और सकल संयम को भी प्राप्तकर विषयों के कारण उनसे चलायमान होता हुआ यह जीव नरकों में अत्यन्त दुःख पाकर (परम्परा से) निगोद में प्रवेश करता है ॥३६०॥

---

१. द पावी पइस णिगोदम्मि । २. द क. ज. ठ. लद्धूण । ३. द ज. ठ णिरयादी ।

सम्मत्त-रहिय-चित्तो, जोइस-मंतादिएहिं वट्टंतो ।
णिरयादिसु बहुदुक्खं, पाविय पविसइ णिगोदम्मि ।।३६१।।

।। दुक्ख-सरूव समत्तं ।।१३।।

अर्थ— सम्यग्दर्शन से विमुख चित्तवाला, ज्योतिष और मन्त्रादिकों से आजीविका करता हुआ जीव, नरकादिक में बहुत दु.ख पाकर (परम्परा से) निगोद मे प्रवेश करता है ।।३६१।।

।। दु:ख के स्वरूप का वर्णन समाप्त हुआ ।।१३।।

नरकों मे सम्यक्त्व-ग्रहण के कारण

घम्मादी-खिदि-तिदये, णारइया मिच्छ-भाव-संजुत्ता ।
जाइ-भरणेण केई, केई दुव्वार-वेदणाभिहदा ।।३६२।।

केई देवाहिंतो, धम्म - णिबद्धा कहा व सोदूणं ।
गेण्हंते सम्मत्तं, अणंत - भव - चूरण - णिमित्तं ।।३६३।।

अर्थ—घर्मा आदि तीन पृथिवियो मे मिथ्यात्वभाव से सयुक्त नारकियो मे मे कोई जाति-स्मरण से, कोई दुर्वार वेदना से और कोई धर्म से सम्बन्ध रखने वाली कथाओ को देवो से सुनकर अनन्त भवो को चूर्ण करने मे निमित्तभूत सम्यग्दर्शन को ग्रहण करते है ।।३६२-३६३।।

पकपहा[1] -पहुदीण, णारइया तिदस-बोहणेण बिणा ।
सुमरिदजाई दुक्खप्पहदा गेण्हंति[2] सम्मत्तं ।।३६४।।

।। दसण-गहण[3] समत्त ।।१४।।

अर्थ— पकप्रभादिक शेष चार पृथिवियो के नारकी जीव देवकृत प्रबोध के बिना जाति-स्मरण और वेदना के अनुभव से सम्यग्दशन ग्रहण करते है ।।३६४।।

।। सम्यग्दर्शन के ग्रहण का कथन समाप्त हुआ ।।१४।।

---

१ क मही २ द गेण्णनि, ३ क. ब. मग्गद । द. ज. ठ मग्गण ।

नारकी-जीवों की योनियों का कथन

जोणीओ णारइयाणं, उवदे सीद-उण्ह अच्चित्ता ।
संघडया सामण्णे, चउ-लक्खे होंति हु विसेसे ।।३६५।।

।। जोणी समत्ता ।।१५।।

अर्थ– सामान्य रूप से नारकियों की योनियों की सरचना शीत, उष्ण और अचित्त कही गयी है। विशेष रूप से उनकी सख्या चार लाख प्रमाण है ।।३६५।।

।। इस प्रकार योनि का वर्णन समाप्त हुआ ।।१५।।

नरकगति में उत्पत्ति के कारण

मज्जं पिबंता, पिसिदं लसंता,
जीवे हणंता, मिगयाणुरत्ता ।
णिमेस-मेत्तेण[1], सुहेण[2] पावं,
पावंति दुक्खं, णिरए अणंतं ।।३६६।।

अर्थ– मद्य पीते हुए, मास की अभिलाषा करते हुए, जीवों का घात करते हुए और मृगया (शिकार) में अनुरक्त होते हुए जो मनुष्य क्षणमात्र के सुख के लिए पाप उत्पन्न करते हैं, वे नरक में अनन्त दुःख उठाते हैं ।।३६६।।

लोह-कोह-भय-मोह-बलेणं, जे वदंति वयणं पि असच्चं ।
ते णिरंतर-भये[3] उरु-दुक्खे, दारुणम्मि णिरयम्मि पडंते ।।३६७।।

अर्थ– जो जीव लोभ, क्रोध, भय अथवा मोह के बल से असत्य वचन बोलते हैं, वे निरन्तर भय उत्पन्न करने वाले, महान् कष्टकारक और अत्यन्त भयानक नरक में पडते हैं ।।३६७।।

छेत्तूण भित्तिं, वधिदूण [4]पीयं,
पट्टादि घेत्तूण, धणं हरंता ।
अण्णेहि अण्णाअसएहि[5] मूढा,
भुंजंति दुक्खं, णिरयम्मि घोरे ।।३६८।।

---

१ ब क ज ठ. मोहेण । २. द. सुह ण पावति । ३. भय । ४. द. क. ज. ठ. पिय, ब. पियं
५ द. ब क. ज. ठ. असहेइ ।

अर्थ—भीत को छेदकर अर्थात् सेंध लगाकर, प्रियजन को मारकर और पट्टादिक को ग्रहण करके, धन का हरण करने वाले तथा अन्य भी ऐसे ही सैकड़ों अन्यायो से, मूर्ख लोग भयानक नरक मे दुःख भोगते हैं ॥३६८॥

लज्जाए चत्ता मयणेण मत्ता, तारुण्ण-रत्ता परदार-सत्ता ।
रत्ती-दिणं मेहुण-माचरंता, पावंति दुक्खं णिरएसु घोरं ॥३६९॥

अर्थ—लज्जा से रहित, काम से उन्मत्त, जवानी में मस्त, परस्त्री मे आसक्त और रात-दिन मैथुन का सेवन करने वाले प्राणी नरकों में जाकर घोर दुःख प्राप्त करते हैं ॥३६९॥

पुत्ते कलत्ते सुजणम्मि मित्ते, जे जीवणत्थं पर-वंचणेणं ।
वड्ढंति तिण्णा दविणं हरंते, ते तिव्व-दुक्खे णिरयम्मि जंति ॥३७०॥

अर्थ--पुत्र, स्त्री, स्वजन और मित्र के जीवनार्थ जो लोग दूसरो को ठगते हुए अपनी तृष्णा बढाते हैं तथा पर के धन का हरण करते हैं, वे तीव्र दुःख को उत्पन्न करने वाले नरक में जाते हैं ॥३७०॥

अधिकारान्त मङ्गलाचरण

संसारण्णवमहणं, तिहुवण-भव्वाण [1]पेम्म-सुह-जणणं ।
संदरिसिय-सयलट्ठं, संभवदेवं णमामि तिविहेण ॥३७१॥

एवमाइरिय-परंपरा-गय-तिलोयपण्णत्तीए णारय-लोय-सरूव-णिरूवण-पण्णत्ती णाम-

॥ बिदुओ महाहियारो समत्तो ॥२॥

अर्थ—संसार-समुद्र का मथन करने वाले (वीतराग), तीनों लोको के भव्य-जनों को धर्म-प्रेम और सुख के दायक (हितोपदेशक) तथा सम्पूर्ण पदार्थों के यथार्थ स्वरूप का दिखलाने वाले (सर्वज्ञ), सम्भवनाथ भगवान को मैं (यतिवृषभ) मन, वचन और काय से नमस्कार करता हूँ ॥३७१॥

॥ इस प्रकार आचार्य-परम्परागत त्रिलोक-प्रज्ञप्ति में "नारक-लोक-स्वरूप-निरूपण-प्रज्ञप्ति" नामक **द्वितीय महाधिकार** समाप्त हुआ ॥२॥

---

१. द. पेमसुह ।

तदिओ महाहियारो

मङ्गलाचरण

भव्व-जण- मोक्ख-जणणं, मुणिंद-देविंद-पणद-पय-कमलं ।
णमिय अहिणंदणेसं, भावण-लोयं परूवेमो ॥१॥

अर्थ भव्य जीवों को मोक्ष प्रदान करने वाले तथा मुनीन्द्र (गणधर) एवं देवेन्द्रों के द्वारा वन्दनीय चरण-कमल वाले अभिनन्दन स्वामी को नमस्कार करके भावन-लोक का निरूपण करता हूँ ॥१॥

भावनलोक-निरूपण मे चौबीस अधिकारो का निर्देश

भावण-णिवास-खेत्तं, भवण-सुराणं[1] वियप्प - चिण्हाणि ।
भवणाणं परिसंखा, इंदाण पमाण - णामाइं ॥२॥

दक्खिण - उत्तर-इंदा, पत्तेक्कं ताण भवण-परिमाणं ।
अप्प-महद्धिय-मज्झिम-भावण-देवाण [2]भवणवासं च ॥३॥

भवणं वेदी कूडा, जिणघर - पासाद-इंद-भूदीओ ।
भवणामराण संखा, आउ - पमाणं जहा - जोग्गं ॥४॥

उस्सेहोहि-पमाणं, गुणठाणादीणि एक्क - समयम्मि ।
उपज्जण - मरणाण य, परिमाणं तह य आगमणं ॥५॥

भावणलोयस्साऊ-बंधण-पाओग्ग भाव - भेदा य ।
सम्मत्त - गहण - हेऊ, अहियारा एत्थ चउवीसं ॥६॥

१. द. ब क. पुराण । २. द । भवण वास ।

अर्थ— भवनवासियो के १ निवासक्षेत्र, २ भवनवासी देवो के भेद, ३ चिह्न, ४ भवनों की सख्या, ५ इन्द्रोका प्रमाण, ६ इन्द्रों के नाम, ७ दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्र, ८ उनमे से प्रत्येक के भवनों का परिमाण, ६ अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यर्द्धिक भवनवासी देवो के भवनो का व्यास (विस्तार), १० भवन, ११ वेदी, १२ कूट, १३ जिनमन्दिर, १४ प्रासाद, १५ इन्द्रों की विभूति, १६ भवनवासी देवो की सख्या, १७ यथायोग्य आयु का प्रमाण, १८ शरीर की ऊँचाई का प्रमाण, १६ अवधिज्ञान के क्षेत्र का प्रमाण, २० गुणस्थानादिक, २१ एक समय मे उत्पन्न होने वालो और मरने वालो का प्रमाण तथा २२ आगमन, २३ भवनवासी देवो की आयु के बन्धयोग्य भावो के भेद और २४ सम्यक्त्व ग्रहण के कारण, (इस तीसरे महाधिकार मे) ये चौबीस अधिकार है ॥२-६॥

भवनवासी-देवो का निवास-क्षेत्र

रयणप्पह-पुढवीए, खरभाए पंकबहुल-भागम्मि ।
भवणसुराण भवणाइं, होंति वर-रयण-सोहाणि ॥७॥

सोलस-सहस्स-मेत्तो[1] ,खरभागो पंकबहुल-भागो वि ।
चउसीदि-सहस्साणिं, जोयण-लक्खं दुवे मिलिदा ॥८॥

१६००० । ८४००० । मिलिता १ ला

॥ भावरण-देवाण णिवास-खेत्त गद ॥१॥

अर्थ—रत्नप्रभा पृथिवी के खरभाग एव पकबहुल भाग मे उत्कृष्ट रत्नो से शोभायमान भवनवासी देवों के भवन है । खर-भाग सोलह हजार (१६०००) योजन और पकबहुल-भाग चौरासी हजार (८४०००) योजन प्रमाण मोटा है तथा इन दोनो भागो की मोटाई मिलाकर एक लाख योजन प्रमाण है ॥७-८॥

॥ भवनवासी देवो के निवासक्षेत्र का कथन समाप्त हुआ ॥१॥

भवनवासी-देवो के भेद

असुरा णाग-सुवण्णा,दीओवहि-थणिद-विज्जु-दिस-अग्गी ।
वाउकुमारा परया, दस-भेदा होंति भवणसुरा ॥६॥

॥ वियप्पा समत्ता ॥२॥

१ द. ज. ठ मेत्ता ।

अर्थ—असुरकुमार, नागकुमार, सुपर्णकुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, स्तनितकुमार, विद्युत्कुमार, दिक्कुमार, अग्निकुमार और वायुकुमार इस प्रकार भवनवासी देव दस प्रकार के है ॥९॥

॥ विकल्पो का वर्णन समाप्त हुआ ॥२॥

भवनवासियों के चिह्न

चूडामणि-अहि-गरुडा, करि-मयरा वड्ढमाण-वज्ज-हरी ।
कलसो तुरवो मउडे, कमसो चिण्हाणि एदाणि ॥१०॥

॥ चिण्हा समत्ता ॥३॥

अर्थ—इन देवो के मुकुटों मे क्रमश: चूडामणि, सर्प, गरुड, हाथी, मगर, वर्धमान (स्वस्तिक) वज्र, सिंह, कलश और तुरग ये चिह्न होते है ॥१०॥

॥ चिह्नो का वर्णन समाप्त हुआ ॥३॥

भवनवासी देवो की भवन-संख्या

चउसट्ठी चउसीदी, बाहत्तरि होंति छस्सु ठाणेसु ।
छाहत्तरि छण्णउदी, [1]लक्खाणि भवणवासि-भवणाणि ॥११॥

६४ ल । ८४ ल । ७२ ल । ७६ ल । ७६ ल । ७६ ल । ७६ ल । ७६ ल ।
७६ ल । ९६ ल ।

एदाणं[2] भवणाणं, एक्कस्सि मेलिदाण-परिमाणं ।
बाहत्तरि लक्खाणि, कोडीओ सत्त-मेत्ताओ ॥१२॥

७७२००००००

॥ भवण-संखा गदा ॥४॥

---

१. द. ब क ज. ठ. एक्काणि । २. द. ज. एदाण भवणाणेक्कस्सि । ठ एदाणि भवणाणेक्कस्सि ।

अर्थ—भवनवासी देवों के भवनों की संख्या क्रमशः ६४ लाख, ८४ लाख, ७२ लाख, छह स्थानो में ७६ लाख और ९६ लाख है, इन सबके प्रमाण को एकत्र मिला देने पर सात करोड़, बहत्तर लाख होते हैं ।।११-१२।।

विशेषार्थ—असुरकुमार देवो के ६४,००००००, नागकुमार के ८४,०००००, सुपर्णकुमार के ७२,०००००, द्वीपकुमार के ७६,०००००, उदधिकुमार के ७६,०००००, स्तनितकुमार के ७६,००-००० विद्युत्कुमार के ७६,०००००, दिक्कुमार के ७६,०००००, अग्निकुमार के ७६,००००० और वायुकुमार देवों के ९६,००००० भवन हैं। इन दस कुलों के सर्व भवनो का सम्मिलित योग [६४ ला० + ८४ ला० + ७२ ला० + (७६ ला० × ६) + ९६ लाख =] ७,७२,००००० अर्थात् सात करोड बहत्तर लाख है।

।। भवनों की संख्या का कथन समाप्त हुआ ।।४।।

भवनवासी-देवो मे इन्द्र सख्या

दस [1] कुलेसुं पुह-पुह, दो दो [1] इंदा हवंति णियमेण ।
एक्कस्सि [2] मिलिदा, वीस विराजंति भूदीहिं [3] ।।१३।।

।। इद-पमाण समत्तं ।।५।।

अर्थ—भवनवासियो के दसो कुलो मे नियम से पृथक्-पृथक् दो-दो इन्द्र होते है, वे सब मिल-कर बीस है, जो अनेक विभूतियो से शोभायमान है ।।१३।।

।। इन्द्रो का प्रमाण समाप्त हुआ ।।५।।

भवनवासी-इन्द्रो के नाम

पढमो हु चमर-णामो, इंदो वइरोयणो त्ति बिदिओ य ।
भूदाणंदो धरणाणंदो [4] वेणू य वेणधारी य ।।१४।।

पुण्ण-वसिट्ठ-जलप्पह-जलकंता तह य घोस-महघोसा ।
हरिसेणो हरिकंतो, अमिदगदी अमिदवाहणग्गिसिही ।।१५।।

. ब क दो हो । २. द. ब. क. ज ठ. मेलिदा । ३. द. भूदीही । ४. द. वेणु व ।

अग्गीवाहण-णामो, वेलंब-पभंजणाभिहाणा य ।
एदे असुरप्पहुदिसु, कुलेसु दो-द्दो कमेण देविंदा ।।१६।।

।। इंदाण-णामाणि समत्ताणि ।।६।।

अर्थ—प्रथम चमर और द्वितीय वैरोचन नामक इन्द्र, भूतानन्द और धरणानन्द, वेणु-वेणुधारी, पूर्ण-वशिष्ठ, जलप्रभ-जलकान्त, घोष-महाघोष, हरिषेण-हरिकान्त, अमितगति-अमितवाहन, अग्निशिखी-अग्निवाहन तथा वेलम्ब और प्रभजन नामक ये दो-दो इन्द्र क्रमशः असुरकुमारादि निकायो मे होते है ।।१४-१६।।

।। इन्द्रो के नामो का कथन समाप्त हुआ ।।६।।

दक्षिणेन्द्रों और उत्तरेन्द्रो का विभाग

दक्खिण-इंदा चमरो, भूदाणंदो य वेणु-पुण्णा य ।
जलपह-घोसा हरिसेणामिदगदी अग्गिसिहि-वेलंबा ।।१७।।

[1]वइरोअणो य धरणाणंदो तह [2]वेणुधारी-वसिट्ठा ।
जलकंत-महाघोसा, हरिकंतो अमिद-अग्गिवाहणया ।।१८।।

तह य पहंजण-णामो, उत्तर-इंदा हवंति दह एदे ।
अणिमादि-गुणेहि[3] जुदा, मणि-कुंडल-मंडिय-कवोला ।।१९।।

।। दक्खि-उत्तर-इंदा गदा ।।७।।

अर्थ—चमर, भूतानन्द, वेणु, पूर्ण, जलप्रभ, घोष, हरिषेण, अमितगति, अग्निशिखी और वेलम्ब ये दस दक्षिण इन्द्र तथा वैरोचन, धरणानन्द, वेणुधारी, वशिष्ठ, जलकान्त, महाघोष, हरिकान्त, अमितवाहन, अग्निवाहन और प्रभजन नामक ये दस उत्तर इन्द्र है । ये सभी इन्द्र अणिमादिक ऋद्धियो से युक्त और मणिमय कुण्डलो से अलंकृत कपोलो को धारण करने वाले हैं ।।१७-१९।।

।। दक्षिण-उत्तर इन्द्रा का वर्णन समाप्त हुआ ।।७।।

१ ब. वइरो अण्णो । २ द ब. क. ज. ठ. वेणुदारश्र । ३ द. अणिमादिगुणे जुदा, ब. क. ज. ठ. अणिमादिगुणे जुत्ता ।

भवन संख्या

चउतीसं[1] चउदालं, अट्ठत्तीसं हवंति लक्खाणि ।
चालीसं छट्ठाणे, तत्तो पण्णास - लक्खाणि ।।२०।।

तीसं चालं चउतीस, छस्सु[2] ठाणेसु होंति छत्तीसं ।
छत्तालं चरिमम्मि य, इंदाणं भवण-लक्खाणि ।।२१।।

३४ ल । ४४ ल । ३८ ल । ४० ल । ४० ल । ४० ल । ४० ल । ४० ल ।

४० ल । ५० ल । ३० ल । ४० ल । ३४ ल । ३६ ल । ३६ ल । ३६ ल ।

३६ ल । ३६ ल । ३६ ल । ४६ ल ।

अर्थ—चौंतीस ला०, चवालीस ला०, अड़तीस ला०. छह स्थानों मे चालीस लाख, इसके आगे पचास लाख, तीस ला०, चालीस ला०, चौंतीस लाख, छह स्थानो मे छत्तीस लाख और अन्त मे छयालीस लाख क्रमशः दक्षिणेन्द्र और उत्तरेन्द्रो के भवनो की संख्या का प्रमाण है ।।२०-२१।।

[तालिका सामने के पृष्ठ पर देखिये]

१. द. क. ज. ठ. चोत्तीसं । २. द. ब. क. ज. ठ. छसु वि ठाण ।

भवनवासी देवों के कुल, चिह्न, भवन सं०, इन्द्र एवं उनकी भवन सं० का विवरण

क्र स	कुल नाम	मुकुट चिह्न	भवन-सख्या	इन्द्र	दक्षिणेन्द्र उत्तरेन्द्र	भवन-सं०
१	असुरकुमार	चूडामणि	६४ लाख	१ चमर	दक्षिणेन्द्र	३४ लाख
				२ वैरोचन	उत्तरेन्द्र	३० ,,
२	नागकुमार	सर्प	८४ ,,	१. भूतानन्द	द०	४४ ,,
				२ धरणानन्द	उ०	४० ,,
३	सुपर्णकुमार	गरुड	७२ ,,	१ वेणु	द०	३८ ,,
				२ वेणुधारी	उ०	३४ ,,
४	द्वीपकुमार	हाथी	७६ ,,	१ पूर्ण	द०	४० ,,
				२ वशिष्ठ	उ०	३६ ,,
५	उदधिकुमार	मगर	७६ ,,	१ जलप्रभ	द०	४० ,,
				२ जलकान्त	उ०	३६ ,,
६	स्तनितकुमार	वर्धमान	७६ ,,	१ घोष	द०	४० ,,
				२ महाघोष	उ०	३६ ,,
७	विद्युत्कुमार	वज्र	७६ ,,	१ हरिषेण	द०	४० ,,
				२ हरिकान्त	उ०	३६ ,,
८	दिक्कुमार	सिंह	७६ ,,	१. अमितगति	द०	४० ,,
				२ अमितवाहन	उ०	३६ ,,
९	अग्निकुमार	कलश	७६ ,,	१ अग्निशिखी	द०	४० ,,
				२ अग्निवाहन	उ०	३६ ,,
१०	वायुकुमार	तुरग	९६ ,,	१ वेलम्ब	द०	५० ,,
				२ प्रभंजन	उ०	४६ ,,

निवासस्थानों के भेद एव स्वरूप

भवणा भवण-पुराणि, आवासा अ सुराण होदि तिविहा णं।
रयणप्पहाए भवणा, दीव-समुद्दाण उवरि भवणपुरा ॥२२॥

दह-सेल-दुमादीणं, रम्माणं उवरि होंति आवासा।
णागादीणं केसिं, तिय - णिलया भवणमेक्कमसुराणं ॥२३॥

॥ [1]भवण-वण्णणा समत्ता ॥८॥

अर्थ—भवनवासी देवो के निवास-स्थान भवन, भवनपुर और आवास के भेद से तीन प्रकार के होते है। इनमे से रत्नप्रभा पृथिवी मे भवन, द्वीप-समुद्रो के ऊपर भवनपुर एव रमणीय तालाब, पर्वत तथा वृक्षादिक के ऊपर आवास है। नागकुमारादिको मे मे किन्ही के भवन, भवनपुर एव आवासरूप तीनो निवास है परन्तु असुरकुमारो के केवल एक भवनरूप ही निवास-स्थान होते है ॥२२-२३॥

॥ भवनो का वर्णन समाप्त हुआ ॥८॥

अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक और मध्यम ऋद्धिधारक देवो के भवनो के स्थान

अप्प-महद्धिय-मज्झिम-भावण-देवाण होंति भवणाणि।
दुग-बादाल-सहस्सा, लक्खमधोधो खिदीए गंतूण ॥२४॥

२००० । ४२००० । १००००० ।

॥ अप्पमहद्धिय-मज्झिम भावण-देवाण णिवास-खेत्तं समत्त ॥९॥

अर्थ—अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक एवं मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासी देवो के भवन क्रमशः चित्रा पृथिवी के नीचे-नीचे दो हजार, बयालीस हजार और एक लाख योजन-पर्यन्त जाकर है ॥२४॥

विशेषार्थ—चित्रा पृथिवी से २००० योजन नीचे जाकर अल्पऋद्धि धारक देवो के ४२००० योजन नीचे जाकर महाऋद्धि धारक देवो के और १,००००० योजन नीचे जाकर मध्यम ऋद्धिधारक भवनवासी देवो के भवन है।

॥ इस प्रकार अल्पर्द्धिक, महर्द्धिक एव मध्यम ऋद्धि के धारक भवनवासी देवो का निवासक्षेत्र समाप्त हुआ ॥९॥

---

१ द. मुबगा।

भवनों का विस्तार ग्रादि एव उनमे निवास करने वाले देवो का प्रमाण—

समचउरस्सा भवणा, वज्जमया-दार-वज्जिया सव्वे ।
बहलत्ते ति-सयाणि, संखासखेज्ज-जोयणा वासे ।।२५।।

सखेज्ज-रुंद-भवणेसु, भवण-देवा वसंति संखेज्जा ।
संखातीदा वासे, ग्रच्छंती सुरा ग्रसंखेज्जा ।।२६।।

।। भवण-सरूवं समत्ता[1] ।।१०।।

ग्रर्थ—भवनवासी देवो के ये सब भवन समचतुष्कोण ग्रौर वज्रमय द्वारों से शोभायमान है। इनकी ऊँचाई तीन सौ योजन एव विस्तार सख्यात ग्रौर ग्रसख्यात योजन प्रमाण है। इनमे मे सख्यात योजन विस्तार वाले भवनो मे सख्यात देव रहते हैं तथा ग्रसख्यात योजन विस्तार वाले भवनो मे ग्रसख्यात भवनवासी देव रहते है।।२५-२६।।

।। भवनो के विस्तार का कथन समाप्त हुग्रा ।।१०।।

भवन-वेदियो का स्थान, स्वरूप तथा उत्सेध ग्रादि

तेसुं चउसु दिसासुं, जिण-दिट्ठ-पमाण-जोयणे गंता ।
मज्झम्मि दिव्व-वेदी, पुह पुह वेढेदि एक्केक्का ।।२७।।

ग्रर्थ—जिनेन्द्र भगवान् से उपदिष्ट उन भवनो की चारो दिशाग्रो मे योजन प्रमाण जाते हुए एक-एक दिव्य वेदी (कोट) पृथक्-पृथक् उन भवनो को मध्य मे वेष्टित करती है।।२७।।

बे कोसा उच्छेहा, वेदीणमकट्टिमाण सव्वाणं ।
पच-सयाणि दंडा, वासो वर-रयण-छण्णाणं ।।२८।।

ग्रर्थ—उत्तमोत्तम रत्नों से व्याप्त (उन) सब ग्रकृत्रिम वेदियो की ऊँचाई दो कोस ग्रौर विस्तार पाँच सौ धनुष-प्रमाण होता है।।२८।।

गोउर-दार-जुदाग्रो, उवरिम्मि जिणिंद-गेह-सहिदाग्रो ।
[2]भवण - सुर - रक्खिदाग्रो, वेदीग्रो तासु सोहंति ।।२९।।

---

१ द ब क ज ठ सम्मत्ता। २. द ब. क ज. ठ भवणासुर-तक्खिदाग्रो वेदीण तेसु।

अर्थ - गोपुरद्वारों से युक्त और उपरिम भाग में जिनमन्दिरों से सहित वे वेदियाँ भवनवासी देवों से रक्षित होती हुई सुशोभित होती हैं ॥२९॥

वेदियों के बाह्य-स्थित-वनों का निर्देश

तब्बाहिरे असोयं, सत्तच्छद-चंपयाय चूदवणा ।
पुव्वादिसु णाणातरु-चेत्ता चिट्ठंति चेत्त-तरू सहिया ॥३०॥

अर्थ—वेदियो के बाह्य भाग में चैत्यवृक्षो से सहित और अपने नाना वृक्षो से युक्त, (क्रमशः) पूर्वादि दिशाओं में पवित्र अशोक, सप्तच्छद, चम्पक और आम्रवन स्थित हैं ॥३०॥

चैत्यवृक्षो का वर्णन

चेत्त-द्दुम-थल-रुंदं, दोण्णि सया जोयणाणि पण्णासा ।
चत्तारो मज्झम्मि य, अंते कोसद्धमुच्छेहो ॥३१॥
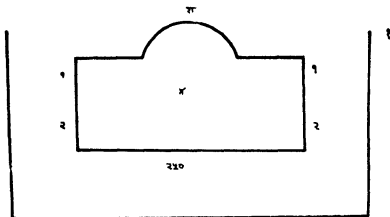
अर्थ—चैत्यवृक्षो के स्थल का विस्तार दो सौ पचास योजन तथा ऊँचाई मध्य मे चार योजन और अन्त मे अर्धकोस प्रमाण है ॥३१॥

छ-द्दो-भू-मुह-रुंदा[2] , चउ-जोयण-उच्छिदाणि पीढाणि ।
पीढोवरि बहुमज्झे, रम्मा चेट्ठंति चेत्त-दुमा ॥३२॥

जो ६ । २ । ४ ।

१. यह चित्र प्रक्षेप रूप है एव इसमे दिया हुआ प्रमाण स्केल रूप नही है ।
२. द. ब. क. ज ठ रुदो ।

अर्थ—पीठों की भूमि का विस्तार छह योजन, मुख का विस्तार दो योजन और ऊँचाई चार योजन है, इन पीठों के ऊपर बहुमध्य भाग मे रमणीय चैत्यवृक्ष स्थित हैं ॥३२॥

पत्तेक्कं रुक्खाणं, [1]अवगाढं कोसमेक्कमुद्दिट्ठं ।
जोयण खंदुच्छेहो, साहा-दीहत्तण च चत्तारि ॥३३॥

को १ । जो १ । ४ । [2]

अर्थ—प्रत्येक वृक्ष का अवगाढ एक कोस, स्कन्ध का उत्सेध एक योजन और शाखाओं की लम्बाई चार योजन प्रमाण कही गयी है ॥३३॥

विविह-वर-रयण-साहा, विचित्त-कुसुमोवसोहिदा सव्वे ।
मरगयमय-वर-पत्ता, दिव्व-तरू ते विरायंति ॥३४॥

अर्थ—वे सब दिव्य वृक्ष विविध प्रकार के उत्तम रत्नो की शाखाओं से युक्त, विचित्र पुष्पों से अलकृत और मरकत मणिमय उत्तम पत्रो से व्याप्त होते हुए अतिशय शोभा को प्राप्त हैं ॥३४॥

विविहंकुर चेंचइया, विविह-फला विविह-रयण-परिणामा[3] ।
छत्तादी छत्त-जुदा[4], घंटा - जालादि - रमणिज्जा ॥३५॥

आदि-णिहणेण हीणा - पुढविमया सव्व-भवण-चेत्त-दुमा ।
जीवुप्पत्ति[5] - लयाणं, होंति णिमित्ताणि ते णियमा[6] ॥३६॥

अर्थ—विविध प्रकार के अकुरो से मण्डित अनेक प्रकार के फलों से युक्त, नाना प्रकार के रत्नों से निर्मित, छत्र के ऊपर छत्र से संयुक्त, घण्टा-जालादि से रमणीय और आदि-अन्त से रहित, वे पृथिवी के परिणाम स्वरूप सब भवनों के चैत्यवृक्ष नियम से जीवों की उत्पत्ति और विनाश के निमित्त होते हैं ॥३५-३६॥

विशेषार्थ—यहाँ चैत्यवृक्षो को 'नियम से जीवों की उत्पत्ति और विनाश का कारण कहा गया है ।' उसका अर्थ यह प्रतीत होता है कि—चैत्यवृक्ष अनादि-निधन हैं, अतः कभी उनका उत्पत्ति

१. ब. क. अवगाढ । २. ब. को १ । जो ४ । ३. द. ज. ठ. परिमाणा । ४ द. ब. क. जुदा । ५. द. ब. ठ. जीहुप्पति आयाण, क. ज. जीऊप्पति आयाण । ६. द. ब. णिआयामा ।

या विनाश नहीं होता है, किन्तु चैत्यवृक्षों के पृथिवीकायिक जीवों का पृथिवीकायिकपना अनादि-निधन नहीं है। अर्थात् उन वृक्षों में पृथिवीकायिक जीव स्वयं जन्म लेते तथा आयु के अनुसार मरते रहते हैं, इसीलिए चैत्यवृक्षों को जीवों की उत्पत्ति और विनाश का कारण कहा गया है। यही विवरण चतुर्थ-अधिकार की गाथा १९३२ और २१८३ में तथा छठे अधिकार की गाथा २९ में आयेगा।

चैत्यवृक्षों के मूल में स्थित जिन-प्रतिमाएँ

चेत्त-द्दुम मूलेसुं, पत्तेक्कं चउ-दिसासु पंचेव।
चेट्ठंति जिणप्पडिमा, पलियंक-ठिया सुरेहि महणिज्जा ॥३७॥

चउ-तोरणाहिरामा, अट्ठ-महा-मंगलेहि सोहिल्ला।
वर-रयण-णिम्मिदेहिं, माणत्थंभेहि अइरम्मा ॥३८॥

॥ वेदी-वण्णणा गदा ॥११॥

अर्थ—चैत्यवृक्षों के मूल मे चारों दिशाओं में से प्रत्येक दिशा में पद्मासन से स्थित और देवों से पूजनीय पाँच-पाँच जिनप्रतिमाये विराजमान हैं, जो चार तोरणों से रमणीय, अष्ट महा-मंगल द्रव्यों से सुशोभित और उत्तमोत्तम रत्नों से निर्मित मानस्तम्भो से अतिशय शोभायमान हैं ॥३७-३८॥

॥ इसप्रकार वेदियों का वर्णन समाप्त हुआ ॥११॥

वेदियों के मध्य में कूटों का निरूपण

वेदीणं बहुमज्झे, जोयण-सयमुच्छिदा महाकूडा।
वेत्तासण-संठाणा, रयणमया होंति सव्वट्ठा ॥३९॥

अर्थ—वेदियों के बहुमध्य भाग में सर्वत्र एक सौ योजन ऊँचे, वेत्रासन के आकार और रत्नमय महाकूट स्थित हैं ॥३९॥

ताणं मूले उवरिं, समंतदो दिव्व-वेदीओ।
पुव्विल्ल-वेदियाणं, सारिच्छं वण्णणं सव्वं ॥४०॥

अर्थ—उन कूटो के मूल भाग में और ऊपर चारों ओर दिव्य वेदियां हैं। इन वेदियों का सम्पूर्ण वर्णन पूर्वोल्लिखित वेदियों जैसा ही समझना चाहिए ॥४०॥

वेदीणब्भंतरए, वण-संडा वर-विचित्त-तरु-णियरा ।
पुक्खरिणीहि समग्गा, तप्परदो दिव्व-वेदीओ[1] ॥४१॥

॥ कूडा गदा ॥१२॥

अर्थ—वेदियों के भीतर उत्तम एवं विविध प्रकार के वृक्ष-समूह और वापिकाओं से परिपूर्ण वन-समूह है तथा इनके आगे दिव्य वेदियाँ हैं ॥४१॥

॥ इस प्रकार कूटो का वर्णन समाप्त हुआ ॥१२॥

कूटो के ऊपर स्थित-जिन-भवनों का निरूपण

कूडोवरि पत्तेक्कं, जिणवर-भवणं [2]हुवेदि एक्केक्कं ।
वर-रयण-कंचणमयं, विचित्त-विण्णास[3] - रमणिज्जं ॥४२॥

अर्थ—प्रत्येक कूट के ऊपर उत्तम रत्नो एवं स्वर्ण से निर्मित तथा अद्‌भुत विन्यास से रमणीय एक-एक जिनभवन है ॥४२॥

चउ-गोउरा ति-साला, वीहिं [4]पडि माणथंभ-णव-थूहा ।
वण[5] - धय-चेत्त-खिदीओ, सव्वेसुं जिण-णिकेदेसुं ॥४३॥

अर्थ—सब जिनालयो मे चार-चार गोपुरों से संयुक्त तीन कोट, प्रत्येक वीथी में एक-एक मानस्तम्भ एव नौ स्तूप तथा (कोटो के अन्तराल में क्रमशः) वन, ध्वज और चैत्य-भूमियाँ हैं ॥४३॥

णंदादिओ ति-मेहल, ति-पीढ-पुव्वाणि धम्म-विभवाणि ।
चउ-वण-मज्झेसु ठिदा, चेत्त-तरू तेसु सोहंति ॥४४॥

अर्थ उन जिनालयो मे चारो वनो के मध्य मे स्थित तीन मेखलाओं से युक्त नन्दादिक वापिकाये एव तीन पीठो से सयुक्त धर्म-विभव तथा चैत्यवृक्ष शोभायमान होते हैं ॥४४॥

१. द. दिव्वदेवीओ । २ द. हुवेदि ३. द. ब. क. विण्णाणरमणिज्ज । ४. द. ब. क. ज. ठ. परि ५. ब. क. ज. ठ. णवधय ।

महाध्वजाओं एवं लघु ध्वजाओं की संख्या

हरि-करि-वसह-खगाहिव[1] - सिहि-ससि-रवि-हंस-पउम-चक्क-धया ।
एक्केक्कमट्ठ - जुद - सयमेक्केक्कं अट्ठ - सय खुल्ला ।।४५।।

अर्थ—(ध्वजभूमि में) सिंह, गज, वृषभ, गरुड़, मयूर, चन्द्र, सूर्य, हंस, पद्म और चक्र, इन चिह्नों से अंकित प्रत्येक चिह्नवाली एक सौ आठ महाध्वजाएँ और एक-एक महाध्वजा के आश्रित एक सौ आठ क्षुद्र (छोटी) ध्वजाएँ होती हैं ।।४५।।

विशेषार्थ—सिंह आदि १० चिह्न हैं अतः १० × १०८ = १०८० महाध्वजाएँ । १०८० × १०८ = १,१६,६४० छोटी ध्वजाएँ हैं ।

जिनालय में वन्दनगृहों आदि का वर्णन

[2]वंदणभिसेय-णच्चण-संगीदालोय-मंडवेहिं जुदा ।
कीडण-गुणण-गिहेहिं, विसाल-वर-पट्टसालेहिं ।।४६।।

अर्थ—(उपर्युक्त जिनालय) वन्दन, अभिषेक, नर्तन, संगीत और आलोक (प्रेक्षण) मण्डप तथा क्रीड़ागृह, गुणनगृह (स्वाध्यायशाला) एवं विशाल तथा उत्तम पट्ट (चित्र) शालाओं से सहित हैं ।।४६।।

जिनमन्दिरों में श्रुत आदि देवियों की एवं यक्षों की मूर्तियों का निरूपण

सिरिदेवी-सुदवेवी-सव्वाण-सणक्कुमार-जक्खाणं ।
रूवाणि अट्ठ-मंगल, [3]देवच्छंदम्मि जिण-णिकेदेसु ।।४७।।

अर्थ—जिनमन्दिरों में देवच्छन्द के भीतर श्रीदेवी, श्रुतदेवी तथा सर्वाण्ह और सनत्कुमार यक्षों की मूर्तियाँ एवं अष्ट मंगलद्रव्य होते हैं ।।४७।।

१. द. ब. क. ज. ठ. खगावइ । २. द. वंदणाभिसेय । ३. द. देवणच्छाणि, ब. देवच्छाणि । ज. ठ. देव देवच्छाणि, क मेव णिच्छाणि ।

अष्ट मगलद्रव्य

भिंगार-कलस-दप्पण-धय-चामर-छत्त-वियण-सुपइट्ठा ।
इय अट्ठ-मंगलाणि, पत्तेक्कं [1]अट्ठ-अहिय-सयं ॥४८॥

अर्थ—झारी, कलश, दर्पण, ध्वजा, चामर, छत्र, व्यजन और सुप्रतिष्ठ, ये आठ मंगलद्रव्य हैं, जो प्रत्येक एक सौ आठ कहे गये है ॥४८॥

जिनालयो की शोभा का वर्णन

दिप्पंत-रयण-दीवा, जिण-भवणा पंच-वण्ण-रयण-मया ।
[2]गोसीस - मलयचंदण - कालागरु - धूव - गंधड्ढा ॥४९॥

भंभा - मुइंग - मद्दल - जयघंटा - कंसताल - तिवलीणं ।
दुंदुहि - पडहादीण, सद्देहिं णिच्च - हलबोला ॥५०॥

अर्थ—देदीप्यमान रत्नदीपको से युक्त वे जिनभवन पाँच वर्ण के रत्नों से निर्मित; गोशीर्ष, मलयचन्दन, कालागरु और धूप की गध से व्याप्त तथा भम्भा, मृदग, मर्दल, जयघंटा, कांस्यताल, तिवली, दुन्दुभि एव पटहादिक के शब्दो से नित्य ही शब्दायमान रहते है ॥४९-५०॥

नागयक्ष-युगलो से युक्त जिन-प्रतिमाएँ

सिंहासणादि-सहिदा, चामर-कर-णागजक्ख-मिहुण-जुदा ।
णाणाविह-रयणमया, जिण-पडिमा तेसु भवणेसुं ॥५१॥

अर्थ—उन भवनो मे सिंहासनादिक से सहित, हाथ मे चँवर लिये हुए नागयक्ष युगल से युक्त तथा नाना प्रकार के रत्नो से निर्मित जिनप्रतिमाये है ॥५१॥

जिनभवनो की सख्या

बाहत्तरि लक्खाणि, कोडीओ सत्त जिण-णिकेदाणि ।
आदि-णिहणुज्झिदाणि, भवण - समाइं विराजंति ॥५२॥

७७२००००००।

1. ब अडअहियमय। 2. द. ब. क. ज ठ गोसीर।

अर्थ—आदि-अन्त से रहित (अनादिनिधन) वे जिनभवन, भवनवासी देवों के भवनों की संख्या प्रमाण सात करोड़, बहत्तर लाख सुशोभित होते हैं ॥५२॥

७,७२,००००० जिनभवन हैं।

भवनवासी-देव, जिनेन्द्र को ही पूजते हैं

सम्मत्त-रयण-जुत्ता, णिब्भर-भत्तीए णिच्चमच्चंति ।
कम्मक्खवण-णिमित्तं, देवा जिणणाह-पडिमाओ ॥५३॥

कुलदेवा इदि मण्णिय, अण्णेहिं बोहिया बहुपयारं ।
मिच्छाइट्ठी णिच्चं, पूजंति जिणिंद-पडिमाओ ॥५४॥

॥ जिणभवणा गदा ॥१३॥

अर्थ—सम्यग्दर्शनरूपी रत्न से युक्त देव तो कर्मक्षय के निमित्त नित्य ही अत्यधिक भक्ति से जिनेन्द्र-प्रतिमाओं की पूजा करते है, किन्तु सम्यग्दृष्टि देवो से सम्बोधित किये गये मिथ्यादृष्टि देव भी कुलदेवता मानकर जिनेन्द्र-प्रतिमाओं की नित्य ही नाना प्रकार से पूजा करते है ॥५३-५४॥

॥ जिनभवनो का वर्णन समाप्त हुआ ॥१३॥

कूटों के चारो ओर स्थित भवनवासी-देवो के प्रासादों का निरूपण

कूडाण [1]समंतादो, पासादा[2] होंति भवण-देवाणं ।
[3]णाणाविह-विण्णासा, वर-कंचण[4] -रयण-णियरमया ॥५५॥

अर्थ—कूटो के चारो ओर नाना प्रकार की रचनाओ से युक्त और उत्तम स्वर्ण एव रत्न-समूह से निर्मित भवनवासी देवो के प्रासाद हैं ॥५५॥

सत्तट्ठ-णव-दसादिय-विचित्त-भूमीहि भूसिदा सव्वे ।
लंबंत-रयण-माला, दिप्पंत-मणिप्पदीव-कंठिल्ला ॥५६॥

१. द. ब. क. ज. समंतादो। २. द ब. पासादो। ३. द ब. क. ज. ठ. णाणाविविहविणास। ४ ब. कवणणियर।

अम्माभिसेय-भूसण-मेहुण-ओलग्ग[1] - मंत-सालाहिं[2] ।
विविधाहिं[3] रमणिज्जा, मणि-तोरण-सुंदर-दुवारा ॥५७॥

[4]सामण्ण-गब्भ-कदली-चित्तासण-णालयादि-गिह - जुत्ता ।
कंचण-पायार-जुदा, विसाल-वलही विराजमाणा य ॥५८॥

धुव्वंत-धय-वडाया, पोक्खरणी-वावि- [5]कूव-वण-सहिदा[6] ।
धूव - घडेहिं जुजुत्ता, णाणावर-मत्त-वारणोपेदा ॥५९॥

मणहर-जाल-कवाडा, णाणाविह-सालभंजिका-बहुला ।
आदि-णिहणेण हीणा, किं बहुणा ते णिरुवमा णेया ॥६०॥

अर्थ– सब भवन सात, आठ, नौ, दस इत्यादिक विचित्र भूमियो से विभूषित; लम्बायमान रत्नमालाओ से सहित, चमकते हुए मणिमय दीपको से सुशोभित; जन्मशाला, अभिषेकशाला, भूषणशाला, मैथुनशाला, ओलगशाला (परिचर्यागृह) और मन्त्रशाला, इन विविध प्रकार की शालाओं से रमणीक, मणिमय तोरणो से सुन्दर द्वारो वाले, सामान्यगृह, गर्भगृह, कदलीगृह, चित्रगृह, आसनगृह, नादगृह और लतागृह इत्यादि गृह-विशेषो से सहित, स्वर्णमय प्राकार से सयुक्त विशाल छज्जो से विराजमान, फहराती हुई ध्वजा-पताकाओ से सहित, पुष्करिणी, वापी, कूप और वनो से सयुक्त, धूपघटो से युक्त अनेक उत्तम मत्तवारणो (छज्जो) से सयुक्त, मनोहर गवाक्ष और कपाटों से सुशोभित, नाना प्रकार की पुत्तलिकाओ सहित और आदि-अन्त से हीन (अनादिनिधन) हैं। बहुत कहने से क्या ? ये सब प्रासाद उपमा से रहित (अनुपम) है, ऐसा जानना चाहिए ॥५६-६०॥

चउ-पासाणि तेसुं, विचित्त-रूवाणि आसणाणि च ।
वर-रयण-विरइदाणि, सयणाणि हवंति दिव्वाणि ॥६१॥

॥ पासादा गदा ॥१४॥

अर्थ - उन भवनो के चारो पार्श्वभागो मे विचित्र रूप वाले आसन और उत्तम रत्नों से रचित दिव्य शय्यायें स्थित हैं ॥६१॥

॥ प्रासादो का कथन समाप्त हुआ ॥१४॥

१ द. ओलग, ब क उलग । २ द ब क. ज ठ. सालाइ । ३ द. ब. क ज. ठ. विदिलाहिं । ४. ब. क. सामेण । ५. ब कूड । ६. द ब. क ज. ठ सडाइ ।

प्रत्येक इन्द्र के परिवार-देव-देवियों का निरूपण

एक्केक्कस्सिं इंदे, परिवार-सुरा हवंति [1]दस भेदा ।
पडिइंदा तेत्तीसत्तिदसा सामाणिया-दिसाइंदा ॥६२॥

तणुरक्खा तिप्परिसा, सत्ताणीया पइण्णगभियोगा ।
किब्बिसिया इदि कमसो, पवण्णिदा इंद-परिवारा ॥६३॥

अर्थ—प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश. सामानिक, दिशाइन्द्र (लोकपाल), तनुरक्षक, तीन पारिषद, सात-अनीक, प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक, ये दस, प्रत्येक इन्द्र के परिवार-देव होते हैं। इस प्रकार क्रमशः इन्द्र के परिवार-देव कहे गये हैं ॥६२-६३॥

इंदा राय-सरिच्छा, जुवराय-समा हवंति पडिइंदा ।
पुत्त-णिहा तेत्तीसत्तिदसा सामाणिया कलत्तं वा ॥६४॥

अर्थ--इन्द्र राजा सदृश, प्रतीन्द्र युवराज सदृश, त्रायस्त्रिंश देव - पुत्र सदृश और सामानिक देव-कलत्र तुल्य होते हैं ॥६४॥

चत्तारि लोयपाला, [2]सारिच्छा होंति तंतवालाणं ।
तणुरक्खाण समाणा, [3]सरीर-रक्खा सुरा सव्वे ॥६५॥

अर्थ—चारो लोकपाल तन्त्रपालो के समान और सब तनुरक्षक देव राजा के अंग-रक्षक के समान होते हैं ॥६५॥

बाहिर-मज्झब्भंतर तंडय-सरिसा [4]हवंति तिप्परिसा ।
सेणोवमा अणीया, पइण्णया पुरजण-सरिच्छा ॥६६॥

अर्थ—राजा की बाह्य, मध्य और अभ्यन्तर समिति के सदृश देवो मे भी तीन प्रकार की परिषद् होती है। अनीक देव सेनातुल्य और प्रकीर्णक देव पुरजन सदृश होते है ॥६६॥

परिवार-समाणा ते, अभियोग-सुरा हवंति[5] किब्बिसिया ।
पाणोवमाणधारी[6], देवाणिंदस्स णादव्वं ॥६७॥

१. क दह। २. द. ब क ज ठ सावता। ३ द. ससरीर, व. सरीर वा। ४. द. हुवति। ५. द. हुवति। ६. ब मागाधोरी। क ज ठ माणुधारी।

अर्थ—वे आभियोग्य जाति के देव दास सदृश तथा किल्विषिक देव चाण्डाल की उपमा को धारण करने वाले हैं। इस प्रकार देवों के इन्द्र का परिवार जानना चाहिए ॥६७॥

इंद-समा पडिइंदा, तेत्तीस-सुरा हवंति तेत्तीसं ।
चमरादी-इंदाणं, पुह-पुह सामाणिया इमे देवा ॥६८॥

अर्थ—प्रतीन्द्र, इन्द्र प्रमाण और त्रायस्त्रिंश देव तैंतीस होते हैं। चमर-वैरोचनादि इन्द्रों के सामानिक देवों का प्रमाण पृथक्-पृथक् इस प्रकार है ॥६८॥

चउसट्ठि सहस्साणि, सट्ठी छप्पण्ण चमर-तिदयम्मि ।
पण्णास सहस्साणि, पत्तेक्कं होंति सेसेसु ॥६९॥

६४००० । ६०००० । ५६००० । सेसे १७ । ५००००

अर्थ—चमरादिक तीन इन्द्रों के सामानिक देव क्रमशः चौसठ हजार, साठ हजार और छप्पन हजार होते हैं, इसके आगे शेष सत्तरह इन्द्रों मे से प्रत्येक के पचास हजार प्रमाण सामानिक देव होते हैं ॥६९॥

पत्तेक्कं-इंदयाणं, सोमो यम-वरुण-धणद-णामा य ।
पुव्वादि - लोयपाला, [1]हवंति चत्तारि चत्तारि ॥७०॥

। ४ ।

अर्थ—प्रत्येक इन्द्र के पूर्वादिक दिशाओं के (रक्षक) क्रमशः सोम, यम, वरुण एवं धनद (कुबेर) नामक चार-चार लोकपाल होते है ॥७०॥

छप्पण्ण-सहस्साहिय-बे-लक्खा-होंति चमर-तणुरक्खा ।
चालीस-सहस्साहिय-लक्ख-दुगं बिदिय - इंदम्मि ॥७१॥

२५६००० । २४०००० ।

चउवीस-सहस्साहिय-लक्ख-दुगं [2]तदिय-इंद-तणुरक्खा ।
सेसेसुं पत्तेक्कं, णादव्वा दोण्णि लक्खाणि ॥७२॥

२२४००० । सेसे १७ । २००००० ।

१. द. हुवंति । २. ब. तदियतणु ।

अर्थ—चमरेन्द्र के तनुरक्षक देव दो लाख, छप्पन हजार और द्वितीय (वैरोचन) इन्द्र के दो लाख, चालीस हजार होते हैं। तृतीय (भूतानन्द) इन्द्र के तनुरक्षक दो लाख, चौबीस हजार तथा शेष मे से प्रत्येक के दो-दो लाख प्रमाण तनुरक्षक देव जानने चाहिए ॥७१-७२॥

अडवीसं छव्वीसं, छक्क सहस्साणि चमर-तिदयम्मि ।
आदिम-परिसाए[1] सुरा, सेसे पत्तेक्क-चउ-सहस्साणि ॥७३॥

२८००० । २६००० । ६००० । सेसे १७ । ४००० ।

अर्थ—चमरादिक तीन इन्द्रोके आदिम पारिषद देव क्रमशः अट्ठाईस हजार, छब्बीस हजार और छह हजार प्रमाण तथा शेष इन्द्रो मे से प्रत्येक के चार-चार हजार प्रमाण होते है ॥७३॥

तीसं अट्ठावीसं, अट्ठ सहस्साणि चमर-तिदयम्मि ।
मज्झिम-परिसाए सुरा, सेसेसुं छस्सहस्साणि ॥७४॥

३०००० । २८००० । ८००० । सेसे १७ । ६००० ।

अर्थ—चमरादिक तीन इन्द्रों के मध्यम पारिषद देव क्रमशः तीस हजार, अट्ठाईस हजार और आठ हजार तथा शेष इन्द्रो मे से प्रत्येक के छह-छह हजार प्रमाण होते है ॥७४॥

बत्तीसं तीसं दस, होंति सहस्साणि चमर-तिदयम्मि ।
बाहिर-परिसाए सुरा, अट्ठ सहस्साणि सेसेसुं ॥७५॥

३०००० । १०००० । सेसे १

अर्थ—चमरादिक तीन इन्द्रों के क्रमश. बत्तीस हजार, तीस हजार और दस हजार तथा शेष इन्द्रो मे से प्रत्येक के आठ-आठ हजार प्रमाण बाह्य पारिषद देव होते हैं ॥७५॥

[भवनवासी-इन्द्रो के परिवार-देवो की संख्या की तालिका सामने पृष्ठ पर देखिये]

१. क. ज. परिसाए ।

भवनवासी-इन्द्रों के परिवार-देवों की संख्या									
क्र० सं०	इन्द्रों के नाम	प्रतीन्द्र	त्रायस्त्रिंश	सामानिक देव	लोकपाल	तनुरक्षक	पारिषद		
							आदि	मध्य	बाह्य
१	चमर	१	३३	६४,०००	४	२,५६,०००	२८,०००	३०,०००	३२,०००
२	वैरोचन	१	३३	६० ०००	४	२,४०,०००	२६,०००	२८,०००	३०,०००
३	भूतानन्द	१	३३	५६,०००	४	२,२४,०००	६,०००	८,०००	१०,०००
४	धरणानन्द	१	३३	५० ०००	४	२,००,०००	४,०००	६,०००	८,०००
५	वेणु	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
६	वेणुधारी	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
७	पूर्ण	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
८	वशिष्ट	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
९	जलप्रभ	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१०	जलकान्त	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
११	घोष	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१२	महाघोष	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१३	हरिषेण	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१४	हरिकान्त	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१५	अमितगति	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१६	अमितवाहन	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१७	अग्निशिखी	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१८	अग्निवाहन	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
१९	वेलम्ब	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,
२०	प्रभंजन	१	३३	,,	४	,,	,,	,,	,,

अनीकदेवों का वर्णन

सत्ताणीया होंति हु, पत्तेक्कं सत्त सत्त कक्ख-जुवा ।
पढमा ससमाण-समा, तद्दुगुणा चरम-कक्खतं ॥७६॥

अर्थ—सात अनीको मे से प्रत्येक अनीक सात-सात कक्षाओं से युक्त होती है। उनमें से प्रथम कक्षा का प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवो के बराबर तथा इसके आगे अन्तिम कक्षा तक उत्तरोत्तर प्रथम कक्षा से दूना-दूना प्रमाण होता गया है ॥७६॥

विशेषार्थ—एक-एक इन्द्र के पास सात-सात अनीक (सेना या फौज) होती हैं। प्रत्येक अनीक की सात-सात कक्षाएँ होती है। प्रथम कक्षा में अनीक देवों का प्रमाण अपने-अपने सामानिक देवों की सख्या सदृश, पश्चात् दूना-दूना होता जाता है।

असुरम्मि महिस-तुरगा, रह-करिणो[1] तह पदाति-गंधव्वो ।
णच्चणया एदाणं, महत्तरा छम्महत्तरी एक्का ॥७७॥

। ७ ।

अर्थ—असुरकुमारों मे महिष, घोडा, रथ, हाथी, पादचारी, 'गन्धर्व और नर्तकी, ये सात अनीकें होती हैं। इनके छह महत्तर (प्रधान देव) और एक महत्तरी (प्रधानदेवी) होते हैं ॥७७॥

णावा गरुड-गइंदा, मयरुट्टा [2]खग्गि-सीह-सिविकस्सा ।
णागादीणं पढमाणीया बिदियाअ असुरं वा ॥७८॥

अर्थ—नागकुमारादिको के क्रमशः नाव, गरुड़, गजेन्द्र, मगर, ऊँट, गेंडा (खड्गी), सिंह, शिविका और अश्व, ये प्रथम अनीक होती हैं, शेष द्वितीयादि अनीक असुरकुमारों के ही सदृश होती हैं ॥७८॥

विशेषार्थ—दसो भवनवासी देवों में इस प्रकार अनीकें होती हैं—

१. असुरकुमार—महिष, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

२, नागकुमार—नाव, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

३. सुपर्णकुमार—गरुड़, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

---

१. ब. रहकरणो । २. द. ज. ठ खग्ग ।

४. द्वीपकुमार —हाथी, घोडा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

५ उदधिकुमार —मगर, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

६ विद्युत्कुमार —ऊँट, घोडा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

७ स्तनितकुमार - गेंडा, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

८ दिक्कुमार —सिंह, घोडा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

९ अग्निकुमार – शिविका, घोडा, रथ, हाथी, पयादे गन्धर्व और नर्तकी।

१०. वायुकुमार —अश्व, घोड़ा, रथ, हाथी, पयादे, गन्धर्व और नर्तकी।

गच्छ समे गुणयारे, परोप्परं गुणिय रूव-परिहीणे[1] ।
एक्कोण-गुण-विहत्ते, गुणिदे वयणेण गुण-गणिदं ॥७९॥

अर्थ—गच्छ के बराबर गुणकार को परस्पर गुणा करके प्राप्त गुणनफल मे से एक कम करके शेष मे एक कम गुणकार का भाग देने पर जो लब्ध आवे उसको मुख से गुणा करने पर गुणसंकलित धन का प्रमाण आता है ॥७९॥

विशेषार्थ- स्थानो के प्रमाण को पद और प्रत्येक स्थान पर जितने का गुणा किया जाता है उसे गुणकार कहते है। यहाँ पद का प्रमाण ७, गुणकार (प्रत्येक कक्षा का प्रमाण दुगुना-दुगुना है अत गुणकार का प्रमाण) दो और मुख ६४००० है।

उदाहरण -पद बराबर गुणकारो का परस्पर गुणा करने पर (२×२×२×२×२×२×२) अर्थात् १२८ फल प्राप्त हुआ, इसमे से १ घटाकर एक कम गुणकार (२—१=१) का भाग देने पर (१२८—१=१२७—१)=$\frac{१२७}{१}$ लब्ध प्राप्त हुआ। इसका मुख से गुणा करने पर (६४,०००×१२७) अर्थात् ८१,२८००० गुणसंकलित धन प्राप्त होता है।

एक्कासीदी लक्खा, अडवीस-सहस्स-संजुदा चमरे ।
होंति हु महिसाणीया, पुह पुह तुरयादिया वि तम्मेत्ता ॥८०॥

८१२८००० ।

---

१ ब द क ज ठ परिहीणो।

अर्थ—चमरेन्द्र के इक्यासी लाख, अट्ठाईस हजार महिष सेना तथा पृथक्-पृथक् तुरगादिक भी इतने ही होते है ॥८०॥

तिट्ठाणे सुण्णाणि, छण्णव-अड-छक्क-पंच-अंक-कमे ।
सत्ताणीया मिलिदा, णादव्वा चमर-इंदम्हि ॥८१॥

५६८९६००० ।

अर्थ—तीन स्थानो मे शून्य, छह, नौ, आठ, छह और पाँच अंक स्वरूप क्रमश. चमरेन्द्र की सातो अनीको का सम्मिलित प्रमाण जानना चाहिए ॥८१॥

विशेषार्थ—गाथा ८० के विशेषार्थ मे प्राप्त हुए गुणसकलित धन को ७ से गुणित करने पर (८१,२८००० × ७ =) पाँच करोड, अडसठ लाख, छयानबे हजार (५,६८,९६०००) सातो अनीको का सम्मिलित धन प्राप्त हो जाता है। यह चमरेन्द्र की अनीको का सम्मिलित धन है।

छाहत्तरि लक्खाणि, बीस-सहस्साणि होंति महिसाणं ।
वइरोयणम्मि इंदे, पुह पुह तुरयादिणो वि तम्मेत्ता ॥८२॥

७६२०००० ।

अर्थ—वैरोचन इन्द्र के छिहत्तर लाख, बीस हजार महिष और पृथक्-पृथक् तुरगादिक भी इतने ही है ॥८२॥

चउ-ठाणेसुं सुण्णा, चउ तिय तिय पंच-अंक-माणाए ।
वइरोयणस्स मिलिदा, सत्ताणीया इमे होंति ॥८३॥

। ५३३४०००० ।

अर्थ—चार स्थानो मे शून्य चार, तीन, तीन और पाँच इन अको के क्रमश मिलाने पर जो या हो, इतने मात्र वैरोचन इन्द्र के मिलकर ये सात अनीके होती है ॥८३॥

एक्कत्तरि लक्खाणि, णावाओ होंति बारस सहस्सा ।
भूदाणंदे पुह पुह, [1]तुरग - प्पहुदीणि तम्मेत्ता ॥८४॥

७११२०००

१. ब. उरग ।

ग्रर्थ—भूतानन्द के इकहत्तर लाख, बारह हजार नाव ग्रौर पृथक्-पृथक् तुरगादिक भी इतने ही होते हैं ॥८४॥

ति-ट्ठाणे सुण्णाणि, चउक्क-ग्रड[1] - सत्त-णव-चउक्क-कमे ।
सत्ताणीया[2] मिलिदे, भूदाणंदस्स णादव्वा ॥८५॥

४६७८४०००

ग्रर्थ—तीन स्थानो मे शून्य, चार, ग्राठ, सात, नौ ग्रौर चार इन अकों को क्रमशः मिलाकर भूतानन्द इन्द्र की सात ग्रनीकें जाननी चाहिए। ग्रर्थात् भूतानन्द की सातो ग्रनीकें चार करोड़ सतानवै लाख चौरासी हजार प्रमाण हैं ॥८५॥

तेसट्ठी लक्खाइं, पण्णास सहस्सयाणि पत्तेक्कं ।
सेसेसुं इंदेसुं, पढमाणीयाण परिमाणा ॥८६॥

६३५०००० ।

ग्रर्थ—शेष सत्तरह इन्द्रों में से प्रत्येक के प्रथम ग्रनीक का प्रमाण तिरेसठ लाख पचास हजार प्रमाण है ॥८६॥

[3]चउ-ठाणेसुं सुण्णा, पंच य तिट्ठाणए चउक्काणि ।
ग्रंक-कमे सेसाणं, सत्ताणीयाण[4] परिमाणं ॥८७॥

४४४५०००० ।

ग्रर्थ—चार स्थानों मे शून्य, पाँच ग्रौर तीन स्थानों में चार, इस ग्रंकक्रम से यह शेष इन्द्रों में से प्रत्येक की सात ग्रनीकों का प्रमाण होता है ॥८७॥

होंति पयण्णय-पहुदी, जेत्तियमेत्ता य सयल-इंदेसु ।
तप्परिमाण-परूवण[5] -उवएसो णत्थि काल-वसा ॥८८॥

ग्रर्थ—सम्पूर्ण इन्द्रो में जितने प्रकीर्णक ग्रादिक देव हैं, काल के वश से उनके प्रमाण के प्ररूपण का उपदेश नही है ॥८८॥

---

१. ब. ग्रट्ठमत्त । २. द. मत्ताणीग्रा । ३. ब. चवट्ठाणेसु । ४. द. ब क. ज. ठ. सत्ताणीयाणि । ५. द. ब. परूणा ।

भवनवासी-इन्द्रो के अनीक देवो का प्रमाण गाथा ८०-८८

क्रमांक	इन्द्रो के नाम	प्रथम कक्षा का नाम	प्रथम कक्षा का प्रमाण ×	कक्षाएँ ७ =	सातो अनीकों का सम्मिलित प्रमाण	प्रकीर्णक सेना का प्रमाण
१	चमरेन्द्र	महिष	८१,२८००० ×	७ =	५,६८,९६०००	काल-वश उपदेश का अभाव।
२	वैरोचन	,,	७६,२०००० ×	७ =	५,३३,४००००	
३	भूतानन्द	नाव	७१,१२००० ×	७ =	४,९७,८४०००	
४-२०	शेष १७ मे से प्रत्येक इन्द्र के	गरुड, गज मगर आदि	प्रत्येक के ६३,५०००० ×	७ =	प्रत्येक इन्द्र के ४,४४,५००००	

भवनवासिनी देवियो का निरूपण

किण्हा रयण-सुमेघा, देवी-णामा सुकंठ-अभिहाणा ।
णिरुवम-रूव-धराओ, चमरे पंचग्ग - महिसीओ ।।८९।।

अर्थ— चमरेन्द्र के कृष्णा, रत्ना, सुमेघा, देवी और सुकठा नाम की अनुपम रूप को धारण करने वाली पांच अग्रमहिषियां है ।।८९।।

अग्ग-महिसीण ससमं, अट्ठ-सहस्साणि होंति पत्तेक्कं ।
परिवारा देवीओ, चाल-सहस्साणि समिलिदा ।।९०।।

८००० । ४०००० ।

अर्थ—अग्रदेवियो मे मे प्रत्येक के अपने साथ आठ हजार परिवार-देवियाँ होती है । इस प्रकार मिलकर सब परिवार-देवियाँ चालीस हजार प्रमाण होती है ।।९०।।

चमरग्गिम-महिसीण, अट्ठ-सहस्सा विकुव्वणा संति ।
पत्तेक्कं अप्प-समं, णिरुवम-लावण्ण-रूवेहिं ।।९१।।

अर्थ— चमरेन्द्र की अग्र-महिषियो मे से प्रत्येक अपने (मूल शरीर के) साथ, अनुपम रूप-लावण्य से युक्त आठ हजार प्रमाण विक्रिया निर्मित रूपो को धारण कर सकती है ।।९१।।

सोलस-सहस्समेत्ता, वल्लहियाओ हवंति चमरस्स ।
छप्पण्ण-सहस्साणि, संमिलिदे सव्व-देवीओ ।।९२।।

१६००० । ५६००० ।

अर्थ--चमरेन्द्र के सोलह हजार प्रमाण वल्लभा देवियाँ होती है । इस प्रकार चमरेन्द्र की पाँचो अग्र-देवियो की परिवार-देवियो और वल्लभा-देवियो को मिलाकर, सर्व देवियाँ छप्पन हजार होती है ।।९२।।

पउमा-पउमसिरीओ, कणयसिरी कणयमाल-महपउमा ।
अग्ग-महिसीउ बिदिए, विक्किरिया पहुदि पुव्वं व[1] ॥९३॥

अर्थ—द्वितीय (वैरोचन) इन्द्र के पद्मा, पद्मश्री, कनकश्री, कनकमाला और महापद्मा, ये पांच अग्र-देवियां होती हैं, इनके विक्रिया आदि का प्रमाण पूर्व (प्रथम इन्द्र) के सदृश ही जानना चाहिए ॥९३॥

पण अग्ग-महिसियाओ, पत्तेक्कं वल्लहा दस-सहस्सा ।
णागिंदाणं होंति हु, विक्किरियप्पहुदि पुव्व व[2] ॥९४॥

५ । १०००० । ४०००० । ५०००० ।

अर्थ—नागेन्द्रो (भूतानन्द और धरणानन्द) मे से प्रत्येक की पाँच अग्र-देवियां और दस हजार वल्लभाएँ होती है। शेष विक्रिया आदि का प्रमाण पूर्ववत् ही है ॥९४॥

चत्तारि सहस्साणि, वल्लहियाओ हवंति पत्तेक्कं ।
गरुडिंदाणं[3] सेसं, पुव्वं पिव एत्थ वत्तव्वं ॥९५॥

५ । ४००० । ४०००० । ४४००० ।

अर्थ—गरुडेन्द्रो मे से प्रत्येक की चार हजार वल्लभाये होती हैं। यहाँ पर शेष कथन पूर्व के सदृश ही समझना चाहिए ॥९५॥

सेसाणं इंदाणं, पत्तेक्कं पंच-अग्ग-महिसीओ ।
एदेसु छस्सहस्सा, स-समं परिवार-देवीओ ॥९६॥

५ । ६००० । ३०००० ।

अर्थ—शेष इन्द्रो मे से प्रत्येक के पाँच अग्र-देवियाँ और उनमे से प्रत्येक के अपने (मूल शरीर) को सम्मिलित कर छह हजार परिवार-देवियाँ होती हैं ॥९६॥

---

१. द. वा । क ज. ठ. व । २. द. वा । क. व । ३. द. ब गरुणिदाण । ज ठ. गरुडदाण ।

[1]दीविंद-प्पहुदीणं, देवीणं वरविउव्वरणा[2] संति ।
छ-सहस्साणि च समं, पत्तेक्कं विविह-रूवेहिं ॥९७॥

अर्थ—द्वीपेन्द्रादिको की देवियों मे से प्रत्येक के मूल शरीर के साथ विविध-प्रकार के रूपों से छह-हजार प्रमाण उत्तम विक्रिया होती है ॥९७॥

पुह पुह सेसिंदाणं, वल्लहिया होंति दो सहस्साणि ।
बत्तीस-सहस्साणिं, समिलिदे सव्व - देवीओ ॥९८॥

२००० । ३२००० ।

अर्थ – शेष इन्द्रों के पृथक्-पृथक् दो हजार वल्लभा देवियाँ होती हैं, इन्हें मिला देने पर प्रत्येक इन्द्र के सब देवियाँ बत्तीस हजार प्रमाण होती है ॥९८॥

[भवनवासी-इन्द्रो की देवियो के प्रमाण की तालिका पृष्ठ २९४ पर देखिये]

१. द ब क. ज ठ. देविंद । २. द बरविव्वणा ब. वार विव्वणा । ज. ठ. वारतिव्वणा । क. वारं विकुव्वणा ।

भवनवासी इन्द्रों की देवियों का प्रमाण, गाथा ८९-९८

क्रमांक	कुल	इन्द्रों के नाम	अग्रदेवियाँ ×	परिवार-देवियाँ =	गुणनफल +	वल्लभा-देवियाँ =	सर्वयोग	मूल शरीर सहित विक्रिया
१.	असुर कु०	चमर	५ ×	८००० =	४०००० +	१६००० =	५६०००	८०००
		वैरोचन	५ ×	८००० =	४०००० +	१६००० =	५६०००	८०००
२.	नाग कु०	भूतानन्द	५ ×	८००० =	४०००० +	१०००० =	५००००	८०००
		धरणानन्द	५ ×	८००० =	४०००० +	१०००० =	५००००	८०००
३.	सुपर्ण कु०	वेणु	५ ×	८००० =	४०००० +	४००० =	४४०००	८०००
		वेणुधारी	५ ×	८००० =	४०००० +	४००० =	४४०००	८०००
४	द्वीपकुमार आदि शेष	शेष इन्द्र	५ ×	६००० =	३०००० +	२००० =	३२००० (प्रत्येक की)	६००० (प्रत्येक की)

पडिइंदादि-चउण्हं, वल्लहियाणं तहेव देवीणं ।
सव्वं विउव्वणादिं, णिय-णिय-इंदाण सारिच्छं ॥९९॥

अर्थ—प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक और लोकपाल, इन चारो की वल्लभाएँ तथा इन देवियों की सम्पूर्ण विक्रिया आदि अपने-अपने इन्द्रो के सदृश ही होती हैं ॥९९॥

सव्वेसुं इंदेसुं, तणुरक्ख-सुराण होंति देवीश्रो ।
पत्तेक्कं सय-मेत्ता, णिरुवम-लावण्ण-लीलाश्रो ॥१००॥

१००

अर्थ—सब इन्द्रो मे प्रत्येक तनुरक्षक देव की अनुपम लावण्य-लीला को धारण करने वाली सौ देवियाँ होती है ॥१००॥

अड्ढाइज्ज-सयाणि, देवीश्रो दुवे सया दिवड्ढ-सयं ।
श्रादिम-मज्झिम-बाहिर-परिसासुं होंति चमरस्स ॥१०१॥

२५० । २०० । १५० ।

अर्थ—चमरेन्द्र के आदिम, मध्यम और बाह्य पारिषद देवो के क्रमश. ढाई सौ, दो सौ एव डेढ सौ देवियाँ होती है ॥१०१॥

देवीश्रो तिण्णि सया, अड्ढाइज्ज सयाणि दु-सयाणि ।
श्रादिम-मज्झिम-बाहिर-परिसासुं होंति बिदिय-इंदस्स ॥१०२॥

३०० । २५० । २०० ।

अर्थ—द्वितीय इन्द्र के आदिम, मध्यम और बाह्य पारिषद देवो के क्रमशः तीन सौ. ढाई सौ एव दो सौ देवियाँ होती हैं ॥१०२॥

दोण्णि सया देवीश्रो, सट्ठी-चालादिरित्त[1] एक्क-सयं ।
णागिंदाणं श्रब्भिंतरादि-ति-प्परिस-देवेसुं[2] ॥१०३॥

२०० । १६० । १४० ।

१ द. ब. चालादिरत्त । २. द. ब. क. ज ठ. तिप्परिसदेवीसु ।

अर्थ—नागेन्द्रों के अभ्यन्तरादिक तीनों प्रकार के पारिषद देवों में क्रमशः दो सौ, एक सौ साठ और एक सौ चालीस देवियाँ होती हैं ॥१०३॥

सट्ठी-जुदमेक्क-सयं, चालीस-जुदं च वीस अब्भहियं ।
गरुडिंदाणं अब्भंतरादि-ति-प्परिस-देवीओ ॥१०४॥

१६० । १४० । १२० ।

अर्थ—गरुडेन्द्रों के अभ्यन्तरादिक तीनों पारिषद देवों के क्रमशः एक सौ साठ, एक सौ चालीस और एक सौ बीस देवियाँ होती हैं ॥१०४॥

चालुत्तरमेक्कसयं, वीसब्भहियं सयं च केवलयं ।
सेसिंदाणं[1] आदिम-परिस-प्पहुदीसु देवीओ ॥१०५॥

१४० । १२० । १००

अर्थ—शेष इन्द्रों के आदिम पारिषदादिक देवो मे क्रमशः एक सौ चालीस, एक सौ बीस और केवल सौ देवियाँ होती हैं ॥१०५॥

उदहिं पहुदि कुलेसुं, इंदाणं दीव-इंद-सरिसाओ ।
आदिम-मज्झिम-बाहिर, परिसत्तिदयस्स देवीओ ॥१०६॥

१४० । १२० । १००

अर्थ—उदधिकुमार पर्यन्त कुलो में द्वीपेन्द्र के सदृश १४०, १२० और १०० देवियाँ क्रमशः आदि, मध्य और बाह्य पारिषदादिक इन्द्रों की होती हैं ॥१०६॥

असुरादि-दस-कुलेसुं, हवंति सेणा-सुराण पत्तेक्कं ।
पण्णासा देवीओ, सयं च परो महत्तर-सुराणं ॥१०७॥

। ५० । १०० ।

अर्थ—असुरादिक दस कुलों में सेना-सुरों में से प्रत्येक के उत्कृष्टतः पचास और महत्तर देवों के सौ देवियाँ होती हैं ॥१०७॥

१. द. ब. क. ज. ठ. देविंदाणं ।

कुल नाम	इन्द्र-नाम	प्रतीन्द्र	त्रायस्त्रिंश	सामानिक	लोकपाल	तनु-रक्षक	पारिषद			सेना-सुर	महत्तर	निःकृष्ट देव
							आदि	मध्य	बाह्य			
असुरकुमार	चमरेन्द्र	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	१००	२५०	२००	१५०	५०	१००	३२
	वैरोचन					१००	३००	२५०	२००	५०	१००	३२
नागकुमार	भूतानन्द					१००	२००	१६०	१४०	५०	१००	३२
	धरणानन्द					१००	२००	१६०	१४०	५०	१००	३२
सुपर्णकुमार	वेणु					१००	१६०	१४०	१२०	५०	१००	३२
	वेणुधारी					१००	१६०	१४०	१२०	५०	१००	३२
द्वीपकुमार आदि शेष	शेष सर्व इन्द्र					१०० (प्रत्येक) की	१४० (प्रत्येक) की	१२० (प्रत्येक) की	१०० (प्रत्येक) की	५०	१००	३२

भवनवासी-इन्द्रों के परिवार-देवों की देवियों का प्रमाण गाथा—९९-१०७

जिण-दिट्ठ-पमाणाओ[1], होंति पइण्णय-तियस्स देवीओ ।
सव्व-णिगिट्ठ-सुराणं, पियाओ बत्तीस पत्तेक्कं ॥१०८॥

। ३२ ।

अर्थ—प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक, इन तीन देवों की देवियाँ जिनेन्द्रदेव द्वारा कहे गये प्रमाण स्वरूप होती है । सम्पूर्ण निकृष्ट देवो के भी प्रत्येक के बत्तीस-बत्तीस प्रिया (देवियाँ) होती हैं ॥१०८॥

अप्रधान परिवार देवों का प्रमाण

एदे सव्वे देवा, देविंदाणं पहाण-परिवारा ।
अण्णे वि अप्पहाणा, सखातीदा विराजंति ॥१०९॥

अर्थ—ये सब उपर्युक्त देव इन्द्रो के प्रधान परिवार स्वरूप होते है । इनके अतिरिक्त अन्य और भी असख्यात अप्रधान परिवार सुशोभित होते है ॥१०९॥

भवनवासो देवो का आहार और उसका काल-प्रमाण

इंद-पडिंद-प्पहुदी, तद्देवीओ मणेण आहारं ।
अमयमय-मइसिणिद्धं, संगेण्हंते णिरुवमाणं[2] ॥११०॥

अर्थ—इन्द्र-प्रतीन्द्रादिक तथा इनकी देवियाँ अति-स्निग्ध और अनुपम अमृतमय आहार को मन से ग्रहण करती है ॥११०॥

[3]चमर-दुगे आहारो, [4]वरिस-सहस्सेण होइ णियमेण ।
पणुवीस-दिणाण दलं, भूदाणंदादि-छण्हं पि ॥१११॥

व १००० । दि $\frac{२५}{२}$ ।

अर्थ—चमरेन्द्र और वैरोचन इन दो इन्द्रो के एक हजार वर्ष बीतने पर नियम से आहार होता है । इसके आगे भूतानन्दादिक छह इन्द्रों के पच्चीस दिनो के आधे (१२½) दिनो मे आहार होता है ॥१११॥

---

१. द. प्पमाणाओ, ज. ठ. पमाणिफ । २ द. ब. णिवरुवमणं । क णिवरुवमाण । ३ द ज. ठ. चरमदुगे । ४. द ज ठ. वरम ।

बारस-दिणेसु जलपह-पहुदी-छण्हं पि भोयणावसरो ।
पण्णरस-वासर-दलं, ग्रमिदगदि-प्पमुह-छक्कम्मि ।।११२।।

।१२। $\frac{१५}{२}$।

ग्रर्थ—जलप्रभादिक छह इन्द्रों के बारह दिन के ग्रन्तराल मे ग्रौर ग्रमितगति ग्रादि छह इन्द्रो के पन्द्रह के ग्राधे (७½) दिन के ग्रन्तराल से ग्राहार का ग्रवसर ग्राता है ।।११२।।

इंदादी पंचाणं, सरिसो ग्राहार-काल-परिमाणं ।
तणुरक्ख-प्पहुदीणं, तस्सि उवदेस-उच्छिण्णो[1] ।।११३।।

ग्रर्थ–इन्द्रादिक पाँच (इन्द्र, प्रतीन्द्र, सामानिक, त्रायस्त्रिंश ग्रौर पारिषद) के ग्राहार-काल का प्रमाण सदृश है। इसके ग्रागे तनुरक्षकादि देवों के ग्राहार-काल के प्रमाण का उपदेश नष्ट हो गया है ।।११३।।

दस-वरिस-सहस्साऊ, जो देवो तस्स भोयणावसरो ।
दोसु दिवसेसु पंचसु, पल्ल-[2]पमाणाउ-जुत्तस्स ।।११४।।[3]

ग्रर्थ–जो देव दस-हजार वर्ष की ग्रायुवाला है उसके दो दिन के ग्रन्तराल से ग्रौर पल्योपम-प्रमाण से सयुक्त देव के पाँच दिन के ग्रन्तराल से भोजन का ग्रवसर ग्राता है ।।११४।।

भवनवासियो में उच्छ्वास के समय का निरूपण

चमर-दुगे उस्सासं, [4]पण्णरस-दिणाणि पंचवीस-दलं ।
पुह-पुह [5]मुहुत्तयाणि, भूदाणदादि-छक्कम्मि ।।११५।।

। दि १५ । मु $\frac{२५}{२}$।

ग्रर्थ–चमरेन्द्र एवं वैरोचन इन्द्रों के पन्द्रह दिन में तथा भूतानन्दादिक छह इन्द्रों के पृथक्-पृथक् साढ़े बारह-मुहूर्तों मे उच्छ्वास होता है ।।११५।।

१. द. ब. क. ज ठ. उच्छिण्णा। २. द. पमाणावजुत्तस्स। ३. मूल प्रति में यह गाथा संख्या ११७ है किन्तु विषय प्रसंग के कारण यहाँ दी गई है। ४ ब. पणरस। ५. ब. मुहुत्तयाणि।

बारस-मुहुत्तयाणि, जलपह-पहुदीसु छस्सु उस्सासा ।
पण्णरस-मुहुत्त-दलं, अमिदगदि-पमुह-छण्हं पि ॥११६॥

। मु १२। १५/२ ।

अर्थ—जलप्रभादिक छह इन्द्रो के बारह मुहूर्तो मे और अमितगति आदि छह इन्द्रो के साढे-सात-मुहूर्तों मे उच्छ्वास होता है ॥११६॥

जो अजुदाओ देवो[1], उस्सासा तस्स सत्त-पाणेहिं ।
ते पंच-मुहुत्तेहिं, [2]पलिदोवम-आउ-जुत्तस्स ॥११७॥

अर्थ—जो देव अयुत (दस हजार) वर्ष प्रमाण आयु वाले हैं उनके सात श्वासोच्छ्वास-प्रमाण काल में और पल्योपम-प्रमाण आयु से युक्त देव के पाँच मुहूर्तो मे उच्छ्वास होते है ॥११७॥

प्रतीन्द्रादिकों के उच्छ्वास का निरूपण

पडिइंदादि-चउण्हं, इंदस्सरिसा हवंति उस्सासा ।
तणुरक्ख-प्पहुदीसुं, उवएसो संपइ पणट्ठो ॥११८॥

अर्थ—प्रतीन्द्रादिक चार देवो के उच्छ्वास इन्द्रों के सदृश ही होते हैं । इसके आगे तनुरक्षकादि देवो मे उच्छ्वास-काल के प्रमाण का उपदेश इस समय नष्ट हो गया है ॥११८॥

असुरकुमारादिको के वर्णों का निरूपण

सव्वे असुरा किण्हा, हवंति णागा वि कालसामलया ।
गरुडा दीवकुमारा, सामल - वण्णा सरीरेहिं ॥११९॥

[3]उदहि - त्थणिदकुमारा, ते सव्वे कालसामलायारा ।
विज्जू विज्जु-सरिच्छा, सामल - वण्णा दिसकुमारा ॥१२०॥

अग्गिकुमारा सव्वे, जलंत-सिहिजाल-सरिस-दित्ति-धरा ।
णव-कुवलय-सम-भासा, वादकुमारा वि णादव्वा ॥१२१॥

१. द ठ. देओ, क ज. देउ ।　　२. ब. क. पलिदोवमयाबजुत्तस्स, द. ज. ठ. पलिदोवमयाहजुत्तस्स
३. द. ब. ज. ठ. उदधिथणिद ।

अर्थ—सर्व असुरकुमार (शरीर से) कृष्णवर्ण, नागकुमार कालश्यामल, गरुड़कुमार एवं द्वीपकुमार श्यामलवर्ण वाले होते हैं। सम्पूर्ण उदधिकुमार तथा स्तनितकुमार कालश्यामलवर्णवाले, विद्युत्कुमार बिजली के सदृश और दिक्कुमार श्यामलवर्णवाले होते हैं। सब अग्निकुमार जलती हुई अग्नि की ज्वाला सदृश कान्ति को धारण करने वाले तथा वातकुमार देव नवीन कुवलय (नील-कमल) की सदृशता वाले जानने चाहिए ॥११९-१२१॥

असुरकुमार आदि देवो का गमन

पंचसु कल्लाणेसुं, जिणिंद-पडिमाण पूजण-णिमित्तं ।
णंदीसरम्मि दीवे, इंदादी जांति भत्तीए ॥१२२॥

अर्थ—भक्ति से युक्त सभी इन्द्र (जिनेन्द्रदेव के) पचकल्याणकों के निमित्त (ढाई द्वीप में) तथा जिनेन्द्र- प्रतिमाओ की पूजन के निमित्त नन्दीश्वर द्वीप में जाते हैं ॥१२२॥

सीलादि-संजुदाणं, पूजण-हेदुं परिक्खण-णिमित्तं ।
णियणिय-कीडण-कज्जे, वइरि-समूहस्स मारणिच्छाए[1] ॥१२३॥

असुर - प्पहुदीण गदी, उड्ढ-सरूवेण जाव ईसाणं ।
णिय-वसदो पर-वसदो, अच्चुद-कप्पावही होदि ॥१२४॥

अर्थ— शीलादिक से सयुक्त किन्ही मुनिवरादिक की पूजन एव परीक्षा के निमित्त, अपनी-अपनी क्रीडा करने के लिए अथवा शत्रुसमूह को नष्ट करने की इच्छा से असुरकुमारादिक देवो की गति ऊर्ध्व रूपसे अपने वश (अन्य की सहायता के बिना) ईशान स्वर्ग-पर्यन्त और दूसरे देवों की सहायता से अच्युत स्वर्ग पर्यन्त होती है ॥१२३-१२४॥

भवनवासी देव- देवियो के शरीर एव स्वभावादिक का निरूपण

कणयं व णिरुवलेवा, णिम्मल-कंती सुगंध-णिस्सासा ।
णिरुवमय - रूवरेखा, समचउरस्संग - संठाणा ॥१२५॥

लक्खण-वंजण-जुत्ता, संपुण्णमियंक-सुन्दर-महाभा ।
णिच्च चेय कुमारा, देवा देवी ओ तारिसया ॥१२६॥

---

१. द. मारणिट्ठाए ।

अर्थ— (वे सब देव) स्वर्ण के समान, मल के संसर्ग से रहित निर्मल कान्ति के धारक, सुगन्धित निश्वास से संयुक्त, अनुपम रूपरेखा वाले, समचतुरस्र नामक शरीर संस्थान वाले लक्षणों और व्यंजनों से युक्त, पूर्ण चन्द्र सदृश सुन्दर महाकान्ति वाले और नित्य ही (युवा) कुमार रहते हैं, वैसी ही उनकी देवियाँ होती हैं ।।१२५-१२६।।

रोग-जरा-परिहीणा, णिरुवम-बल-वीरिएहिं परिपुण्णा ।
आरत्त-पाणि-चरणा, कदलीघादेण परिचत्ता ।।१२७।।

वर-रयण-मोडधारी[1], वर-विविह-विभूसणेहिं सोहिल्ला ।
[2]मंसट्ठि-मेध-लोहिद-मज्ज-वसा[3] - सुक्क - परिहीणा ।।१२८।।

कररुह-केस-विहीणा, णिरुवम-लावण्ण-दित्ति-परिपुण्णा ।
बहुविह-विलास - सत्ता, देवा देवीओ ते होंति ।।१२९।।

अर्थ—वे देव - देवियाँ रोग एवं जरा से विहीन, अनुपम बल-वीर्य से परिपूर्ण, किंचित लालिमा युक्त हाथ-पैरो से सहित कदलीघात (अकालमरण) से रहित, उत्कृष्ट रत्नो के मुकुट को धारण करने वाले, उत्तमोत्तम विविध-प्रकार के आभूषणो से शोभायमान मास-हड्डी-मेद-लोहू-मज्जा-वसा और शुक्र आदि धातुओ से विहीन, हाथों के नख एव बालो से रहित अनुपम लावण्य तथा दीप्ति से परिपूर्ण और अनेक प्रकार के हाव-भावो मे आसक्त रहते (होते) है ।।१२७-१२९।।

असुरकुमार आदिको मे प्रवीचार

असुरादी भवणसुरा, सव्वे ते होंति काय-पविचारा[4] ।
वेदस्सुदीरणाए[5], अणुभवणं [6]माणुस - समाणं ।।१३०।।

अर्थ—वे सब असुरादिक भवनवासी देव काय-प्रवीचार से युक्त होते हैं तथा वेद-नोकषाय की उदीरणा होने पर वे मनुष्यो के समान कामसुख का अनुभव करते हैं ।।१३०।।

धादु-विहीणत्तादो, रेद- विणिग्गमणमत्थि ण हु ताणं ।
संकप्प - सुहं जायदि, वेदस्स उदीरणा - विगमे ।।१३१।।

१. ब मेडधारी। २. द. मसड्ढि। ३. द क ज. ठ. वसू। ४. द. ब. क. ज ठ. पडिचारा। ५ द. ब वेदसुदीरणयाए। ६ द ब क. ज ठ. माणस।

अर्थ—सप्त-धातुओ से रहित होने के कारण उन देवो के वीर्य का क्षरण नही होता। केवल वेद-नोकषाय की उदीरणा के शान्त होने पर उन्हे सकल्पसुख उत्पन्न होता है ॥१३१॥

इन्द्र-प्रतीन्द्रादिकों की छत्रादि-विभूतियाँ

बहुविह-परिवार-जुदा, देविंदा विविह-छत्त-पहुदीहिं ।
सोहंति विभूदीहिं, पडिइंदादी य चत्तारो ॥१३२॥

अर्थ—बहुत प्रकार के परिवार से युक्त इन्द्र और प्रतीन्द्रादिक चार (प्रतीन्द्र, त्रायस्त्रिंश, सामानिक और लोकपाल) देव भी विविध प्रकार की छत्रादिरूप विभूति से शोभायमान होते है ॥१३२॥

पडिइंदादि-चउण्हं, सिंहासण-आदवत्त-चमराणि ।
णिय-णिय-इंद-समाणि, आयारे होंति किंचूणा ॥१३३॥

अर्थ—प्रतीन्द्रादिक चार देवो के सिहासन, छत्र और चमर ये अपने-अपने इन्द्रों के सदृश होते हुए भी आकार मे कुछ कम होते हैं ॥१३३॥

इन्द्र-प्रतीन्द्रादिकों के चिह्न

सव्वेसिं इंदाण, चिण्हाणि तिरीटमेव मणि-खचिदं ।
पडिइंदादि-चउण्हं, चिण्ह मउडं मुणेदव्वा ॥१३४॥

अर्थ—सब इन्द्रो का चिह्न मणियो से खचित किरीट (तीन शिखर वाला मुकुट) है और प्रतीन्द्रादिक चार देवो का चिह्न (साधारण) मुकुट ही जानना चाहिए ॥१३४॥

ओलगशाला के आगे स्थित असुरादि कुलो के चिह्न-स्वरूप
वृक्षो का निर्देश

ओलगसाला-पुरदो, चेत्त-दुमा होंति विविह-रयणमया ।
असुर-प्पहुदि-कुलाणं, ते चिण्हाइं[1] इमा होंति ॥१३५॥

१. ब. क. ज ठ. चिण्हा इदमाहोंति ।

अस्सत्थ-सत्तपण्णा, संमलि-जंबू य वेवस-कडंबा ।
[1]तह पीयंगू सिरसा, पलास-रायद्दुमा कमसो ।।१३६।।

अर्थ—असुरकुमार आदि कुलों की ओलगशालाओं (परिचर्यागृहों) के आगे क्रमशः विविध प्रकार के रत्नों से निर्मित अश्वत्थ, सप्तपर्ण, शाल्मलि, जामुन, वेतस, कदम्ब, प्रियंगु, शिरीष, पलास और राज-द्रुम ये दस चैत्यवृक्ष उनके चिह्न स्वरूप होते हैं ।।१३५-१३६।।

(भवनवासी देवों के आहार एवं श्वासोच्छ्वास का अन्तराल तथा चैत्य-वृक्षादि का विवरण पृष्ठ ३०५ पर देखिये)

१. ब. क ज. ठ. तय ।

भवनवासी देवो के आहार एव श्वासोच्छ्वास का अन्तराल तथा चैत्य-वृक्षादि का विवरण गा० ११०-१३६								
कुलो के नाम	आहार का अन्तराल	श्वासोच्छ्वास का अन्तराल	शरीर का वर्ण	ऊर्ध्व रूप मे गति		संस्थान	प्रवीचार	चैत्य-वृक्ष
				स्ववश	परवश			
असुरकुमार	१००० वर्ष	१५ दिन	कृष्ण	स्व-आलम्बन से ईशान-स्वर्ग-पर्यन्त	परावलम्बन रूप से अच्युत-स्वर्ग-पर्यन्त	समचतुरस्र-संस्थान	कायप्रवीचार से युक्त	अश्वत्थ (पीपल)
नागकुमार	१२½ दिन	१२½ मु०	कालश्याम					सप्तपर्ण
सुपर्णकुमार	,,	,,	श्याम					शाल्मलि
द्वीपकुमार	,,	,,	श्याम					जामुन
उदधिकुमार	१२ दिन	१२ मु०	कालश्याम					वेतस
स्तनितकुमार	,,	,,	,,					कदम्ब
विद्युतकुमार	,,	,,	बिजलीवत्					प्रियगु
दिक्कुमार	७½ दिन	७½ मु०	श्यामल					शिरीष
अग्निकुमार	,,	,,	अग्निवत्					पलास
वायुकुमार	,,	,,	नीलकमल					राजद्रुम
इनके सामा०, त्राय०, पारिषद एव प्रतीन्द्र	स्व इन्द्रवत्	स्व इन्द्रवत्						
देव १००० वर्ष आयु वाले	२ दिन	७ श्वासो०						
देव १ पल्य की आयु वाले	५ दिन	५ मुहूर्त						

नोट—गाथाओ मे चमर-वैरोचन आदि इन्द्रो के आहार एव श्वासोच्छ्वास का अन्तराल कहा गया है। तालिका मे कुलो का जो अन्तराल दर्शाया है, वही उनके चमरादि इन्द्रो का समझना चाहिए।

चैत्यवृक्षों के मूल मे जिनप्रतिमाएँ एव उनके आगे मानस्तम्भो की स्थिति

चेत्त-दुमा-मूलेसुं, पत्तेक्कं चउ-दिसासु चेट्ठंते[1] ।
पंच जिणिंद-प्पडिमा, पलियंक-ठिदा परम-रम्मा ।।१३७।।

अर्थ—प्रत्येक चैत्यवृक्ष के मूल भाग में चारो ओर पल्यंकासन से स्थित परम रमणीय पाँच पाँच जिनेन्द्र-प्रतिमाएँ विराजमान है ।।१३७।।

पडिमाणं अग्गेसुं, रयणत्थंभा हवंति वीस फुडं[2] ।
पडिमा-पीढ-सरिच्छा, पीडा थंभाण णादव्वा ।।१३८।।

एक्केक्क-माणथंभे, अट्ठावीसं-जिणिंद-पडिमाओ ।
चउसु दिसासुं सिंहासणादि-विण्णास-जुत्ताओ ।।१३९।।

अर्थ—प्रतिमाओ के आगे रत्नमय बीस मानस्तम्भ होते हैं । स्तम्भो का पीठिकाएँ प्रतिमाओ की पीठिकाओ के सदृश जाननो चाहिए । एक-एक मानस्तम्भ के ऊपर चारो दिशाओं मे सिंहासन आदि के विन्यास से युक्त अट्ठाईस जिनेन्द्र-प्रतिमाएँ होती है ।।१३८-१३९।।

सेमाओ वण्णणाओ, चउ-वण-मज्झत्थ-चेत्ततरु-सरिसा[3] ।
छत्तादि - छत्त - पहुदी - जुदाण[4] जिणणाह - पडिमाणं ।।१४०।।

अर्थ—छत्र के ऊपर छत्र आदि से युक्त जिनेन्द्र-प्रतिमाओ का शेष वर्णन चार वनो के मध्य मे स्थित चैत्यवृक्षो के सदृश जानना चाहिए ।।१४०।।

चमरेन्द्रादिको मे परस्पर ईर्षाभाव

चमरिंदो सोहम्मे, ईसदि वइरोयणो य ईसाणे[5] ।
भूदाणंदे[6] वेणू, धरणाणदम्मि [7]वेणुधारि त्ति ।।१४१।।

एदे अट्ठ सुरिंदा, अण्णोण्णं बहुविहाओ भूदीओ ।
दट्ठूण मच्छरेणं, ईसंति सहावदो केई ।।१४२।।

।। इदविभवो[8] समत्तो[9] ।।

१ द चेट्ठता । २ द क. ज ठ. पुढं । ३. द ब सहस्सा । ४. द. ब. क. ज. ठ. जुदाणि । ५ ब. ईसाणो । ६ ब ईसाणदे । ७. ब. क वेणुदारि । ८. द. इदविभवे । ९ द. ब. समत्ता ।

अर्थ—चमरेन्द्र सौधर्म इन्द्र से, वैरोचन ईशान इन्द्र से, वेणु भूतानन्द से और वेणुधारी धरणानन्द से ईर्षा करता है। इस प्रकार ये आठ सुरेन्द्र परस्पर नानाप्रकार की विभूतियों को देखकर मात्सर्य से एवं कितने ही स्वभाव से ईर्षा करते हैं ।।१४१-१४२।।

।। इन्द्रों का वैभव समाप्त हुआ ।।

भवनवासियों की संख्या

संखातीदा सेढी, भावण-देवाण दस-विकप्पाणं ।
तीए पमाण सेढी, [1]बिदंगुल-पढम-मूल-हदा ।।१४३।।

।। सखा समत्ता ।।

अर्थ—दस भेदरूप भवनवासी देवों का प्रमाण असंख्यात-जगच्छ्रेणी रूप है, उसका प्रमाण घनांगुल के प्रथम वर्गमूल से गुणित जगच्छ्रेणी मात्र है ।।१४३।।

।। सख्या समाप्त हुई ।।

भवनवासियों की आयु

रयणाकरेक्क-उवमा, चमर-दुगे होदि आउ-परिमाणं ।
तिण्णि पलिदोवमाणि, भूदाणंदादि - जुगलम्मि ।।१४४।।

सा १ । प ३ ।।

वेणु-दुगे पंच-दलं, पुण्ण-वसिट्ठेसु दोण्णि पल्लाइं ।
जलपहुदि-सेसयाणं, दिवड्ढ-पल्लं तु पत्तेक्कं ।।१४५।।

। प $\frac{5}{2}$ । प २ । प $\frac{3}{2}$ । सेसे १२ ।

अर्थ—चमरेन्द्र एवं वैरोचन इन दो इन्द्रों की आयु का प्रमाण एक सागरोपम, भूतानन्द एवं धरणानन्द युगल की तीन पल्योपम, वेणु एवं वेणुधारी इन दो इन्द्रों की ढाई पल्योपम, पूर्ण एवं वशिष्ठ की दो पल्योपम तथा जलप्रभ आदि शेष बारह इन्द्रों में से प्रत्येक की आयु का प्रमाण डेढ़ पल्योपम है ।।१४४-१४५ ।।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. बिदगुणगार ।

अहवा उत्तर-इंदेसु, पुव्व-भणिदं हवेदि अदिरित्तं ।
पडिइंदादि-चउण्हं, आउ-पमाणाणि इंद-समं ।।१४६।।

अर्थ—अथवा—उत्तरेन्द्रो (वैरोचन, धरणानन्द आदि) की पूर्व मे जो आयु कही गयी है उससे कुछ अधिक होती है। प्रतीन्द्रादिक चार देवो की आयु का प्रमाण इन्द्रो के सदृश है ।।१४६।।

एक्क-पलिदोवमाऊ, सरीर-रक्खाण होदि चमरस्स ।
वइरोयणस्स[1] अहियं, भूदाणंदस्स कोडि-पुव्वाणि ।।१४७।।

प १ । प १ । पु को १ ।

अर्थ—चमरेन्द्र के शरीर-रक्षकों की एक पल्योपम, वैरोचन इन्द्र के शरीर-रक्षको की एक पल्योपम से अधिक और भूतानन्द के शरीर-रक्षकों की आयु एक पूर्वकोटि प्रमाण होती है ।।१४७।।

धरणिंदे अहियाणि, वच्छर-कोडी हवेदि वेणुस्स ।
तणुरक्खा - उवमाणं, अदिरित्तो वेणुधारिस्स ।।१४८।।

पु को १ । व को १ । व को १ ।

अर्थ—धरणानन्द में शरीर-रक्षकों की एक पूर्वकोटि से अधिक, वेणु के शरीर-रक्षको की एक करोड़ वर्ष और वेणुधारी के शरीर-रक्षकों की आयु एक कराड़ वर्ष से अधिक होती है ।।१४८।।

पत्तेक्कमेक्क-लक्खं, वासा आऊ सरीर-रक्खाणं ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, उत्तर-इंदम्मि अदिरित्ता ।।१४९।।

व १ ल । व १ ल ।

अर्थ—शेष दक्षिण इन्द्रो के शरीर-रक्षको मे से प्रत्येक की एक लाख वर्ष और उत्तरेन्द्रो के शरीर-रक्षको की आयु एक लाख वर्ष से अधिक होती है ।।१४९।।

अड्ढाइज्जा दोण्णि य, पल्लाणि दिवड्ढ-आउ-परिमाणं ।
आदिम-मज्झिम-बाहिर-तिप्परिस-सुराण चमरस्स ।।१५०।।

प $\frac{५}{२}$ । प २ । प $\frac{३}{२}$ ।

---

१. द. वयरोयणस्स ।

अर्थ—चमरेन्द्र के आदि, मध्यम और बाह्य, इन तीन पारिषद देवो की आयु का प्रमाण क्रमश. ढाई पल्योपम, दो पल्योपम और डेढ पल्योपम है ॥१५०॥

तिण्णि पलिदोवमाणि, अड्ढाइज्जा दुवे कमा होंदि ।
वइरोयणस्स आदिम - परिसप्पहुदीण जेट्ठाऊ ॥१५१॥

। प ३ । प $\frac{५}{२}$ । प २ ।

अर्थ—वैरोचन इन्द्र के आदिम आदिक पारिषद देवों की उत्कृष्ट आयु क्रमशः तीन पल्योपम, ढाई पल्योपम और दो पल्योपम है ॥१५१॥

[1]अट्ठं सोलस-बत्तीस-होंति पलिदोवमस्स भागाणि ।
भूदाणंदे अहिओ, धरणाणंदस्स परिस-तिद-आऊ ॥१५२॥

प $\frac{१}{८}$ । प $\frac{१}{१६}$ । प $\frac{१}{३२}$ ।

अर्थ—भूतानन्द के तीनों पारिषद देवो की आयु क्रमशः पल्योपम के आठवें, सोलहवें और बत्तीसवे–भाग प्रमाण, तथा धरणानन्द के तीनो पारिषद देवो की आयु इससे अधिक होती है ॥१५२॥

परिसत्तय-जेट्ठाऊ, तिय-दुग-एक्का य पुव्व-कोडीओ ।
वेणुस्स होदि कमसो, अदिरित्ता वेणुधारिस्स ॥१५३॥

पु को ३ । पु को २ । पु को १ ।

अर्थ - वेणु के तीनो पारिषद देवो की उत्कृष्ट आयु क्रमशः तीन, दो और एक पूर्व कोटि तथा वेणुधारी के तीनो पारिषदो की इससे अधिक है ॥१५३॥

तिप्परिसाणं आऊ, तिय-दुग-एक्काओ वास-कोडिओ ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, अदिरित्तं उत्तरिंदम्मि ॥१५४॥

व को ३ । व को २ । व को १ ।

अर्थ—शेष दक्षिण-इन्द्रों के तीनो पारिषद देवो की आयु क्रमशः तीन, दो और एक करोड़ वर्ष तथा उत्तर इन्द्रो के तीनों पारिषद देवों की आयु इससे अधिक है ॥१५४॥

---

१ ब क. अट्ठमोनस । ज. ठ. अट्ठंसोलस ।

एक्क-पलिदोवमाऊ, सेणाधीसाण होदि चमरस्स ।
वइरोयणस्स अहियं, भूदाणंदस्स कोडि-पुव्वाणि ॥१५५॥

प १ । प १ । पुव्व को १ ।

अर्थ—चमरेन्द्र के सेनापति देवों की आयु एक पल्योपम, वैरोचन के सेनापति देवो को इससे अधिक और भूतानन्द के सेनापति देवो की आयु एक पूर्व-कोटि है ॥१५५॥

धरणाणंदे अहियं, वच्छर-कोडी हवेदि वेणुस्स ।
[1]सेणा-महत्तराऊ, अविरित्ता[2] वेणुधारिस्स ॥१५६॥

पु० को० १ । व० को० १ । व० को० १ ।

अर्थ—धरणानन्द के सेनापति देवों की आयु एक पूर्वकोटि से अधिक, वेणु के सेनापति देवो की एक करोड वर्ष और वेणुधारी के सेनापति देवो की आयु एक करोड़ वर्ष से अधिक है ।।१५६॥

पत्तेक्कमेक्क-लक्खं, आऊ [3]सेणावईण णादव्वो ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, [4]अविरित्तं उत्तरिंदम्मि ॥१५७॥

व० १ ल । व १ ल ।

अर्थ शेष दक्षिणेन्द्रों में प्रत्येक सेनापति की आयु एक लाख वर्ष और उत्तरेन्द्रो के सेनापतियों की आयु इससे अधिक जाननी चाहिए ॥१५७॥

पलिदोवमद्धमाऊ, आरोहक-वाहणाण चमरस्स ।
वइरोयणस्स अहियं, भूदाणंदस्स कोडि-वरिसाइं ॥१५८॥

प $\frac{1}{2}$ । प $\frac{1}{2}$ । व को १ ।

अर्थ—चमरेन्द्र के आरोहक वाहनो की आयु अर्ध-पल्योपम, वैरोचन के आरोहक-वाहनो की अर्ध-पल्योपम से अधिक और भूतानन्द के आरोहक वाहनो की आयु एक करोड़ वर्ष होती है ॥१५८॥

१. द. ब. ज. ठ. सेसा । २. द. ब. क ज. ठ. अधिरित्ता । ३. द. सेण्णवईण । ४. ब. क. अधिरित्त. ज. ठ. अविरित्त ।

धरणाणंदे अहियं, वच्छर-लक्खं हवेदि वेणुस्स ।
आरोह वाहणाऊ[1] तु, अतिरित्तं वेणुधारिस्स[2] ।।१५९।।

। व० को १ । व १ ल । व १ ल ।

अर्थ—धरणानन्द के आरोहक वाहनों की आयु एक करोड वर्ष से अधिक, वेणु के आरोहक वाहनो की एक लाख वर्ष और वेणुधारी के आरोहक वाहनो की आयु एक लाख वर्ष से अधिक होती है ।।१५९।।

पत्तेक्कमद्ध-लक्खं, आरोहक-वाहणाण जेट्ठाऊ ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, अदिरित्तं उत्तरिंदम्मि ।।१६०।।

५००००

अर्थ—शेष दक्षिण इन्द्रो मे से प्रत्येक के आरोहक वाहनो की उत्कृष्ट आयु अर्ध लाख वर्ष और उत्तरेन्द्रो के आरोहक वाहनो की आयु इससे अधिक है ।।१६०।।

जेत्तियमेत्तं[3] आऊ, पइण्ण-अभियोग-किब्बिस-सुराणं ।
तप्परिमाण - परूवण - उवएसस्सप्पहि[4] पणट्ठो ।।१६१।।

अर्थ प्रकीर्णक, आभियोग्य और किल्विषिक देवो की जितनी-जितनी आयु होती है, उसके प्रमाण के प्ररूपण के उपदेश इस समय नष्ट हो चुके हैं ।।१६१।।

[भवनवासी-इन्द्रो की (सपरिवार) आयु के प्रमाण के विवरण की तालिका
पृष्ठ ३१२-३१३ पर देखिये]

१. ब वाहणाइ । २. क. ब. वेणुधारिस्स । ३. द. मेत्तयाऊ, ज. ठ मेत्तियाऊ । ४. द. ब. ज. ठ. उवएस ।

भवनवासी-इन्द्रों की (सपरिवार)

इन्द्रों के नाम	दक्षिणेन्द्र उत्तरेन्द्र	उत्कृष्ट आयु	प्रतीन्द्रों की	त्रायस्त्रिंश की	सामानिक देवों की	लोकपालों की	तनुरक्षक देवों की
चमर	द०	एक सागर					एक पल्य
वैरोचन	उ०	साधिक एक सा०					साधिक एक पल्य
भूतानन्द	द०	तीन पल्योपम					एक पूर्व कोटि
धरणानन्द	उ०	साधिक तीन पल्य					सा० एक पूर्व कोटि
वेणु	द०	२½ पल्य	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	स्व-इन्द्रवत्	एक करोड वर्ष
वेणुधारी	उ०	साधिक २½ प०					सा० एक करोड वर्ष
पूर्ण	द०	२ पल्योपम					एक लाख वर्ष
वशिष्ठ	उ०	साधिक २ पल्य					सा० एक लाख वर्ष
जलप्रभादि छह	द०	१½ पल्य					एक लाख वर्ष
जलकान्त आदि छह	उ०	साधिक १½ पल्य					साधिक एक लाख वर्ष

आयु के प्रमाण का विवरण				गाथा–१४३-१५६
पारिषद			अनीक देवों की	वाहन देवो की
आदि	मध्य	बाह्य		
२$\frac{1}{2}$ पल्योपम	२ पल्योपम	१$\frac{1}{2}$ पल्योपम	१ पल्य	$\frac{1}{2}$ पल्य
३ पल्योपम	२$\frac{1}{2}$ पल्योपम	२ पल्योपम	साधिक १ पल्य	साधिक $\frac{1}{2}$ पल्य
पल्य का $\frac{1}{8}$ भाग	पल्य का $\frac{1}{16}$ भाग	पल्य का $\frac{1}{32}$ भाग	१ पूर्वकोटि	१ करोड वर्ष
सा०पल्य का $\frac{1}{8}$ भाग	सा०पल्य का $\frac{1}{16}$ भाग	सा०पल्य का $\frac{1}{32}$ भाग	साधिक १ पूर्वकोटि	साधिक एक करोड वर्ष
३ पूर्वकोटि	२ पूर्वकोटि	१ पूर्वकोटि	१ करोड वर्ष	१ लाख वर्ष
सा० ३ पूर्वकोटि	सा० २ पूर्वकोटि	साधिक १ पूर्वकोटि	साधिक एक करोड वर्ष	साधिक १ लाख वर्ष
३ करोड वर्ष	२ करोड वर्ष	एक करोड वर्ष	१ लाख वर्ष	$\frac{1}{2}$ लाख वर्ष
सा० ३ करोड वर्ष	सा० २ करोड वर्ष	सा०एक करोड वर्ष	साधिक १ लाख वर्ष	साधिक $\frac{1}{2}$ लाख वर्ष
३ करोड वर्ष	२ करोड वर्ष	एक करोड वर्ष	१ लाख वर्ष	$\frac{1}{2}$ लाख वर्ष
साधिक ३ करोड वर्ष	सा० २ करोड वर्ष	सा०एक करोड वर्ष	सा० एक लाख वर्ष	साधिक $\frac{1}{2}$ लाख वर्ष

आयु की अपेक्षा भवनवासियों का सामर्थ्य

दस-वास-सहस्साऊ, जो देवो[1] माणुसाण सयमेक्कं ।
मारिदुमह-पोसेदुं, सो सक्कदि अप्प-सत्तीए ॥१६२॥

खेत्तं दिवड्ढ-सय-धणु-पमाण-आयाम-वास-बहलत्तं ।
बाहाहिं [2]वेढेदुं, [3]उप्पाडेदुं पि सो सक्को ॥१६३॥

द १५० ।

अर्थ—जो देव दस हजार वर्ष की आयुवाला है, वह अपनी शक्ति से एक सौ मनुष्यों को मारने अथवा पोसने में समर्थ है, तथा वह देव डेढ़ सौ धनुष प्रमाण लम्बे, चौड़े और मोटे क्षेत्र को बाहुओं से वेष्टित करने और उखाड़ने में भी समर्थ है ॥१६२-१६३॥

एक्क-पलिदोवमाऊ, उप्पाडेदु महीए छक्खंडं ।
तग्गद-णर-तिरियाणं, मारेदुं पोसिदुं सक्को ॥१६४॥

अर्थ—एक पल्योपम आयु वाला देव पृथिवी के छह खण्डों को उखाड़ने तथा वहाँ रहने वाले मनुष्य एवं तिर्यंचों को मारने अथवा पोसने में समर्थ है ॥१६४॥

उवहि-उवमाण-जीवी, जंबूदीवं [1]समग्गमुक्खलिदुं ।
तग्गद-णर-तिरियाणं, मारेदुं पोसिदुं सक्को ॥१६५॥

अर्थ—एक सागरोपम काल तक जीवित रहने वाला देव समग्र जम्बूद्वीप को उखाड़ फेंकने अर्थात् तहस-नहस करने और उसमें स्थित मनुष्य एवं तिर्यंचों को मारने अथवा पोसने के लिए समर्थ है ॥१६५॥

आयु की अपेक्षा भवनवासियों में विक्रिया

दस-वास-सहस्साऊ, सद-रूवाणि विगुव्वणं कुणदि ।
उक्कस्सम्मि जहण्णे, सग-रूवा मज्झिमे विविहा ॥१६६॥

१. ब. देवाउ । २. द. ज. ठ. वेदेदुं । ३. द. ब. ज. ठ. उप्पादेदुं ।
जबूदीवस्स उग्गमे ;

अर्थ—दस हजार वर्ष की आयु वाला देव उत्कृष्ट रूप से सौ, जघन्य रूप से सात और मध्यम रूप से विविध रूपों की विक्रिया करता है ।।१६६।।

अवसेस-सुरा सव्वे, णिय-णिय-ओही[1] पमाण-खेत्ताणि ।
[2]जेत्तियमेत्ताणि पुढ, पूरंति [3]विकुव्वणाए एदाइं ।।१६७।।

अर्थ—अपने-अपने अवधिज्ञान के क्षेत्रों का जितना प्रमाण है, उतने क्षेत्रों को शेष सब देव पृथक्-पृथक् विक्रिया से पूरित करते हैं ।।१६७।।

आयु की अपेक्षा गमनागमन-शक्ति

सखेज्जाऊ जस्स य, सो संखेज्जाणि जोयणाणि सुरो[4] ।
गच्छेदि एक्क-समए, आगच्छदि तेत्तियाणि पि ।।१६८।।

अर्थ—जिस देव की संख्यात वर्ष की आयु है, वह एक समय में संख्यात योजन जाता है और इतने ही योजन आता है ।।१६८।।

जस्स असंखेज्जाऊ, सो वि असंखेज्ज-जोयणाणि पुढं ।
गच्छेदि एक्क-समए, आगच्छदि तेत्तियाणि पि ।।१६९।।

अर्थ—तथा जिस देव की आयु असंख्यात वर्ष की है, वह एक समय में असंख्यात योजन जाता है और इतने ही योजन आता है ।।१६९।।

भवनवासिनी-देवियों की आयु

अड्ढाइज्जं पल्लं, आऊ देवीण होदि चमरम्मि ।
वइरोयणम्मि तिण्णि य, भूदाणंदम्मि पल्ल-अट्ठ सो ।।१७०।।

प $\frac{5}{2}$ । प ३ । प $\frac{1}{8}$ ।

अर्थ—चमरेन्द्र की देवियों की आयु ढाई पल्योपम, वैरोचन की देवियों की तीन पल्योपम और भूतानन्द की देवियों की आयु पल्योपम के आठवें भाग मात्र होती है ।।१७०।।

१. द ब क ज ठ उहइपमाण । २. ब. क ज. ठ. जिजत्तिय । ३. ब. विउव्वणाए । ४. द. ब. क. ज. ठ सुग ।

धरणाणंदे अहियं, वेणुम्मि हवेदि पुव्वकोडि-तियं ।
देवीण[1] आउसंखा, अदिरित्तं वेणुधारिस्स ॥१७१॥

प ⅛ । पु को ३ ।

अर्थ—धरणानन्द की देवियों की आयु पल्य के आठवें-भाग से अधिक, वेणु की देवियों की तीन पूर्वकोटि और वेणुधारी की देवियों की आयु तीन पूर्वकोटियों से अधिक है ॥१७१॥

पत्तेक्कमाउसखा, देवीणं तिण्णि वरिस-कोडीओ ।
सेसम्मि दक्खिणिंदे, अदिरित्तं उत्तरिंदम्मि ॥१७२॥

व को ३ ।

अर्थ—अवशिष्ट दक्षिण इन्द्रो मे से प्रत्येक की तीन करोड वर्ष और उत्तर इन्द्रो मे से प्रत्येक की देवियों की आयु इससे अधिक है ॥१७२॥

[2]पडिइंदादि-चउण्हं, आऊ देवीण होदि पत्तेक्कं ।
णिय-णिय-इंद-पविण्णद-देवी आउस्स सारिच्छो ॥१७३॥

अर्थ—प्रतीन्द्रादिक चार देवो की देवियो मे से प्रत्येक की अपने-अपने इन्द्रों की देवियों की कही गयी आयु के सदृश होती है ॥१७३॥

जेत्तियमेत्ता आऊ, सरीररक्खादियाण देवीणं ।
तस्स पमाण-णिरूवण-उवदेसो णत्थि काल-वसा ॥१७४॥

अर्थ- अंगरक्षक आदिक देवो की देवियो की जितनी आयु होती है, उसके प्रमाण के कथन का उपदेश काल के वश मे इस समय नही है ॥१७४॥

भवनवासियों की जघन्य-आयु

असुरादि-दस-कुलेसु, सव्व-णिगिट्ठाण[3] होदि देवाणं ।
दस-वास-सहस्साणि, जहण्ण-आउस्स परिमाणं ॥१७५॥

॥ आउ-परिमाण समत्तं[4] ॥

१ द ब. क ज. ठ अदेवीण । २ द ब. क. ज. पडिइदादि । ३. ब क. ज. ठ. णिगिट्ठाण । ४ द. ब. क. ज. ठ. सम्मत्ता ।

अर्थ—असुरकुमारादिक दस निकायों मे सर्व निकृष्ट देवों की जघन्य आयु का प्रमाण दस हजार वर्ष है ।।१७५।।

।। आयु का प्रमाण समाप्त हुआ ।।

भवनवासी देवों के शरीर का उत्सेध

असुराण पंचवीसं, सेस-सुराणं हवंति दस दंडा ।
एस सहाउच्छेहो, विक्किरियंगेसु बहुभेया ।।१७६।।

द २५ । द १० ।

।। उच्छेहो गदो[1] ।।

अर्थ- असुरकुमारो की पच्चीस धनुष और शेष देवो की ऊँचाई दस धनुष मात्र होती है, शरीर की यह ऊँचाई स्वाभाविक है किन्तु विक्रियानिर्मित शरीरो की ऊँचाई अनेक प्रकार की होती है ।।१७६।।

।। उत्सेध का कथन समाप्त हुआ ।।

ऊर्ध्वदिशा में उत्कृष्ट रूप से अवधिक्षेत्र का प्रमाण

णिय-णिय-भवन-ठिदाणं, उक्कस्से भवणवासि-देवाणं ।
उड्ढेण होदि णाणं, कंचणगिरि-सिहर-परियंतं ।।१७७।।

अर्थ—अपने-अपने भवन मे स्थित भवनवासी देवो का अवधिज्ञान ऊर्ध्वदिशा में उत्कृष्ट रूप से मेरुपर्वत के शिखर पर्यन्त क्षेत्र को विषय करता है ।।१७७।।

अध एवं तिर्यग्क्षेत्र में अवधिज्ञान का प्रमाण

[2]तट्ठाणादोधोधो, थोवत्थोवं पयट्टदे ओही ।
तिरिय-सरूवेण पुणो, बहुतर-खेत्तेसु अक्खलिदं ।।१७८।।

---

१. द. ठ गदा । २. द. तट्ठाणादो दोट्ठो, ब तट्ठाणादो ट्ठो, क. तट्ठाणादो, दो वो, ज. ठ. तट्ठाणादो ट्ठो धो ।

अर्थ—भवनवासी देवो का अवधिज्ञान अपने-अपने भवनो के नीचे-नीचे थोड़े-थोड़े क्षेत्र में प्रवृत्ति करता है परन्तु वही तिरछे रूप से बहुत अधिक क्षेत्र मे अबाधित प्रवृत्ति करता है ।।१७८।।

क्षेत्र एवं कालापेक्षा जघन्य अवधिज्ञान

पणुवीस जोयणाणिं, होदि जहण्णेण ओहि-परिमाणं ।
भावणवासि-सुराणं, एक्क-दिणब्भंतरे काले ।।१७६।।

यो २५ । का दि १ ।

अर्थ— भवनवासी देवो के अवधिज्ञान का प्रमाण जघन्य रूप से पच्चीस योजन है। पुन काल की अपेक्षा एक दिन के भीतर की वस्तु को विषय करता है ।।१७६।।

असुरकुमार-देवो के अवधिज्ञान का प्रमाण

असुराणामसंखेज्जा, जोयण-कोडीउ ओहि-परिमाणं ।
खेत्ते कालम्मि पुणो, होंति असंखेज्ज-वासाणि ।।१८०।।

रि । क् । जो । रि । व ।

अर्थ—असुरकुमार देवो के अवधिज्ञान का प्रमाण क्षत्र की अपेक्षा असख्यात करोड योजन और काल की अपेक्षा असख्यात वर्ष मात्र है ।।१८०।।

शेष देवो के अवधिज्ञान का प्रमाण

संखातीद-सहस्सा, उक्कस्से जोयणाणि सेसाणं ।
असुराणं कालादो, संखेज्ज-गुणेण हीणा य ।।१८१।।

अर्थ—शेष देवो के अवधिज्ञान का प्रमाण उत्कृष्ट रूप से क्षेत्र की अपेक्षा असख्यात हजार योजन और काल की अपेक्षा असुरकुमारो के अवधिज्ञान के काल से सख्यातगुणा कम है ।।१८१।।

अवधिक्षेत्र-प्रमाण विक्रिया

णिय-णिय-ओहीक्खेत्तं, णाणा-रूवाणि तह [1]विकुव्वंता ।
पूरंति असुर-पहुदी, भावण-देवा दस-वियप्पा ।।१८२।।

।। ओही गदा ।।

---

1. द क वकुव्वता, ज. ठ. वकुव्वती ।

अर्थ—असुरकुमारादि दस प्रकार के भवनवासी देव अनेक रूपों की विक्रिया करते हुए अपने-अपने अवधिज्ञान के क्षेत्र को पूरित करते है ॥१८२॥

॥ अवधिज्ञान का कथन समाप्त हुआ ॥

भवनवासी-देवों मे गुणस्थानादि का वर्णन

गुण-जीवा पज्जत्ती, पाणा सण्णा य मग्गणा कमसो ।
उवजोगा कहिदव्वा, एदाण कुमार - देवाणं ॥१८३॥

अर्थ---अब इन कुमार-देवो के क्रमश गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, सज्ञा आदि चौदह मार्गणा और उपयोग का कथन करना चाहिए ॥१८३॥

भवण सुराणं अवरे, दो [1]गुणठाणं च तम्मि चउसंखा ।
मिच्छाइट्ठी सासण-सम्मो मिस्सो विरदसम्मा ॥१८४॥

अर्थ—भवनवासी देवो के जघन्य से मिथ्यात्व तथा असयत सम्यक्त्व ये दो गुणस्थान होते हैं तथा उत्कृष्टत मिथ्यादृष्टि सासादन-सम्यक्त्व, मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि ये चार गुणस्थान होते है। (क्योकि सासादन सम्यक्त्व तथा सम्यग्मिथ्यात्व नामक गुणस्थान तो 'कभी तीन लोक मे किसी के भी नही हो, यह भी सम्भव है। तब उस अवस्था मे यहाँ जघन्यत' दो गुणस्थान मिथ्यात्व व असयत सम्यक्त्व ही होंगे।) ॥१८४॥

उपरिनन गुणस्थानो की विशुद्धि-विनाश के फल से भवनवासियो में उत्पत्ति

ताण अपच्चक्खाणावरणोदय-सहिद भवण-जीवाणं ।
विसयाणंद-जुदाणं, णाणाविह राग - पाराणं ॥१८५॥

देसविरदादि उवरिम, दसगुणठाणाण-हेदु भूदाओ ।
जाओ विसोहियाओ, कइया वि ण-ताओ जायंते ॥१८६॥

अर्थ –अप्रत्याख्यानावरण कषाय के उदय सहित, विषयो के आनन्द से युक्त, नानाप्रकार की राग-क्रियाओ मे निपुण उन भवनवासी जीवो के देशविरत-आदिक उपरितन दस गुणस्थानो के हेदु-भूत जो विशुद्ध परिणाम है, वे कदापि नही होते हैं ॥१८५-१८६॥

---

१. ब गुणट्ठाण चउ ।

जीवसमासा दो च्चिय, णिव्वित्तियपुण्ण-पुण्ण भेदेण ।
पज्जत्ती छच्चेव य, तेत्तियमेत्ता अपज्जत्ती ।।१८७।।

अर्थ--इन देवों के निर्वृत्त्यपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से दो जीवसमास, छह पर्याप्तियाँ और इतने मात्र ही अपर्याप्तियाँ होती है ।।१८७।।

पंच य इंदिय-पाणा, मण-वय-कायाणि आउ-आणपाणाइं ।
पज्जत्ते दस पाणा, इदरे मण-वयण-आणपाणूणा ।।१८८।।

अर्थ--पर्याप्त अवस्था मे पाँचो इन्द्रियप्राण, मन, वचन और काय, आयु एवं आनप्राण ये दस प्राण तथा अपर्याप्त अवस्था मे मन, वचन और श्वासोच्छ्वास से रहित शेष सात प्राण होते है ।।१८८।।

चउ सण्णा ताओ भय-मेहुण-आहार-गंथ-णामाणि ।
देवगदी पंचक्खा, तस - काया एक्करस-जोगा ।।१८९।।

चउ-मण-चउ-वयणाइं, वेगुव्व-दुग तहेव कम्म-इयं ।
पुरिसित्थी [1]वेद-जुदा, सयल - कसाएहिं परिपुण्णा ।।१९०।।

सव्वे छण्णाण-जुदा, मदि-सुद-णाणाणि ओहि-णाणं च ।
मदि-अण्णाणं तुरिमं, सुद-अण्णाणं विभंग-णाणं पि ।।१९१।।

सव्वे असजदा[2] ति-दंसण-जुत्ता अचक्खु-चक्खोही ।
लेस्सा किण्हा णीला, कउया पीता य [3]मज्झिमंस-जुदा ।।१९२।।

भव्वाभव्वा, [4]पंच हि, सम्मत्तेहिं समण्णिदा सव्वे ।
उवसम-वेदग-मिच्छा-सासण[5] - मिच्छाणि ते होंति ।।१९३।।

अर्थ--वे देव भय, मैथुन, आहार और परिग्रह नामवाली चारो सज्ञाओं से, देवगति, पचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय से चारों मनोयोग, चारो वचनयोग, दो वैक्रियिक (वैक्रियिक, वैक्रियिक-

---

१. द. ब. मङ्गणा, ज मङ्गणा, ठ. मदूणा । २. द ब क. ज. ठ असजदाइ-दसण-जुत्ता य चक्खु-अचक्खोही । ३ द. क. मज्झिमस्स-जुदा ब मज्झिमस-जुदा । ज. ठ. जिमम्मजुदा । ४ ब क ज ट. एव्व हि । ५. ब सामासण ।

मिश्र) तथा कार्मण इन ग्यारह योगों से, पुरुष और स्त्री वेदो से, सम्पूर्ण कषायों से परिपूर्ण, मति, श्रुत अवधि, मतिअज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंग, इन सभी छह ज्ञानो से, सब असंयम, अचक्षु, चक्षु एव अवधि इन तीन दर्शनो से, कृष्ण, नील, कापोत और पीत के मध्यम अशों से, भव्य एवं अभव्य तथा औपशमिक, वेदक, मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन पाँचो सम्यक्त्वो से समन्वित होते है ।।१८९-१९३।।

सण्णी[1] य भवणदेवा, हवंति आहारिणो अणाहारा ।
सायार-अणायारा, उवजोगा होंति सव्वाण ।।१९४।।

अर्थ—भवनवासी देव सज्ञी तथा आहारक और अनाहारक होते हैं, इन सब देवो के साकार (ज्ञान) और निराकार (दर्शन) ये दोनो ही उपयोग होते हैं ।।१९४।।

मज्झिम-विसोहि-सहिदा, उदयागद-सत्थ-[2]पगिदि-सत्तिगदा ।
एवं [3]गुणठाणादी, जुत्ता देवा व होंति देवीओ ।।१९५।।

।। गुणठाणादी समत्ता ।।

अर्थ—वे देव मध्यम विशुद्धि से सहित है और उदय मे आई हुई प्रशस्त प्रकृतियो की अनुभाग-शक्ति को प्राप्त है । इस प्रकार गुणस्थानादि से सयुक्त देवो के सदृश देवियाँ भी होती है ।।१९५।।

गुणस्थानादि का वर्णन समाप्त हुआ ।

एक समय मे उत्पत्ति एव मरण का प्रमाण

सेढी-असंखभागो, विदंगुल-पढम-वग्गमूल-हदो ।
भवणेसु एक्क-समए, जायंति मरंति तम्मेत्ता ।।१९६।।

।। जम्मण-मरण-जीवाण सखा समत्ता ।।

अर्थ—घनागुल के प्रथम वर्गमूल से गुणित जगच्छ्रेणी के असंख्यातवे-भाग प्रमाण जीव भवनवासियो मे एक समय मे उत्पन्न होते है और इतने ही मरते है ।।१९६।।

।। उत्पन्न होने वाले एव मरने वाले जीवो की सख्या समाप्त हुई ।।

१. द. ब. क. ज. ठ. सव्वे । २. द. ब क ज. ठ. परिदि । ३. द. ब. क. एव गुणठाणजुत्त देव वा होइ देवीओ । ज. ठ. एव गुणगणजुत्ता देवा वा होइ देवीओ ।

भवनवासियो की आगति निर्देश

णिक्कंता भवणावो, गब्भे [1]सम्मुच्छि कम्म-भूमीसु ।
पज्जत्ते उप्पज्जदि, णरेसु तिरिएसु मिच्छभाव-जुदा ।।१९७।।

अर्थ –मिथ्यात्वभाव से युक्त भवनवासी देव भवनो से निकल (चय) कर कर्मभूमियों मे गर्भज या सम्मूर्च्छनज तथा पर्याप्त मनुष्यो अथवा तिर्यञ्चो मे उत्पन्न होते है ।।१९७।।

सम्माइट्ठी देवा, णरेसु जम्मंति कम्म-भूमीए ।
गब्भे पज्जत्तेसुं, सलाग-पुरिसा ण होंति कइयाइ ।।१९८।।

अर्थ—सम्यग्दृष्टि भवनवासी देव (वहाँ से चयकर) कर्मभूमियो के गर्भज और पर्याप्त मनुष्यो मे उत्पन्न होते हैं, किन्तु वे शलाका-पुरुष कदापि नही होते ।।१९८।।

तेसिमणंतर-जम्मे, णिव्बुदि-गमणं हवेदि केसि पि ।
संजम-देसवदाइं, गेण्हते केइ भव-भीरू ।।१९९।।

।। आगमण गद ।।

अर्थ—उनमे से किन्ही के आगामी भव मे मोक्ष की भी प्राप्ति हो जाती है और कितने ही ससार मे भयभीत होकर सकल सयम अथवा देशव्रतो को ग्रहण कर लेते है ।।१९९।।

।। आगमन का कथन समाप्त हुआ ।।

भवनवासी-देवो की आयु के बन्ध-योग्य परिणाम

[2]अचलिद-संका केई,णाण-चरित्ते किलिट्ठ-भाव-जुदा ।
भवणामरेसु आउ, बंधंति हु मिच्छ-भाव-जुदा ।।२००।।

अर्थ—ज्ञान और चारित्र मे दृढ शका सहित, सक्लेश परिणामो वाले तथा मिथ्यात्व भाव से युक्त कोई (जीव) भवनवासी देवो सम्बन्धी आयु को बाँधते है ।।२००।।

सबल-चरित्ता केई, उम्मग्गंथा णिदाणगद-भावा ।
पावग-पहुदिम्हि मया, भावणवासीसु जम्मंते ।।२०१।।

---

१. द ब. क. ज. ठ सम्मुच्छ । २. द ब. क. आवलिदसका ।

अर्थ—शबल (दोष पूर्ण) चारित्र वाले, उन्मार्ग-गामी, निदान भावों से युक्त तथा पापों की प्रमुखता से सहित जीव भवनवासियो मे उत्पन्न होते हैं ॥२०१॥

अविणय-सत्ता केई, कामिणि-विरहज्जरेण जज्जरिदा ।
कलहपिया पाविट्ठा, जायंते [1]भवण-देवेसु ॥२०२॥

अर्थ—कामिनी के विरह रूपी ज्वर से जर्जरित, कलहप्रिय और पापिष्ठ कितने ही अविनयी जीव भवनवासी देवो मे उत्पन्न होते है ॥२०२॥

सण्णि-असण्णी जीवा, मिच्छा-भावेण संजुदा केई ।
[2]जायंति भावणेसुं, दंसण-सुद्धा ण कइया वि ॥२०३॥

अर्थ—मिथ्यात्व भाव से सयुक्त कितने ही सज्ञी और असंज्ञी जीव भवनवासियों में उत्पन्न होते है, परन्तु विशुद्ध सम्यग्दृष्टि (जीव) इन देवो मे कदापि उत्पन्न नही होते ॥२०२॥

देव-दुर्गतियो मे उत्पत्ति के कारण

मरणे विराहिदम्हि य, केई कंदप्प-किब्बिसा देवा ।
अभियोगा संमोह-प्पहुदी-सुर-दुग्गदीसु जायंते ॥२०४॥

अर्थ—(समाधि) मरण के विराधित करने पर कितने ही जीव कन्दर्प, किल्विष, आभियोग्य और सम्मोह आदि देव-दुर्गतियो मे उत्पन्न होते हैं ॥२०४॥

कन्दर्प-देवो मे उत्पत्ति के कारण

जे सच्च-वयण-होणा, [3]हस्सं कुव्वंति बहुजणे णियमा ।
कंदप्प - रत्त - हिदया, ते कदप्पेसु जायति ॥२०५॥

अर्थ—जो सत्यवचन से रहित हैं, बहुजन मे हँसी करते हैं और जिनका हृदय कामासक्त रहता है, वे निश्चय से कन्दर्प देवो मे उत्पन्न होते हैं ॥२०५॥

वाहन-देवों मे उत्पत्ति के कारण

जे भूदि-कम्म-मंताभिजोग - कोदूहलाइ - संजुत्ता ।
जण-वंचणे पयट्टा, वाहण-देवेसु ते होंति ॥२०६॥

१. द. भवणादिवेसु । २. द. जायते । ३. द ब. क. ज ठ. हिंसं ।

अर्थ– जो भूतिकर्म, मन्त्राभियोग और कौतूहलादि से संयुक्त हैं, तथा लोगों की वचना करने में प्रवृत्त रहते हैं, वे वाहन देवो मे उत्पन्न होते हैं ॥२०६॥

किल्विषिक-देवों में उत्पत्ति के कारण

तित्थयर-संघ-पडिमा-आगम-गंथादिएसु पडिकूला ।
दुव्विणया णिगदिल्ला, जायंते किब्बिस-सुरेसुं ॥२०७॥

अर्थ—तीर्थंकर, संघ, (जिन) प्रतिमा एवं आगम-ग्रन्थादिक के विषय मे प्रतिकूल, दुर्विनयी तथा प्रलाप करने वाले (जीव) किल्विषिक देवों मे उत्पन्न होते है ॥२०७॥

सम्मोह-देवो मे उत्पत्ति के कारण

उप्पह-उवएसयरा, विप्पडिवण्णा जिणिद-मग्गम्मि ।
मोहेणं संमूढा, सम्मोह-सुरेसु जायते ॥२०८॥

अर्थ—उत्पथ-कुमार्ग का उपदेश करने वाले, जिनेन्द्रोपदिष्ट मार्ग के विरोधी और मोह से मुग्ध जीव सम्मोह जाति के देवों मे उत्पन्न होते हैं ॥२०८॥

असुरो मे उत्पन्न होने के कारण

जे कोह-माण-माया-लोहासत्ता किलिट्ठ-चारित्ता ।
वइराणुबद्ध - रुचिणो, ते उप्पज्जंति असुरेसुं ॥२०९॥

अर्थ—जो क्रोध, मान, माया और लोभ मे आसक्त हैं; दुश्चारित्र वाले (क्रूराचारी) हैं तथा बैर-भाव मे रुचि रखते हैं, वे असुरो मे उत्पन्न होते हैं ॥२०९॥

उत्पत्ति एवं पर्याप्ति वर्णन

उप्पज्जते भवणे, उववादपुरे महारिहे सयणे ।
पावंति छ-पज्जत्तिं, जादा अंतो-मुहुत्तेण ॥२१०॥

अर्थ—(उक्त जीव) भवनवासियों के भवन के भीतर उपपादशाला मे बहुमूल्य शय्या पर उत्पन्न होते हैं और अन्तर्मुहूर्त मे ही छह पर्याप्तियां प्राप्त कर लेते हैं ॥२१०॥

सप्तादि-धातुओं का एवं रोमादि का निषेध

म्रट्ठि-सिरा-रुहिर-वसा-मुत्त-पुरीसाणि केस-लोमाइं ।
[1]चम्म-णह-मंस-पहुदी, ण होंति देवाण संघडणे ॥२११॥

म्रर्थ—देवो की शरीर रचना मे हड्डी, नस, रुधिर, चर्बी, मूत्र, मल, केश, रोम, चमड़ा, नख म्रौर मांस म्रादि नही होते हैं ॥२११॥

वण्ण-रस-गंध-फासे[2], म्रइसय-वेकुव्व-दिव्व-खंदा हि ।
णेदेसु[3] रोयवादि-उवठिदी कम्माणुभावेण ॥२१२॥

म्रर्थ—उन देवो के वर्ण, रस, गन्ध म्रौर स्पर्श के विषय में म्रतिशयता को प्राप्त वैक्रियिक दिव्य-स्कन्ध होते हैं, म्रत कर्म के प्रभाव से रोग म्रादि की उत्पत्ति नही होती है ॥२१२॥

भवनवासियो मे उत्पत्ति - समारोह

[4]उप्पण्णे सुर-भवणे, पुव्वमणुग्घाडिद कवाण-जुगं ।
उग्घडदि तम्मि समए, पसरदि म्राणंद-भेरि-रवो ॥२१३॥

म्रायण्णिय भेरि-रवं, ताणं पासम्हि कय जयंकारा ।
एंति परिवार-देवा, देवीम्रो पमोद-भरिदाम्रो ॥२१४॥

वायंता जयघंटा-पडह-पडा-किब्बिसा य गायंति ।
संगीय-णट्ट-मागध - देवा एदाण देवीम्रो ॥२१५॥

म्रर्थ सुरभवन में उत्पन्न होने पर पहिले म्रनुद्घाटित दोनों कपाट खुलते हैं म्रौर फिर उसी समय म्रानन्द भेरी का शब्द फैलता है। भेरी के शब्द को सुनकर पारिवारिक देव म्रौर देवियाँ हर्ष से परिपूर्ण हो जयकार करते हुए उन देवो के पास म्राते हैं। उस समय किल्विषिक देव जयघण्टा, पटह म्रौर पट बजाते हैं तथा संगीत एवं नाट्य मे चतुर मागध देव-देवियाँ गाते हैं ॥२१३-२१५॥

१. द ब क. चम्मह्, ज. ठ. पचमह्। २ द. क. ज. ठ. पासे। ३. गेण्हेसु रोयवादि-उवठिदि, क. ब. ठ. गेण्हेमु रोयवादि उवविदि। ४. द ब. क ज ठ. उप्पण्ण-सुर-विमाणे।

विभंगज्ञान उत्पत्ति

देवी-देव-समूहं, दट्ठूणं तस्स विम्हओ होदि ।
तक्काले उप्पज्जदि, विब्भंग थोव-पच्चक्खं ॥२१६॥

अर्थ - उन देव-देवियों के समूह को देखकर उस नवजात देव को आश्चर्य होता है तथा उसी समय उसे प्रत्यक्ष रूप अल्प-विभंग-ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ॥२१६॥

नवजात देवकृत पश्चाताप

माणुस्स-तेरिच्च-भवम्हि पुव्वे, लद्धो ण सम्मत्त-मणी[1] पुरूवं ।
तिलप्पमाणस्स सुहस्स कज्जे, चत्तं मए काम-विमोहिदेण ॥२१७॥

अर्थ-- मैंने पूर्वकाल में मनुष्य एवं तिर्यंच भव में सम्यक्त्वरूपी मणि को प्राप्त नहीं किया और यदि प्राप्त भी किया तो उसे काम से विमोहित होकर तिल प्रमाण अर्थात् किंचित् सुख के लिए छोड़ दिया ॥२१७॥

जिणोवदिट्ठागम-भासणिज्जं, देसव्वदं [2]गेण्हिय सोक्ख-हेदुं ।
मुक्कं मए दुव्विसयत्थमप्पस्सोक्खाणु-रत्तेण विचेदणेण ॥२१८॥

अर्थ—जिनोपदिष्ट आगम में कथित वास्तविक सुख के निमित्तभूत देशचारित्र को ग्रहण करके मेरे जैसे मूर्ख ने अल्प सुख में अनुरक्त होकर दुष्ट विषयों के लिए उसे छोड़ दिया ॥२१८॥

अणंत-[3]णाणादि-चउक्क-हेदुं, णिव्वाण-बीजं जिणणाह-लिंगं ।
पभूद-कालं धरिदूण चत्तं, मए मयंधेण वहू-णिमित्तं ॥२१९॥

अर्थ—अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय के कारणभूत और मुक्ति के बीजभूत जिनेन्द्रनाथ के लिंग (सकलचारित्र) को बहुत काल तक धारण करके मैंने मदान्ध होकर कामिनी के निमित्त छोड़ दिया ॥२१९॥

---

१ द. ब. क. ज. ठ. मण। २ द ब क. ज. ठ. गेण्हय। ३. द ब क. ज ठ. णाणाणि।

कोहेण लोहेण भयंकरेण, माया-पवंचेण[1] समच्छरेण ।
माणेण [2]वड्ढंत-महाविमोहो, मेल्लाविदोहं जिणणाह-लिंगं ॥२२०॥

अर्थ—भयकर क्रोध, लोभ और मात्सर्यभावसहित माया-प्रपच एव मान से वृद्धिगत अज्ञान-भाव को प्राप्त हुआ मैं जिनेन्द्र-लिग को छोडे रहा ॥२२०॥

एदेहि दोसेहि संकिलेहिं, कादूण णिव्वाण-फलम्हि विग्घ ।
तुच्छं फलं संपइ जादमेद, एवं मणे वड्ढिद तिव्व-दुक्खं ॥२२१॥

अर्थ—ऐसे दोषो तथा सक्लेशो के कारण निर्वाण के फल मे विघ्न डालकर मैंने यह तुच्छफल (देव पर्याय) प्राप्त कर तीव्र दुःखो को बढा लिया है, मैं ऐसा मानता हूँ ॥२२१॥

दुरंत-संसार-विणास-हेदुं, णिव्वाण-मग्गम्मि परं पदीवं ।
गेण्हंति सम्मत्तमणंत-सोक्ख, संपादिणं छंडिय-मिच्छ-भावं ॥२२२॥

अर्थ—(वे देव उसी समय) मिथ्यात्व भाव को छोडकर, तुरन्त ससार के विनाश के कारण-भूत, निर्वाण मार्ग मे परम प्रदीप, अनन्त सौख्य के सम्पादन करने वाले सम्यक्त्व को ग्रहण करते है ॥२२२॥

तादो देवी-णिवहो, आणंदेणं महाविभूदीए ।
सेसं भरंति ताणं, सम्मत्तग्गहण-तुट्ठाणं ॥२२३॥

अर्थ—तब महा विभूतिरूप आनन्द के द्वारा देवियो के समूह और शेष देव, उन देवों के सम्यक्त्व-ग्रहण से सतुष्टि को प्राप्त होते है ॥२२३॥

जिणपूजा-उज्जोगं, कुणंति केई महाविसोहीए ।
केई पुव्विल्लाणं, देवाण पबोहण-वसेण ॥२२४॥

अर्थ—कोई पहले से वहां उपस्थित, देवो के प्रबोधन वशीभूत हुए (परिणामो की) महा-विशुद्धिपूर्वक जिन-पूजा का उद्योग करते हैं ॥२२४॥

२. द ब क. ज. ठ वदत ।

पढमं दहण्हदाणं, तत्तो अभिसेय-मंडव गदाण ।
सिंहासणट्ठिदाणं, एदाण सुरा कुणंति अभिसेयं ॥२२५॥

अर्थ—सर्वप्रथम स्नान करके फिर अभिषेक-मण्डप के लिए जाने हुए (सद्योत्पन्न) देव को सहासन पर बिठाकर ये (अन्य) देव अभिषक करते है ॥२२५॥

भूसणसालं पविसिय, मउडादि विभूसणाणि दिव्वाइं ।
गेण्हिय विचित्त-वत्थ, देवा-कुव्वंति णेपत्थं ॥२२६॥

अर्थ—फिर आभूषणशाला मे प्रविष्ट होकर मुकुटादि दिव्य आभूषण ग्रहण करके अन्य देवगण अत्यन्त विचित्र (सुन्दर) वस्त्र लेकर उसका वस्त्र-विन्यास करते है ॥२२६॥

नवजात देव द्वारा जिनाभिषेक एव पूजन आदि

तत्तो ववसायपुरं[1], पविसिय पूजाभिसेय-जोग्गाइ ।
गहिदूण दव्वाइं, देवा-देवीहिं[2] संजुत्ता ॥२२७॥

णच्चिद-विचित्त-केदण-माला-वर-चमर-छत्त-सोहिल्ला ।
णिब्भर-भत्ति-पसण्णा, वच्चंते कूड-जिण-भवणं ॥२२८॥

अर्थ—पश्चात् स्नान आदि करके व्यवसायपुर मे प्रवेश कर पूजा और अभिषक के योग्य व्य लेकर देव-देवियो सहित झूलती हुई अद्भुत पताकाओ, मालाओ, उत्कृष्ट चमरो और छत्रो मे ाभायमान होकर प्रगाढ भक्ति मे प्रसन्न होते हुए वे नवजात देव कूटपर स्थित जिन-भवन को ाते है ॥२२७-२२८॥

पाविय जिण-पासादं, वर-मंगल-तूर रइवहलबोला ।
देवा देवी-सहिदा, कुव्वंति पदाहिणं णमिदा ॥२२९॥

अर्थ—उत्कृष्ट माङ्गलिक वाद्यो के रव से परिपूर्ण जिन-भवन को प्राप्त कर वे देव, देवियों साथ नमस्कार पूर्वक प्रदक्षिणा करते है ॥२२९॥

. द. क. तत्तो बसाय ।　२ द ब क. ज ठ देवेहिं ।

सीहासण - छत्त-तय - भामंडल - चामरादि - चारुम्रो ।
वट्ठूण जिणप्पडिमा, जय-जय-सद्दा पकुव्वंति ।।२३०।।

थोदूण थुदि-सएहिं, विचित्त-चित्तावलो णिबद्धेहिं ।
तत्तो जिणाभिसेए, भत्तीए कुणंति उज्जोगं ।।२३१।।

खीरोवहि जल-पूरिद, मणिमय-कुंभेहि म्रड-सहस्सेहिं ।
मंतुग्घोसणमुहला, जिणाभिसेयं पकुव्वंति ।।२३२।।

म्रर्थ—(जिनमन्दिर मे) सिंहासन, तीन छत्र, भामण्डल म्रौर चमर म्रादि (म्राठ प्राति-हार्यों) से सुशोभित जिनेन्द्र मूर्तियो का दर्शन कर जय-जय शब्द करते है, फिर विचित्र म्रर्थात् सुन्दर मनमोहक शब्दावली मे निबद्ध म्रनेक स्तोत्रो से स्तुति करके भक्ति सहित जिनेन्द्र भगवान का म्रभि-षेक करने का उद्योग करते हैं। क्षीरोदधि के जल से परिपूर्ण १००८ मणिमय घटो से मन्त्रोच्चारण पूर्वक जिनेन्द्र भगवान का म्रभिषेक करते है ।।२३०-२३२।।

पडु-पडह-संख-मद्दल-जयघंटा काहलादि वज्जेहिं ।
वाइज्जते हि सुरा, जिणिंद-पूजा पकुव्वंति ।।२३३।।

म्रर्थ—(पश्चात्) वे देव उत्तम पटह, शङ्ख, मृदङ्ग, जयघण्टा एवं काहलादि बाजों को बजाते हुए जिनेन्द्र भगवान की पूजा करते है ।।२३३।।

भिंगार- कलस- दप्पण- छत्तत्तय- चमर- पहुदि- दिव्वेहिं ।
पूजति [1]फलिय - दंडोवमाण - वर - वारि - धारेहिं ।।२३४।।

गोसीस - मलय - चंदण - कुंकुम - पंकेहि परिमलिल्लेहिं ।
मुत्ताफलुज्जलेहिं, सालीए तदुलेहिं [2]सयलेहिं ।।२३५।।

वर-विविह-कुसुम-माला-सएहिं दूरंग-मत्त-गंधेहिं ।
म्रमियादो महुरेहिं, णाणाविह-दिव्व-भक्खेहिं ।।२३६।।

१. द ब क. ज. ठ पलिह । २ द. सालेहिं ।

रयणुज्जल-दीवेहिं, सुगंध-धूवेहि मणहिरामेहिं ।
पक्केहि फणस-कदली-दाडिम-दक्खादि य फलेहिं ॥२३७॥

अर्थ—वे देव दिव्य झारी, कलश, दर्पण, तीन छत्र और चामरादि से, स्फटिक मणिमय दण्ड के तुल्य उत्तम जलधाराओं से, सुगन्धित गोशीर मलय-चन्दन और केशर के पङ्कों से, मोतियों के समान उज्ज्वल शालिधान्य के अखण्डित तन्दुलों से, दूर-दूर तक फैलने वाली मत्त गन्ध से युक्त उत्तमोत्तम विविध प्रकार की सैकडो फूलमालाओं से, अमृत से भी मधुर नाना प्रकार के दिव्य नैवेद्यों से, मन को अत्यन्त प्रिय लगने वाले रत्नमयी उज्ज्वल दीपकों से, सुगन्धित धूप से और पके हुए कटहल, केला, दाडिम एवं दाख आदि फलों से (जिनेन्द्रदेव की) पूजा करते हैं ॥२३४-२३७॥

पूजन के बाद नाटक

पूजाए अवसाणे, कुव्वंते णाडयाइ विविहाइं ।
पवरच्छराप - जुत्ता - बहुरस - भावाभिणेयाइं ॥२३८॥

अर्थ—(वे देव) पूजा के अन्त में उत्तम अप्सराओं सहित बहुत प्रकार के रस, भाव एवं अभिनय से युक्त विविध प्रकार के नाटक करते हैं ॥२३८॥

सम्यग्दृष्टि एवं मिथ्यादृष्टि देवों के पूजन-परिणाम में अन्तर

णिस्सेस-कम्मक्खवणेक्क[1]-हेदुं, मण्णतया तत्थ जिणिंद-पूजं ।
[2]सम्मत्त-जुत्ता विरयंति णिच्चं, देवा महाणंद-विसोहि-पुव्वं ॥२३९॥

[3]कुलाहिदेवा इव मण्णमाणा, पुराण-देवाण पबोहणेण ।
मिच्छा-जुदा ते य जिणिंद-पूजं, [4]भत्तीए णिच्चं णियमा कुणंति ॥२४०॥

अर्थ—अविरत-सम्यग्दृष्टि देव समस्त कर्मों के क्षय करने में एक अद्वितीय कारण समझकर नित्य ही महान् अनन्तगुणी विशुद्धिपूर्वक जिनेन्द्रदेव की पूजा करते हैं किन्तु मिथ्यादृष्टि देव पुराने

---

१ द ब क ज. ठ क्खवणक्कहेदु । २ द ब क ज ठ सम्मत्तविरय । ३ द ब कुलाइदेवा । क ज. ठ कुलाई देवाइ । ४ द क ज ठ भत्तीय ।

देवो के उपदेश से जिन प्रतिमाम्रो को कुलाधिदेवता मानकर नित्य ही नियम से भक्तिपूर्वक जिनेन्द्रार्चन करते हैं ।।२३९-२४०।।

जिनपूजा के पश्चात्

कादूण दिव्व-पूजं, श्रागच्छिय णिय-णियम्मि पासादे ।
सिंहासणाहिरूढा, [1]श्रोलग्गं देंति देवा णं ।।२४१।।

श्रर्थ—वे देव, दिव्य जिनपूजा करने के पश्चात् अपने-अपने भवन मे आकर ओलगशाला (परिचर्यागृह) मे सिंहासन पर विराजमान हो जाते है ।।२४१।।

भवनवासी देवों के सुखानुभव

विविह-रतिकरण-भाविद-विसुद्ध-बुद्धीहि दिव्व-रूवेहिं ।
णाणा - विकुव्वणं बहुविलास - संपत्ति - जुत्ताहिं ।।२४२।।

मायाचार-विवज्जिद-पयदि-पसण्णाहि श्रच्छराहि समं ।
णिय-णिय-विभूदि-जोग्गं, सकप्प-वसंगदं सोक्खं ।।२४३।।

पडु-पडह-प्पहुदीहिं, सत्त - सराभरण - महुर-गीदेहिं ।
वर-ललिद-णच्चणेहिं, देवा भुंजंति उवभोग ।।२४४।।

श्रर्थ—(पश्चात् वे देव) विविध रूप से रति के प्रकटी-करण मे चतुर, दिव्य रूपो से युक्त, नाना प्रकार की विक्रिया एव बहुत विलास-सम्पत्ति से सहित तथा मायाचार से रहित होकर स्वभाव से ही प्रसन्न रहने वाली अप्सराम्रो के साथ अपनी-अपनी विभूति के योग्य एव सकल्प मात्र से प्राप्त होने वाले सुख तथा उत्तम पटह आदि वादित्र, सप्त स्वरो से शोभायमान मधुर गीत तथा उत्कृष्ट सुन्दर नृत्य का उपभोग करते हैं ।।२४२-२४४।।

१. [श्रोलगसालम्मि]

ओहिं पि विजाणंतो, अण्णोण्णुप्पण्ण-पेम्म-मूढ-मणा ।
कामंधा ते सव्वे, गदं पि कालं ण जाणंति ।।२४५।।

अर्थ – अवधिज्ञान से जानते हुए भी परस्पर उत्पन्न प्रेम से मूढ मन वाले मानसिक विचारों से युक्त वे सब देव कामान्ध होकर बीते हुए समय को भी नहीं जानते हैं ।।२४५।।

वर-रयण-कंचणमये, विचित्त-सयलुज्जलम्मि पासादे ।
कालागरु - गंधड्ढे, राग - णिहाणे रमंति सुरा ।।२४६।।

अर्थ—वे देव उत्तम रत्न और स्वर्ण से विचित्र एवं सर्वत्र उज्ज्वल, कालागरु की सुगन्ध से व्याप्त तथा राग के स्थानभूत प्रासाद में रमण करते हैं ।।२४६।।

सयणाणि आसणाणिं, मउवाणि विचित्त-रूव रइदाणिं ।
तणु-मण- णयणाणंदण-जणणाणि होंति देवाणं ।।२४७।।

अर्थ- देवों के शयन और आसन मृदुल, विचित्र रूप से रचित तथा शरीर, मन एवं नेत्रों के लिए आनन्दोत्पादक होते हैं ।।२४७।।

पास-रस-रूव[1] - सद्धुणि-गंधेहिं वड्ढियाणि [2]सोक्खाणि ।
उवभुंजंता[3] देवा, तित्तिं ण लहंति णिमिसं पि ।।२४८।।

अर्थ— (वे देव) स्पर्श, रस, रूप, सुन्दर शब्द और गन्ध से वृद्धि को प्राप्त हुए सुखों का अनुभव करते हुए क्षणमात्र के लिए भी तृप्ति को प्राप्त नहीं होते हैं ।।२४८।।

१. द. क ज ठ. रूवबज्जूणि गधेहि, ब. रूववक्खूणि गधेहि । २. द. ब क. ज. ठ. सोज्झाणि । ३. द. ब. क. उवयजुत्ता । ज. ठ. उववयजुत्ता ।

दीवेसु णगिंदेसुं, भोग-खिदीए वि णंदण-वणेसुं ।
वर-पोक्खरिणी-पुलिणत्थलेसु कीडंति राएण ।।२४९।।

।। एवं [1]सुहप्परूवणा समत्ता ।।

अर्थ—(वे कुमार देव) राग से द्वीप, कुलाचल, भोगभूमि, नन्दनवन एवं उत्तम बावड़ी अथवा नदियों के तट-स्थानों में भी क्रीड़ा करते हैं ।।२४९।।

इस प्रकार देवों की सुख-प्ररूपणा का कथन समाप्त हुआ ।

सम्यक्त्वग्रहण के कारण

भवणेसु समुप्पण्णा, पज्जत्तिं पाविदूण छब्भेयं ।
जिण-महिम-दंसणेण, केई [2]देविद्धि-दंसणदो ।।२५०।।

जादीए सुमरणेणं, वर-धम्मप्पबोहणावलद्धीए ।
गेण्हंते सम्मत्तं, दुरंत-संसार-णासयरं ।।२५१।।

।। सम्मत्त-गहणं गदं ।।

अर्थ—भवनों में उत्पन्न होकर छह प्रकार की पर्याप्तियों को प्राप्त करने के पश्चात् कोई जिन-महिमा (पंचकल्याणकादि) के दर्शन से, कोई देवों की ऋद्धि के देखने से, कोई जातिस्मरण से और कितने ही देव उत्तम धर्मोपदेश की प्राप्ति से दुरन्त संसार को नष्ट करने वाले सम्यग्दर्शन को ग्रहण करते हैं ।।२५०-२५१।।

।। सम्यक्त्व-ग्रहण का कथन समाप्त हुआ ।।

---

१. द. ब. क. ज. ठ. सरूवप्प ।　२. द. ब. क. ज. ठ. देविंद ।

भवनवासियों मे उत्पत्ति के कारण

जे केइ अण्णाण-तवेहि जुत्ता, णाणाविहुप्पाडिद-देह-दुक्खा ।
घेत्तूण सण्णाण-तवं पि पावा, डज्झंति जे दुव्विसयापसत्ता ॥२५२॥

विसुद्ध-लेस्साहि सुराउ-बंधं, [1]काऊण कोहादिसु घाविदाऊ ।
सम्मत्त-संपत्ति-विमुक्क-बुद्धी, जायंति एदे भवणेसु सव्वे ॥२५३॥

अर्थ —जो कोई अज्ञान तप से युक्त होकर शरीर मे नाना प्रकार के कष्ट उत्पन्न करते हैं, तथा जो पापी सम्यग्ज्ञान से युक्त तप को ग्रहण करके भी दुष्ट विषयो मे आसक्त होकर जला करते है, वे सब विशुद्ध लेश्याओ से पूर्व मे देवायु बाँधकर पश्चात् क्रोधादि कषायो द्वारा उस आयु का घात करते हुए सम्यक्त्वरूप सम्पत्ति से मन हटाकर भवनवासियो मे उत्पन्न होते हैं ॥२५२-२५३॥

महाधिकारान्त मंगलाचरण

सण्णाण-रयण-दीवं, लोयालोयप्पयासण-समत्थं ।
पणमामि सुमइ-सामिं, सुमइकरं भव्व-संघस्स ॥२५४॥

एवमाइरिय-परंपरागय-तिलोयपण्णत्तीए भवणवासिय-लोय-सरूव-णिरूवणं पण्णत्ती णाम तदियो महाहियारो समत्तो ।

अर्थ—जिनका सम्यग्ज्ञान रूपी रत्नदीपक लोकालोक के प्रकाशन मे समर्थ है एव जो (चतुर्विध) भव्य सघ को सुमति देने वाले हैं, उन सुमतिनाथ स्वामी को मैं नमस्कार करता हूँ ॥२५४॥

इस प्रकार आचार्य-परम्परागत-त्रिलोक-प्रज्ञप्ति मे भवनवासी-लोकस्वरूप-निरूपण-प्रज्ञप्ति नामक तीसरा महाधिकार समाप्त हुआ ।

१. द. ब कोऊण

तिलोयपण्णत्ती : प्रथम खण्ड (प्रथम तीन महाधिकार)

गाथानुक्रमणिका

छ